॥ ओ३म् ॥

त्रैतवाद का उद्भव और विकास

[पी॰ एच-डी॰ उपाधि हेतु स्वीकृत प्रबन्ध]

लेखक :
डा॰ योगेन्द्र कुमार शास्त्री एम॰ ए॰, पी॰ एच-डी॰,
व्याकरण वाचस्पति, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न

आर्य समाज कलकत्ता

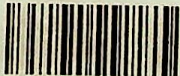
श्रीमान् अधिष्ठाता गुरुकुल विश्वविद्यालय
कांगड़ी "हरिद्वार"
सादर भेंट

त्रैतवाद का उद्भव और विकास

[पी० एच-डी० उपाधि हेतु स्वीकृत प्रबन्ध]



लेखक
डा० योगेन्द्र कुमार शास्त्री एम० ए०, पी० एच-डी०
व्याकरण वाचस्पति, विद्याभास्कर, साहित्यरत्न



आर्य समाज कलकत्ता

प्रकाशक :
श्री कृष्ण लाल खट्टर, एम० एड०, मंत्री
आर्य समाज कलकत्ता
१९, विधान सरणी, कलकत्ता-६

मूल्य २०) रुपये मात्र

मुद्रक :
युनाइटेड कमर्सियल प्रेस लि०
१, राजा गुरुदास स्ट्रीट, कलकत्ता-६
एवं
एसोसियेटेड आर्ट प्रिण्टर्स
७/२, बीडन रो, कलकत्ता-६

संकेत-सूची

अथर्व०	अथर्ववेद
उ०	उपनिषद्
ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
कठ०	कठोपनिषद्
छान्दोग्य०	छान्दोग्योपनिषद्
जै० आ० ब्रा०	जैमिनीय आरण्यक ब्राह्मण
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
ता० म० ब्रा०	ताण्ड्य महा ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द०	दर्शन
दि० आ०	दिवादि आत्मनेपद
दे० ब्रा०	देवताध्याय ब्राह्मण
पु०	पुराण
पृ०	पृष्ठ
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	मनुस्मृति
म० भा० शा० प०	महाभारत शान्ति पर्व
मुण्डक०	मुण्डकोपनिषद्
यजु०	यजुर्वेद
योग०	योगदर्शन
ऋ०	ऋग्वेद
वेदान्त०	वेदान्तदर्शन
वैशे०	वैशेषिक दर्शन
साम०	सामवेद
सिद्धान्त कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
शतपथ०	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
भा०	भाष्य
ले०	लेखक
कृ० य०	कृष्ण यजुर्वेदीय।

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

प्रकाशकीय



आर्य समाज कलकत्ता की विभिन्न प्रवृत्तियों में साहित्य-प्रकाशन द्वारा आर्य समाज के सिद्धान्तों को—वेदों पर आधारित सत्यासत्य विवेकपूर्ण धर्माचरणों को—प्रचारित प्रसारित करना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी उद्देश्य से 'आर्य संसार' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन होता है, पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं और आर्य संसार के विशेषांक स्वरूप अलभ्य एवं अत्यन्त उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन कर उसे पाठकों के लिए सुलभ किया जाता है।

इसी प्रकाशन-माला के अन्तर्गत इस वर्ष प्रस्तुत पुस्तक डा० योगेन्द्र कुमार शास्त्री द्वारा लिखित 'त्रैतवाद का उद्भव और विकास' आपलोगों के समक्ष उपस्थित की जा रही है। विद्वान् लेखन ने वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण-स्मृत्यादि, गीता, योग-न्याय-वैशेषिक दर्शन एवं दर्शन के वशिष्टि लेखकों के पुस्तकों का गहन अध्ययन कर बड़े सुन्दर एवं तथ्यपूर्ण रीति से 'त्रैतवाद' और उसके उद्भव और विकास वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया है। इसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं

आचार्य उमाकान्त जी उपाध्याय एम० एम० ने पुस्तक को सजाने-सँवारने एवं तत्परता पूर्वक मुद्रण कराने का कष्ट उठाया है, इसके लिए वे के धन्यवाद पात्र हैं।

इस मँहगाई के युग में प्रकाशन का व्ययभार वहन करने में समाज के कार्यकर्त्ताओं ने प्रदान किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है, सुधी पाठक इस पुस्तक से लाभ उठायेंगे।

कृष्णलाल खट्टर, एम० एड०, मंत्री
आर्य समाज कलकत्ता

॥ ओ३म् ॥

प्राक्कथन

अनादि काल से यह निखिल विश्व मानव जीवन के लिए एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है। इसीके रहस्यों की खोज के लिए अनेक ऋषियों, महर्षियों, विद्वानों और मनीषियों ने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। इस खोज के प्रमुख आधार चेतन और अचेतन तत्व हो रहे हैं। एक तरफ इन्हीं अन्वेषणों के आधार पर भौतिकवादी विज्ञान आश्चर्यजनक अन्वेषण कर रहा है। दूसरी तरफ अध्यात्मवादी विज्ञान की खोजें भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं हैं। अनेक दार्शनिक विचारधारायें मनुष्य के उर्वर मस्तिष्क की उपज हैं, उनमें परस्पर मतभेद का होना स्वाभाविक है। यह भी निश्चित है कि दार्शनिक क्षेत्र में जितनी गहन साधना भारतवर्ष में हुई है उतनी अन्यत्र नहीं हो सकी है। मननशील प्राणी मनुष्य के विचार-स्वातन्त्र्य का परिणाम ही दार्शनिक विचारों की भिन्नता का कारण होता है। विश्व के सभी दार्शनिकों में चिन्तन साम्य नहीं है। भारतवर्ष की दार्शनिक विचारधारायें भी परस्पर के खण्डन मण्डन में प्रवृत्त रही हैं। पुनरपि यह तथ्य तो निर्विवाद है कि सम्पूर्ण विश्व के अन्वेषकों के चिन्तनाधार ईश्वर, जीवात्मा या जड़ तत्व ही रहे हैं।

मेरी जिज्ञासु प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही इन रहस्यों के विषय में चिन्तनोन्मुख रही है और इसी प्रवृत्ति ने दार्शनिक विचारधाराओं के तुलनात्मक अध्ययन की तरफ मुझे प्रवृत्त किया है। मैं अभी भी एक विद्यार्थी हूँ और जीवन भर विद्यार्थी बने रहने की ही प्रबल इच्छा है। इस ज्ञान की यात्रा में मैं अभी से क्या कहूँ कि क्या सही है क्या सही नहीं है। परन्तु इतना कह सकता हूँ कि इन तत्वों की खोज में मुझे स्वान्तः सुख और आत्मसन्तुष्टि अवश्य मिली है। श्रुति व्यसन-परितृप्ति के निमित्त ही मैंने अपने शोध का विषय 'त्रैतवाद' रखा। उस पर भी इसके उद्भव और विकास का अन्वेषण असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य था, क्योंकि इस विषय से सम्बन्धित विशाल साहित्य का एकत्र न मिलना ही सबसे अधिक कठिन कार्य था। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराण, स्मृति, षड्दर्शनादि जो दार्शनिक मूल स्रोत ग्रन्थ हैं उन सभी में एक अविच्छिन्न दार्शनिक परम्परा का समन्वयात्मक दृष्टिकोण विद्यमान है। उसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण को इस शोध प्रबन्ध में दिखाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। उस समन्वय के आधारभूत तत्व ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनों ही प्रमुख रूप से रहे हैं। त्रैतदर्शन के भी ये तीनों ही आधार तत्व हैं। इस शोध प्रबन्ध में त्रैतदर्शन की विचारधारा का वेदों से उद्भव बतलाकर षड्दर्शनों तक मूलस्रोत ग्रन्थों की त्रैतवाद सम्बन्धी कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया गया है। इन सभी मूलग्रन्थों में से प्रामाणिक मूल स्थलों का उल्लेख तथा तत्सम्बन्धी भाष्यों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके इसके विकास-क्रम की श्रृंखला तैयार की गई है। तदनन्तर सं १६३६ से लेकर २०३३ तक के त्रैतवादी आचार्य और

विद्वानों का क्रमिक परिचय और उनके कार्य का मूल्यांकन देकर त्रैतदर्शन के विकासक्रम का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और अन्त में अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ त्रैतदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करके इस दर्शन के वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया गया है। सबसे अन्त में इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा के हेतु प्रस्तुत करके शोधप्रबन्ध का उपसंहार किया गया है।

निःसन्देह इस नीरस दार्शनिक विषय सम्बन्धी शोध कार्य में मुझे पर्याप्त ज्ञानानन्द की प्राप्ति होती है, जिसके कारण ही यह कार्य पूर्ण हो सका है। उसमें भी ईश्वर की अनुकम्पा सर्वोपरि सम्बल रही है।

इस विषय पर शोध कार्य करने की मेरी मानसिक इच्छा की पूर्ति में यदि श्रद्धेया डा० वेद कुमारी जी अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की प्रेरणा और पूर्ण योगदान न मिलता तो यह इच्छा एक स्वप्न बन कर रह जाती। उन्होंने ही इस विषय की प्रेरणा को बल दिया तथा उन्हीं के सुयोग्य निर्देशन में यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सकता है। मैं उनका हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

मान्यवर डा० राम प्रताप जी, प्रवक्ता संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय ने समय समय पर जहाँ मुझे प्रोत्साहित किया है वहाँ उन्होंने अपना अमूल्य समय भी देकर इस शोध प्रबन्ध के रूपनिर्माण में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, मैं उनका भी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

राजकीय रणवीर सिंह संस्कृत पुस्तकालय, जम्मू, संस्कृत विभागीय पुस्तकालय, जम्मू विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, श्रद्धानन्द अनुसन्धान पुस्तकालय आर्य समाज जोरबाग, नई दिल्ली, रणवीर सिंह अनुसन्धान पुस्तकालय रघुनाथ मन्दिर जम्मू, श्री विश्वेश्वरानन्द अनुसन्धान पुस्तकालय होशियारपुर, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द पुस्तकालय दयानन्द मठ दीनानगर, आर्य पुस्तकालय सार्वदेशिक सभा नई दिल्ली, आर्य पुस्तकालय हनुमान रोड, आर्य समाज, नई दिल्ली, आर्य पुस्तकालय, आर्य समाज दयानन्द मार्ग, जम्मू आदि पुस्तकालयों के अधिकारी, प्रबन्धक और कर्मचारियों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनके कारण मुझे पुस्तकों की सुविधा सुलभ हो सकी।

मैं उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों से इस शोध प्रबन्ध के निर्माण में सहायता मिली है। शोध प्रबन्ध को टाईप करने का प्रशंसनीय सहयोग देने के लिए श्री ज्योति शर्मा, जम्मू का भी मैं हृदय से धन्यवादी हूँ।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन असम्भव सा हो रहा था। आर्य समाज कलकत्ता, इसके आचार्य श्री उमाकान्त उपाध्याय, प्रधान श्री सीताराम आर्य, मन्त्री श्री कृष्णलाल खट्टर एवं सभी सदस्यों का कोटिशः धन्यवाद है। इन्होंने सिद्धान्त प्रेम के कारण इतना व्ययसाध्य कार्य सम्भव कर दिया है। मैं इन सबका हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

योगेन्द्र कुमार शास्त्री

जम्मू

मार्च १९८२ ई०

आर्य समाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशित

अनुपम * सर्वजनोपयोगी

प्रसिद्ध विद्वानों के १६ उत्कृष्ट निबन्धों का संग्रह

स्वतंत्रता संग्राम में आर्य समाज की देन

* आर्य समाज द्वारा स्वतंत्रता संग्राम के लिए राष्ट्रीय चेतना का बीज वपन
* आर्य समाजियों द्वारा राष्ट्रवेदी पर बलिदान
* आर्य समाज द्वारा जनजागरण

सम्पादक—प्रो० उमाकान्त उपाध्याय एम० ए०

बढ़िया कागज, सुन्दर छपाई, जिल्द बन्धाई फिर भी मूल्य १५) लागत मात्र

सुधी पाठक, संस्थायें एवं पुस्तक विक्रेता सम्पर्क स्थापित करें :—

आर्य समाज कलकत्ता

१६, विधान सरणी, कलकत्ता—६

प्रथमाध्याय

विषय प्रवेश

विषय प्रवेश

१—मानव और दार्शनिक चिन्तन

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। जब यह किसी भी पदार्थ को देखता है तब उसके विषय में मनन[1] भी करना प्रारम्भ कर देता है। यही मनन की प्रवृत्ति मनुष्यता की परिचायक है अन्यथा मनुष्य भी उस पशु के समान है जो केवल देखता है और विषय में बिना सोचे प्रवृत्त हो जाता है।

जब मनुष्य ने सृष्टि के आदि में आँखें खोली होंगी तब उसने अपने आसपास अन्य चेतन जगत् को तथा अचेतन जगत् को देखा होगा, वहीं से उसमें जिज्ञासावृत्ति का जागरण हुआ होगा। प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद उसकी प्रवृत्ति अनुमान की तरफ अग्रसर हुई होगी। यह जगत् क्या है? मैं कौन हूँ? जगत् का रचयिता कौन है? ये प्रश्न सहसा उसके मस्तिष्क में उठे होंगे। इन्हीं प्रश्नों ने मनुष्य में दार्शिनिक चिन्तन को जन्म दिया।

दर्शन का अर्थ है देखना[2] अर्थात् किसी तत्व को यथार्थ रूप में देखना तदन्तर तत्सम्बन्धी सिद्धान्त का निर्धारण करना दार्शनिक का ध्येय होता है। सर्वप्रथम हम स्थूल जगत् को ही प्रत्यक्ष देखते हैं और उसी का ज्ञान करते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को ही इन्द्रियजन्य ज्ञान माना जाता है।[3] अतीन्द्रिय तत्वों का ज्ञान अनुमान से होता है। ईश्वर, जीवात्मा, और प्रकृति ये तीनों ही अतीन्द्रिय तत्व हैं।

इस कार्य जगत् को देखकर अधिकांश दार्शनिकों ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है।[4] इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रथम कार्य को देखकर मूल उपादान कारण का अनुमान किया

१—मनुष्याः कस्मात् मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। निरुक्त ३।८।२

२—प्रो० उमा शंकर-सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २६

३ — इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकंप्रत्यक्षम् ॥ न्याय० १।४

४—नावस्तुनो वस्तु सिद्धिः। सांख्य० १।४३

न्याय० ३।२।१७ वात्स्यायन भाष्य, पृ० २८९।

वैशे० १।२।१।

गया और यह निश्चय किया गया कि इस अचेतन कार्य जगत् का मूल उपादान कारण भी अचेतन ही होगा क्योंकि कार्य में कारण के ही गुण समन्वित रहते हैं।[1] वह मूल उपादान कारण नित्य तथा अन्य उपादान कारण से अनुत्पन्न होना चाहिए अन्यथा कारणों की असीम परम्परा से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतः मूल कारण अमूल ही होता है।[2] वह मूल उपादान कारण अचेतन होने से अविवेक और पराधीन तथा नित्य होता है।[3]

इस प्रकार के ज्ञान के उपरान्त मानव ने चिन्तन का विषय स्वयं को बनाया। मैं कौन हूँ? इस विषय में अनेक प्रश्नों ने जन्म ले लिया। क्या यह शरीर ही चेतन तत्व है या शरीर और चेतन तत्व पृथक् पृथक् अस्तित्व रखते हैं।[4] यह चेतन तत्व क्या है?[5] उत्तर भी मिला यह अमृत तत्व है।[6] छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र और विरोचन के कथानक में विरोचन देहात्मवादियों का प्रतिनिधि है। इन्द्र देहातिरिक्त आत्मवादियों का प्रतिनिधि है, इन्द्र प्रजापति से प्रश्न करता है—'यदि शरीर मैं हूँ तब तो शरीर के नष्ट हो जाने पर 'मैं' भी नष्ट हो जाऊँगा[7], जब मैं यह कहता हूँ कि मेरा शरीर तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा कहने वाला इस शरीर का अभिमानी तत्व कोई और है तथा शरीर उससे भिन्न है। आगे चलकर दार्शनिकों ने यह तथ्य जाना कि अचेतन शरीर में सुख-दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान किसी देहाभिमानी चेतन सत्ता के कारण ही हैं।[8] और यह चेतन (जीवात्मा) शरीर से भिन्न तत्व है।[9] शरीर और जीवात्मा का भेद स्पष्ट करने के लिए ही जीवात्मा को 'शरीरः[10], शरीरी[11], देही[12], आदि शब्दों से अभिहित किया गया।

मानव मस्तिष्क में तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा कि मेरे और प्रकृति के मध्य वह कौन सी शक्ति है जिसके नियमों में हम बंधे हुए चल रहे हैं। हमारे न चाहने पर भी मृत्यु हमें अपना ग्रास बना लेती है। न चाहने पर भी जवानी, वृद्धावस्था में परिणत हो जाती है। सृष्टि के ये सूर्य चन्द्रादि नक्षत्र किसने बनाये हैं तथा कौन इनका नियामक

१—कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्य। सांख्यकारिका १४

२—मूलेमूलाभावादमूलंमूलम्। सांख्यः १।३२।

३ ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका, १०॥

४—येयंप्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। कठ० उ० १।२०।

५—कोऽसि। यजु० ७।२९।

६—अमर्त्यः, बृ० १।१६४।३८।

७—शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि। छन्दोग्यः० ८।९।२।

८—न्याय० १।१।१०।

९—शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान्। सांख्य द० १।१०४।

१०—वेदान्त १।२।३।

११—गीता० २।१८।

१२—वहीं २।१३,३०।

और व्यवस्थापक है ? जबकि मैं नहीं जानता इस सृष्टि का कितना विराट् रूप है, इसका कहाँ और छोर है ? तब यह सब कुछ कौन जानता है ? इस जड़ जगत् का कर्ता जब मैं नहीं तो क्या यह जगत् स्वयं बन गया ? इन अचेतन तत्वों में प्रथम गति कैसे उत्पन्न हुई ? उपादान कारण से तभी कार्य बनता है जब कि उसका कोई निमित कारण होता है। मनुष्य कृत वस्तुएँ सिद्ध कोटि में आती हैं, उन वस्तुओं को देखकर कर्त्ता का ज्ञान होता है। घड़ी को देखकर हम यह निश्चय करते हैं कि इसका बनाने वाला कोई है, क्योंकि घड़ी के ये बेजान पुर्जे स्वयं न तो बने हैं और न स्वयं ही व्यवस्थित रूप में जुड़ गये हैं, इनका निर्माता, नियामक और व्यवस्थापक कोई चेतन प्राणी है। उसी प्रकार जिन वस्तुओं को मनुष्य नहीं बनाता वे सभी पदार्थ जो साध्य कोटि में आते हैं, जैसे नदी, पर्वत, सूर्य, नक्षत्र, भूगोल इत्यादि, उन्हें किसने बनाया ? इनका नियामक और व्यवस्थापक कौन है ? परमाणु बेजान होने से स्वयं सृष्टि के निर्माण में सफल नहीं हो सकते तो फिर इस सृष्टि का कर्ता कौन है ?[१] जिज्ञासा रूप में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ और व्यक्ति कहने लगा जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है उसे तुमने धारण किया कि नहीं ? जो इसका अध्यक्ष है उसे तुमने जाना कि नहीं ?[२] तदन्तर उस अदृष्ट शक्ति के प्रति विश्वास जाग उठा और उत्तर मिला 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः'।[३] अर्थात् इस द्युलोक और पृथ्वीलोक को एक दिव्य शक्ति उत्पन्न करती है। ज्ञानी कह उठा —'मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ।[४] न जानने वाले से उसने प्रश्न किया, क्या तू उसे नहीं जानता जिसने यह सृष्टि पैदा की है अरे ! वह शक्ति तो तुम्हारे भीतर भी है परन्तु तुम्हारी जीवात्मा से वह भिन्न है।[५] उसी एक शक्ति को विद्वान लोग बहुत नामों से कहते हैं।[६] वही इस सृष्टि का ऐसे ही निमित कारण है जैसे लुहार लोहे की वस्तुओं को बनाने में निमित कारण है।[७] जब व्यक्ति को उस ईश्वर का ज्ञान हुआ तब उसने कह दिया कि —'हे सब में बसने वाले प्रभो ! तुम्हीं हमारे पिता हो[८], बन्धु हो।[९]

इस प्रकार इस जगत् की पूर्णता ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के रूप में देखी गई। दार्शनिक क्षेत्र में आगे चलकर इनमें से एक एक विषय पर विशेष अन्वेषण हुए। किसी ने चेतन तत्व को स्वरूप वर्णन में अधिक समय

---

१ कुत इयं विसृष्टिः। ऋ० १०।१३०।६।

२ इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वादधे यदिवा न।
यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

ऋ० १०।१३०।७

३—ऋ० १०।८१।३।

४—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। यजु० ३१।१८।

५—न तं विदाथ य इमा जजानात्ययुष्माकमन्तरं बभूव॥ ऋ० १०।८२।७।

६—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। पृ० १।१६४।४६।

७—ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। ऋ० १०।७२।२।

८—त्वं हि नः पिता वसोः। साम० उत्त० ८।२।

९—सनो बन्धुः। यजु० ३२।१०॥

लगाया, किसी ने अचेतन तत्व की खोज में जीवन अर्पित किया। तथा किसी ने एक साथ तीनों तत्वों का विवेचन किया। किसी ने आध्यात्मिक दर्शन को प्रधानता दी और किसी ने भौतिक दर्शन को। इसी प्रकार के मौलिक विचारों से ही दर्शन साहित्य पुष्पित और पल्लवित हुआ।

२— विश्व की दार्शनिक मान्यताएँ

विश्व की दार्शनिक मान्यताएं एक जैसी न होते हुए भी एक जैसे विषयों से सम्बन्ध रखती हैं। पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन अनेक वादों में विभक्त हैं परन्तु उन सब के चिन्तन के मुख्य विषय यह भौतिक जगत्, जीवात्मा और परमात्मा ही रहे हैं। विश्वदर्शन को निम्नलिखित समूहों में विभक्त किया जा सकता है—

१—वे दार्शनिक जो केवल भौतिक जगत् को स्वीकार करते हैं। किसी भी चेतन सत्ता को इससे भिन्न स्वतन्त्र या नित्य सत्ता के रूप में वे स्वीकार नहीं करते। प्राचीन युनानी दर्शन को छोड़कर, जिस पर भारतीय वैदिक दर्शनों का अधिक प्रभाव था, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन जो आज पाश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है जिसको हेगेल और कार्लमार्क्स जैसे आधिभौतिक तत्वज्ञों ने पल्लवित व पुष्पित किया है इसी विचारधारा का पोषक है।[1]

२—एक समुदाय ऐसा है जो जीवात्मा को और इस भौतिक जगत को ही स्वीकार करता है। सृष्टि कर्ता के रूप में या जीवों के कर्मफल को देने वाले परमात्मा के रूप में किसी अन्य शक्ति को नहीं मानता। जैनादि दर्शन इसी समुदाय में आते हैं।[2]

३—एक समुदाय ऐसा भी है जो ब्रह्म को अनादि मानता है परन्तु ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। उनके मत में जीवात्मा ब्रह्म का ही व्यष्टि अज्ञान से आवृत्त एक सोपाधिक रूप है।[3] अद्वैतवादियों की यही मान्यता है।

४—एक समुदाय ऐसा भी है जो इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति भावरूप तत्व प्रकृति से मानता है। क्योंकि यह प्रकृति अचेतन है अतः इसमें गति उत्पन्न करने वाली तथा इसे नियम और व्यवस्था में रखने वाली कोई सर्वशक्तिमान शक्ति भी है। उसे ही ईश्वरादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। तीसरा तत्व जीवात्मा है जो कि प्राकृतिक विषयों का भोक्ता है। ये तीनों तत्व अनादि और नित्य हैं। इसे ही त्रैतवादी विचारधारा कहा जाता है। उपर्युक्त दार्शनिक समुदायों में त्रैतवाद के किसी न किसी एक तत्त्व को अवश्य स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि त्रैतवाद प्रतिपादित तत्व ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति संसार में किसी न किसी रूपमें माने ही जा रहे हैं।

१—उदयवीर शास्त्री—सांख्यसिद्धान्त, पृ० ३।

२—वहीं, पृ० २।

३—इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्वप्रधाना एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणयुक्ताप्राज्ञ-इत्युच्यते॥ सदानन्द—वेदान्त सार पृ १६।

भारतीय दर्शन के अतिरिक्त कुछ विदेशी दार्शनिकों में भी ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों चर्चा के विषय रहे हैं। इस्लामी दार्शनिक बू - अली सीना (९८०-१०३७ ई०) के विषय में प्रसिद्ध दार्शनिक राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—'सीना प्रकृति को ईश्वर से उत्पन्न नहीं मानता था (ईश्वर का परिणाम नहीं मानता था) उसके विचार में ईश्वर एक ऊँची हस्ती है जिसे प्रकृति के रूप में परिणत हुआ मानना उसे खींच कर नीचे लाना है। उसी तरह वह जीव को भी ईश्वर से नीचे किन्तु प्रकृति से ऊपर तत्व मानता है। उसके मत में ईश्वर जो सृष्टि करता है उसका अर्थ यह है कि कर्ता (भगवान्) अनादि (अकृत) प्रकृति को साकार रूप देता है।[1] स्पेन के दार्शनिक इब्न-बाजा (११३८ ई०) के विषय में लिखते हैं—"बाजा के अनुसार जगत् में दो प्रकार के तत्व हैं, एक वह जो गति युक्त है, वह पिंड (जड़) और परिच्छिन्न (सीमित) होता है। परिच्छिन्न शरीर होने के कारण वह स्वयं अपने भीतर सदा होती रहती गति का कारण नहीं हो सकता। उसकी अनन्त गति के लिये एक ऐसा कारण चाहिए जो कि अनन्त शक्ति या नित्यसार युक्त हो, यही ब्रह्म है। पिण्ड (शरीर) या प्राकृतिक (जड़) तत्व परत: गतियुक्त होता है। ब्रह्म स्वयं अचल रहते जड़ को गति प्रदान करता है। जीव तत्व इन दोनों (जड़, ब्रह्म) तत्वों के बीच की स्थिति रखता है। उसकी गति स्वत: है।[2]"

३—त्रैतवाद का स्वरूप

त्रैतवाद के अनुसार तीन अनादि तत्व स्वीकार किये गये हैं।[3] ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति। इनमे ईश्वर, प्रेरक, नियामक, तथा जीवों के कर्मफल का प्रदाता है। जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता है। प्रकृति अचेतन तथा भोग्य तत्व हैं।[4]

इन तीनों में ईश्वर, आनन्दस्वरूप,[5] निराकार,[6] सर्वशक्तिमान्,[7] अजन्मा,[8] अनन्त,[9] अनादि,[10]

१—दर्शन दिगदर्शन पृ० १३४।

२—राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० १९९।

३—वहीं, पृ० ४२९।

४—भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।१२।

५—स्वर्यस्य च केवलम्। अथर्व० १०।७।१।

६—अकायम्। यजु० ४०।८।

७—शुक्रम्। यजु० ४।४०।

८—अज एकपाद्। यजु० ३४।५३।

९—अनन्तम्। अथर्व० १०।८।१२।

१०—सनातनम्। अथर्व० १०।८।२२।

सर्वव्यापक,[1] सर्वज्ञ,[2] अजर, अमर,[3] अभय,[4] पवित्र,[5] सर्वेश्वर,[6] सृष्टिकर्ता धर्ता संहर्ता है।[7] उसकी कोई मूर्ति नहीं है।[8]

दूसरा तत्व जीवात्मा नित्य,[9] अजन्मा,[10] परिच्छिन्न, अणु,[11] एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने जाने वाला, कर्मों का फल भोगने वाला,[12] चेतन, तथा अनेक[13] है।

ईश्वर और परमात्मा परस्पर अनादिकाल से स्वरूपतः भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं।[14]

प्रकृति तीसरा तत्व है यह सम्पूर्ण कार्य जगत् का मूल उपादान कारण है परन्तु इसका उपादान कारण कोई नहीं, यह त्रिगुणात्मिका है,[15] यह प्रलयावस्था में भी रहती है,[16] ईश्वर से शासित है तथा जीवात्मा के भोग का साधन है[17] और जड़ है।

ये तीनों तत्व परस्पर स्वरूप से भिन्न तथा प्रलयावस्था और सृजनावस्था में एकत्र रहने वाले हैं।

जन्म—जन्म का अर्थ है अपने मूल उपादान कारण से प्रादुर्भूत होना।[18]

१—सः ओतः प्रोतः विभुः प्रजासु। यजु० ३२।८।

२—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। सांख्य ३।५६।

३—अकामो वीरो अमृतः........अजरं युवानम्। अथर्व १०।८।४४

४—अभयंकर। अथर्व० १०।२१।१।

५—पवमानः। अथर्व० १०।८।४०।

६—सर्वस्येश्वरः। अथर्व० १०।४।१।

७—जन्माद्यस्ययतः। वेदान्त० १।१।२।

८—न तस्य प्रतिमा अस्ति। यजु० ३२।३।

९—अमर्त्य०। ऋ० १।१६४।३८।

१०—न जायते। गीता० २।२०।

अजोनित्यः०। वहीं।

११—एषोऽणुरात्मा। मुण्डक० ३।१।९।

१२—पिपलं स्वाद्वत्ति। अथर्व० ९।९।२०।

१३—जन्मादि व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। सांख्य० १।१४९।

१४—भेदव्यपदेशाच्च। वेदान्त० १।१।१७।

१५—सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्य० १।६१।

१६—तम आसीत्। ऋ० १०।१२९।३।

१७—भोग्यम्। श्वेता० १।१२।

१८—जनिप्रादुर्भावे। (दि० आ०)

मृत्यु—मृत्यु का अर्थ है अपने उपादान कारण में लीन हो जाना।[1]

केवल कार्य जगत् का तथा उससे निर्मित अन्य पदार्थों (शरीर आदि) का जन्म होता है, परन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृति का कभी जन्म नहीं होता।

सृष्टि—प्रवाह से नित्य है।[2] अर्थात् सृष्टि और प्रलय यह क्रम अनादि है।

मोक्ष—अविद्या जन्म प्रकृति के बन्धन से तथा दुःखों से छूटना तथा ब्रह्म में अव्याहत गति से विचरण करना मोक्ष है।[3] जीवात्मा के कर्म सान्त हैं अतः उनका फल भी सान्त मिलता है। मोक्ष में निश्चित समय तक रहने के बाद जीवात्मा की पुनरावृत्ति होती है।

त्रैतवाद में अवतारवाद को नहीं माना गया। जीवात्मा कभी ईश्वर नहीं बन सकता और ईश्वर कभी जीवात्मा नहीं बन सकता। ईश्वर और जीवात्मा का सम्बन्ध उपास्य[4] और उपासक, पिता[5] और पुत्र तथा व्यापक और व्याप्य का है।[6]

संक्षेप में ये त्रैतवाद की दार्शनिक मान्यताएँ हैं।[7]

४—त्रैतवाद के लिए प्रयुक्त शब्दावली

प्राचीन साहित्य में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों के लिए 'त्रयः'[8], 'त्रयम,[9]' 'त्रिविधम्'[10] 'त्रिधा'[11], 'त्रितयम्'[12], तथा आधुनिक साहित्य में त्रैत[13] शब्द का प्रयोग हुआ है इन शब्दों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है :—

१—नाशः कारणलयः। सांख्य १।१२१।

२—यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० १०।१९०।३।

३—ब्रह्म लोके महीयते कठ० १।२।१५।
तथा देखिये महर्षि दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१२

४—एक एव नमस्यः। अथर्व० २।२।१।

५—ऋ० १।१०।६।

६—यजु० ३२।८/तथा देखिये-सत्यार्थप्रकाश, पृ० ८१३

७—त्रैतवाद के स्वरूप की विशेष जानकारी के लिये देखिये इसी ग्रन्थ का अध्याय ६

८—अथर्ववेद-१८।४।४। देखिये क्षेमकरणदास त्रिवेदी भाष्य, पृ० ८।१।६।

९—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।७। तथा १।६।

१०—वहीं १।१२।

११—नारदीयपुराण, पूर्वार्द्ध २।२८,१०।

१२—माधवाचार्य-सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५५।

१३—वेदवाणी, अंक ६, पृ० २२।१९५६ संस्करण। तथा राहुल सांस्कृत्यायन दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४२८।

(क) त्रयः

संख्यावाचक 'त्रि' शब्द से तीन हैं अवयव जिसके इस अर्थ में 'तयप्'[१], प्रत्यय होकर 'त्रितय' शब्द बना है। विकल्प से 'तयप्' को 'अयच्'[२], आदेश होकर पुलिंग में 'त्रयः' यह शब्द बना है, जिसका अर्थ है—तीन का समूह।[३]

वेद में त्रयः सुपर्णाः[४] शब्द का प्रयोग ईश्वर-जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों के अर्थ में हुआ है। श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने 'त्रयः सुपर्णाः' का अर्थ जगत् की पूर्ति करने वाले तीन पदार्थ ईश्वर, जीव और प्रकृति किया है।[५]

(ख) त्रयम्

इस शब्द की सिद्धि पूर्ववत् ही होगी। नपुँसकलिंग में 'त्रयम्', यह रूप बनेगा। इसका भी अर्थ होगा 'तीन का समूह'। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस शब्द का ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के लिये दो स्थानों पर प्रयोग हुआ है। वहाँ प्रथम प्रकरण का अर्थ है—'यह परमब्रह्म का गीत गाया है इसमें (ब्रह्म, जीव और प्रकृति) इन तीनों की प्रतिष्ठा है। तीनों को अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं।[६] स्वामी सत्यानन्द ने इस प्रकरण का यही अर्थ स्वीकार किया हैं।[७] उसी प्रकरण में आगे लिखा है—"दो अज हैं 'ज्ञ' और 'अज्ञ'। 'ज्ञ' ईश है, 'अज्ञ' अनीश है। इन दो अजन्माओं के अतिरिक्त एक अजा (अजन्मा) प्रकृति है, वह एक है। प्रकृति भोक्ता जीवात्मा के लिए भोग्य अर्थ से युक्त है। आत्मा (परमेश्वर) विश्वरूप है, अनन्त है, शुभाशुभ कर्मों का अकर्त्ता है। ये तीनों ही महान् हैं। साधक इन तीनों को पा लेता है।[८]

यहाँ दो 'अज' और एक को 'अजा' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि तीन तत्व अनादि हैं। 'अज' का

१—संख्याया अवयवे तयप्। अष्टाध्यायी, ५।२।४२।

२—द्वित्रिभ्यां तयस्ययज्वा। वहीं ५।२।४३।

३—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ५१३।

४—अथर्व०, १८।४।४।

५—अथर्व०, १८।४।४। क्षेमकरण भाष्य, पृ० ८९९

६—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च। श्वेताश्वतर० १।७।

७—देखिये—एकादशोपनिषत्संग्रह, पृ० ४२४।

८—ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशावजा ह्येकाभोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ श्वेताश्वतर० १।९।

अर्थ जीवात्मा भी होता है और परमात्मा भी।[1] अजा का अर्थ अनादि प्रकृति प्रसिद्ध है।[2] यहाँ ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के लिये 'त्रयम्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(ग) त्रिविधम्

तीन तत्वों का निर्देशक 'त्रिविधम्' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ तीन तत्वों को ब्रह्म (महान्) बतलाते हुए लिखा है—इस सम्पूर्ण जगत् में भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरक (परमात्मा) ये तीनों ही ब्रह्म अर्थात् महान् हैं।[3]

उपनिषदों में 'ब्रह्म' शब्द 'महान्' अर्थबोधक[4] तथा अनेकार्थक है। उसका अर्थ केवल परमात्मा ही नहीं लेना चाहिए। जो भी जगत् में जड़ चेतनादि महान् तत्व हैं उन सबके लिये प्रसंगानुसार ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों में विद्यमान है। ऋषियों की दृष्टि में आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही तत्व ब्रह्म अर्थात् महान् थे।[5] एक विस्तृत तालिका ब्रह्म शब्द सम्बन्धी उपनिषदों में मिलती है। अनेक स्थानों पर अनेक अर्थों में प्रयुक्त 'ब्रह्म'

१—संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० १२।

२—वहीं, पृ० १३।

३—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेताश्वतर० १।१२।

४—देखिये—डा० राजेन्द्र कुमार का लेख - उपनिषद् तत्वदर्शन—विश्व ज्योति पत्रिका, पृ० १५०।

५—देखिये—

ब्रह्म यदोंकारः	प्रश्न ५।२।	ध्यानं ब्रह्मेति	वही ७।६।२।
आकाश शरीरं ब्रह्म	तैत्तिरीय० ६।२।	अन्नं ब्रह्मेति	वहीं ७।६।२।
विज्ञानं ब्रह्म	वहीं १२।२।	अपो ब्रह्म	वहीं ७।१०।२
मनो ब्रह्म	तैत्तिरीय भृगुवल्ली ४।	तेजो ब्रह्मेति	वहीं ७।११।२
तपो ब्रह्मेति	वहीं	स्मरं ब्रह्मेति	वहीं ७।१३।२
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	छान्दोग्य० ३।१४।	आशां ब्रह्मेति	वहीं ७।१४।३
आकाशो ब्रह्म	३।१८	पुत्रमाह त्वं ब्रह्म	बृहदा० १।४।१०
आदित्यो ब्रह्म	वहीं ३।१९।	वाग् वै ब्रह्मेति	वहीं ४।१।२।
प्राणो ब्रह्म	वहीं ४।५।	चक्षुर्वै ब्रह्म	वहीं ४।१।४।
कं ब्रह्म	वहीं	श्रोत्रं वै ब्रह्मेति	वहीं ४।१।५
खं ब्रह्म	वहीं	हृदयं वै ब्रह्मेति	वहीं ४।१।७।
वाचं ब्रह्मेति	वहीं ७।१।	स वा अयमात्मा ब्रह्म	वहीं ४।४।५।
चित्तं ब्रह्मेति	वहीं ७।५।३	विद्युद् ब्रह्मेति	वहीं ५।७।१।

शब्द से उपनिषदों का ब्रह्म सम्बन्धी भाव स्पष्ट हो जाता है। उपनिषद् के इस रहस्य को समझाने के बाद यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि—भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति और इन दोनों की प्रेरक शक्ति परमात्मा ये तीनों ही ब्रह्म अर्थात् महान् हैं। इन्हीं तीनों को उपनिषद् में 'त्रिविधम्' शब्द से अभिहित किया है।

(घ) त्रिधा

प्राचीन साहित्य में 'त्रिधा' शब्द भी तीन तत्व, ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नारदीय पुराण में लिखा है—आदि सर्ग में प्रकृति, पुरुष (जीवात्मा) और काल (परमात्मा) ये तीनों रहते हैं।[1] वहीं पर[2] काल शब्द का अर्थ महेश्वर किया गया है। सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखते हैं 'काल को भी ईश्वर का एक रूप माना जता है। काल का स्वरूपलक्षण सत्-चित्-आनन्द है।[3] त्रिधा का अर्थ यहाँ 'तीन भेद[4] है'। यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयावस्था में तथा सृजनावस्था में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन भागों में विभक्त रहता है।

ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों के लिए दार्शनिक विद्वानों ने 'त्रितय'[5], त्रिक[6], तृत्व[7], त्रैत्[8], और त्रैत[9] शब्दों का भी प्रयोग किया है।

(ङ) त्रैत

प्राचीन साहित्य में तीन संख्यावोधक शब्द ईश्वर, जीव और प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि 'त्रैत' शब्द का प्रयोग भी प्राचीन साहित्य में मिलता है।[10] परन्तु यह शब्द ईश्वर, जीव और प्रकृति के अर्थ में कैसे प्रचलित हुआ यह जानने के लिये भाषा विज्ञान का सहारा लेकर इस शब्द के ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश डालना होगा। जिस

१—आदि सर्गे महाविश्वमुलोकान्कतुं मुद्यतः।
प्रकृतिः पुरुषश्चेति कालश्चेति त्रिधाभवेत ।। नारदीय पुराण, पूर्वार्द्ध २।२८।

२—एष शुद्धोऽक्षरोऽनन्तः कालरूपी महेश्वरः ।। वहीं २।३०।

३—भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० ११६।

४—हिन्दी संस्कृत कोष, पृ० ४४२।

५—ईश्वरश्चिच्चेति पदार्थ त्रितयम्। माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५१। तथा श्रीमद्भागवत् ११।२४।१९।

६—कृष्णकान्त—द्वैतवेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० १२।

७—श्रीनारायण स्वामी का लेख—सार्वदेशिक साप्ताहिक, पृ० ४०१। दिसम्बर १९३१।

८—वहीं।

९—प्रो० सत्यव्रत—गीताभाष्य, पृ० ४६४।

१०—त्रत भवति प्रतिष्ठायै। ताण्ड्यमहा ब्रा० १४।११।२२।

प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में प्रचलित अद्वैत[1] और द्वैत[2] शब्दों में से 'अद्वैत' शब्द एक तत्व ब्रह्म के लिए अद्वैतवादियों में प्रचलित हुआ तथा द्वैत शब्द ईश्वर और जीवात्मा की विभिन्नता के लिए श्री मध्वाचार्य के द्वैतवाद में प्रयुक्त हुआ। उसी प्रकार तीन अनादि तत्वों के लिए कुछ विद्वानों ने दार्शनिक ग्रन्थों में त्रैतवाद शब्द का प्रयोग किया।[3] इस विषय पर संक्षिप्त निबन्ध भी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। बाबा विष्णुदयाल ने अपने लेख बहुचर्चित त्रैतवाद में इस शब्द का प्रयोग किया है।[4] श्री पं० रामचन्द्र देहलवी ने अपने लेख 'आर्यसमाज का त्रैतवाद' में इस शब्द का प्रयोग किया है।[5] डा० हरिदत्त शास्त्री ने 'त्रैतवाद की वैदिकता' लेख में इस शब्द का प्रयोग किया है।[6] तथा पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री ने अपने लेख 'वैदिक त्रैतवाद समर्थन' में इसी शब्द का प्रयोग किया है।[7] इसी प्रकार कुछ अर्वाचीन भाष्यकारों[8] तथा पत्रकारों[9] ने भी त्रैतवाद शब्द का प्रयोग किया है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह शब्द एकत्व और द्वित्व के बोधक अद्वैत और द्वैत शब्दों के समान त्रित्व के बोधनार्थ प्रचलित हुआ है। जिस प्रकार 'द्वैत' और 'अद्वैत' शब्दों की व्युत्पत्ति की गई है उसी आधार पर 'त्रैत' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

द्वैत शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत कोष में इस प्रकार की है — द्वि + इ + क्तः = द्वीतम् तस्य भावः (स्वार्थे अण्) द्वैतम्, द्वैतमधिकृत्यवादः द्वैतवादः (जीवेश्वर विभेद निर्णायके)[10]। द्वैत का अर्थ है जीवात्मा और परमात्मा का पारमार्थिक भेद।

'द्वैत' के आधार पर ही नञ् समास करके अद्वैत की व्युत्पत्ति 'न द्वैतम् अद्वैतम्' यह की जा सकती है जिसका अर्थ होगा दो के भाव से रहित केवल एक ब्रह्म।

इन शब्दों के आधार पर ही 'त्रैत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है—त्रि+इ+क्तः त्रीतम्-तस्य भावः (स्वार्थे अण्) आदि वृद्धि होकर 'त्रैतम्' शब्द बनेगा। (त्रैतमधिकृत्य वादः त्रैतवादः) इस 'त्रैत' से सम्बन्धित वाद त्रैतवाद कहलायेगा। अर्थात् ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का पारमार्थिक भेद त्रैतवाद है।

१—सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। शतपथ० १४।७।१।३१।
२ यत्र हि द्वैतमिवेभवति। शतपथ० १४।५।४।१५।
३—राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४२८।
४—वेदवाणी, अंक १०। पृ० १३। १९६३ ई०।
५ वेदवाणी अंक ६। पृ० २२। १९७५ ई०।
६—वेदवाणी, अंक ३। पृ० १०। १९६४ ई०।
७—आर्योदय पत्रिका, पृ० १३, स्वाध्याय अंक २३ अगस्त १९६४।
८—प्रो० सत्यव्रत, गीताभाष्य, पृ० ४६५।
९—श्री रामेश्वरदयाल पत्रिका—आर्यों का त्रैतवाद, चतर्थ पुष्प १९७२।
१०—वाचस्पत्य भाग ५, प० ३८३२।

५—त्रैतवाद की परिभाषा

कुछ त्रैतवादी आचार्य और विद्वानों की परिभाषायें (त्रैतवाद के विषय में) निम्नलिखित हैं :-

महर्षि दयानन्द

ईश्वर, जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।[1]

स्वामी दर्शनानन्द

जीव, ब्रह्म और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं।[2]

प० लेखराम

ईश्वर, जीव और प्रकृति अपनी-अपनी सता के लिए किसी के भी मुहताज नहीं है। इसीलिये ये अनादि तथा नित्य पदार्थ हैं।[3]

श्री नारायण स्वामी

पहला मन्तव्य वेदों का त्रित्ववाद है अर्थात् वेद ईश्वर, जीव और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं।[4]

पं० शिवशंकर

प्रकृति, जीव और ब्रह्म ये तीनों अक्षर हैं क्योंकि इनका विनाश नहीं होता।[5]

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) तीनों ही मूल तत्व हैं। सृष्टि की रचना तीन सत्ताओं की सूचक है :—

(१) जीव की, जिनके लिए सृष्टि की आवश्यकता है।

(२) प्रकृति की, जिसका परिणामस्वरूप यह सृष्टि है।

(३) ईश्वर की, जो अपने ज्ञान और सामर्थ्य से सृष्टि की रचना कर सके।

ये तीनों वस्तुएँ अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य होनी चाहिए।[6]

१—सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८। पृ० २८३।

२ उपनिषद्प्रकाश, पृ० १५६।

३—कुलियात आर्य मुसाफिर, पृ० ३८२।

४—आर्य समाज क्या है ? पृ० ३५।

५—वेद तत्वप्रकाश, पृ० ३।

६—अद्वैतवाद, पृ० ३४३-३४४।

डा० हरिदत्त शास्त्री

ईश्वर, जीव, प्रकृति प्रवाह से अनादि माने जाते हैं यह वैदिक सिद्धान्त है।[1]

श्री पं० रामचन्द्र देहलवी

ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि होते हुए भी आपस में भिन्न हैं। ईश्वर का अनन्त ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य जीव और प्रकृति पर उनके आधिपत्य का कारण है।[2]

इन सभी विद्वानों ने त्रैतवाद में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के अनादित्व को स्वीकार किया है तथा सृष्टि की रचना में इन तीनों का अनिवार्य अस्तित्व स्वीकार किया है। ये तीनों सत्ताएं परस्पर भिन्न और अनादि हैं। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं से त्रैतवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

देश और काल दोनों ही नित्य और व्यापक हैं तथा सबसे ही इनका सम्बन्ध है।[3] अतः ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनों स्वरूप से भिन्न होते हुए भी देशकाल की अपेक्षा भिन्न नहीं रह सकते। इस आधार पर त्रैतवाद की समन्वित परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है।

जिस दार्शनिक विचारधारा में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों तत्वों को अनादि स्वीकार किया जाता है तथा ये तीनों तत्व अपनी-अपनी विशिष्टता के कारण परस्पर भिन्न तथा देश और काल से कभी भी भिन्न न रहने वाले माने जाते हैं उसे त्रैतवाद कहते हैं।

१—त्रैतवाद की वैदिकता। वेदवाणी (पत्रिका) अंक ३, पृ० १०।

२—आर्य समाज का त्रैतवाद। वेदवदणी, अंक ३, पृ० २२। अप्रैल, १९५८।

३—न कालयोगितो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात। सांख्य १।१२।
तथा न देशयोगतोऽप्यस्मात्। वहीं। १।१३।

द्वितीयाध्याय

वैदिक साहित्य में त्रैतवाद

वेद

१—ईश्वर

वेदों में ईश्वर तत्व के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में बहुदेवतावाद है। मैक्समूलर ने वैदिक देवतावाद को एक नया नाम दिया है—'कथेनोथियिज्म' अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा 'हीनोथियिज्म' अर्थात् पृथक् देवताओं की पूजा।[1] कुछ भारतीय विद्वानों का भी यही मत है कि 'वैदिक देवतावाद बहुदेवतावाद की ओर उन्मुख था, कालान्तर में एकदेववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में उसकी चरम परिणति होती है।[2]

वस्तुतः वेद में देवतावाद तो है परन्तु देवता का अर्थ ईश्वर लेना तथा कालान्तर में बहुदेवतावाद से एकेश्वर-वाद की तरफ प्रवृत्ति बतलाना भारी भूल है।[3] यास्क ने इस संशय को दूर करते हुए स्पष्ट लिख दिया है 'देवता दान से, द्योतित होने से, दीप्त होने से या द्यूस्थान में होने से होता है।[4] यह व्युत्पत्ति चेतन और जड़ दोनों प्रकार के देवताओं में घटित हो जाती है। परन्तु ऐसा महान देव है, जो एक है, न उनके समान कोई है न उस जैसा है।[5] वेद में इन्द्र, अग्नि, वायु आदि शब्द भौतिक अर्थ में आग, सूर्य, आग और हवा आदि के भी द्योतक हैं तथा आध्यात्मिक अर्थ में एक ईश्वर के ही पर्यायवाचक हैं। वेद में बहुदेवतावाद की भ्रान्ति में पड़े हुए लोगों के लिये वेद में ही कहा

१—It was necessary, therefore, for the purpose of accureated reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for a time supreme position and, I proposed for it the name of Kathenotheism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of single God.

F. Maxmuller, Indian, what can it teach us ? P. 146-147 Edition 1892.

२—राजकिशोर - वैदिक साहित्य का इतिहास पृ० ६६।

३—महर्षि दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७५।

४ - निरुक्त ७।४।२।

५—न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्। न वयेवं यथा त्वम्। सामवेद, पूर्व० ३।९।१०।

है 'अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इन शब्दों द्वारा निश्चय से उसी परमात्मा का बोध होता है।[1]

एक ऋचा में और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—'विद्वान् उसी एक परमात्मा का इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा आदि नामों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।[2]

यास्काचार्य ने भी इस ऋचा का यही अर्थ स्वीकार किया हैं।[3]

वस्तुतः वेद में ईश्वर नाम की शक्ति अनेक नहीं एक ही मानी गई है।[4] 'उसे द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, आदि संख्या से नहीं कहा जा सकता।[5] वह एक ही है।[6]

श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर लिखते हैं —'जिस प्रकार एक ही पुरुष को पिता, भाई आदि गुण बोधक अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं तथापि इन अनेक शब्दों से उस एक ही व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार अग्नि, वायु आदि अनेक गुणबोधक शब्दों से एक ही परमात्मा का बोध होता है, अत. भिन्न नामों के भ्रम से अनेक देवतावाद में फंसना किसी को उचित नहीं है।[7]

१-१ —वेद में ईश्वर के गुणवाचक अनेक नाम

(क) इन्द्र

वेद में ईश्वर वाचक 'इन्द्र' शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है।[8] ऋग्वेद की ऋचा[9] में आचार्य सायण ने

१—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२।१।

२ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।१६४।४६।

३—इयमेवग्निं महान्तमात्मानम् एकमात्मानं बहुधा मेधाविनोवदन्ति। निरुक्त ७।४।

४—एक एव। अथर्व० २।२।१। देव एकः। ऋ० १०।८।१३।

५—न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। अथर्व० १३।४।१६।

६—य एक इत्। ऋ० ५।५१।१६।

७ एक ईश्वर की उपासना पृ० ४६।

८—इन्द्रं मित्रं वरुणम्। ऋ० १।१६४।४६।
इन्द्र क्रतुं न आभर। ऋ०७।३२।२६।

९—इन्द्रायाहि चित्रभानो। ऋ० १।३।४।

भी 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमात्मा किया है।[1] यास्काचार्य ने भी परमात्मा अर्थ में 'इन्द्र' शब्द के निर्वचन किये हैं।[2] महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के भाष्य में 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमात्मा किया है।[3]

(ख) विष्णु

'विष्णु' शब्द 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से नु[4] प्रत्यय होकर बना है। यास्क ने भी निर्वचन व्यापक अर्थ में किया है।[5] वेद की ऋचा[6] में प्रयुक्त 'विष्णु' शब्द का अर्थ आचार्य सायण ने परमेश्वर किया है।[7] महर्षि दयानन्द ने भी उसी ऋचा में प्रयुक्त 'विष्णु' का अर्थ व्यापक जगदीश्वर किया है।[8] पौराणिक अवतारवाद से प्रभावित होकर एक स्थान पर आचार्य सायण से 'विष्णु' का अर्थ वामनावतार किया है[9] परन्तु यह अर्थ मन्त्र का प्रतिपादित अर्थ नहीं है।

(ग) अक्षर

'अक्षर' शब्द अविनाशी परमेश्वर के लिये वेद[10] में प्रयुक्त हुआ है। यास्काचार्य ने 'शाकपूणि ऋषि के मत में 'अक्षर' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ओम् का नाम ही अक्षर है।[11]

१—इदि परमेश्वर्यें इत्यस्य धातोरर्थानुगमात् इन्द्रः परमत्मा। ऋक्० सायण भाष्य पृ० ४०।

२—इदं करणादित्याग्रायणः। निरुक्तम् १०।८

देखिये इस पर सायण भाष्य—

इन्द्रो हि परमात्मरूपेण इदं जगत्करोति। ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० ५१।

३—देखिये – ऋ० १।६।७। दयानन्द भाष्य पृ० ३१।

ऋ० १।५।२। ,, ,, पृ० २३।

ऋ० १।७।१। ,, ,, पृ० १४।

४—विषेः किच्च। अष्टाध्यायी सू० ३।३१६।

५—अथ यद्विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति। निरुक्तम् १२।१८।

६—विष्णुः विचक्रमे। ऋ० १।२२।१६।

७—विष्णुः परमेश्वरः। वहीं सायण भाष्य पृ० १६६।

८—ऋग्वेद। दयानन्द भाष्य पृ० १०५।

९—देखिये—विष्णुरुरुक्रमः। ऋ० १।६१।६। पर सायण भाष्य—विष्णुर्हि वामनावतारे पृथिव्यदीन् त्रीन् लोकान् पादत्रयरूपेणाक्रान्तवान्॥ पृ० ५५५।

१०—ऋचो अक्षरे परमेव्योमन्। ऋ० १।१६४।३९।

११—कतमतदेतदक्षरम्। ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। निरुक्तम्, १३।१०। पृ० ६६२।

आचार्य सायण ने भी इस मन्त्रस्थ 'अक्षरे' शब्द का अर्थ अविनाशी ब्रह्म किया है।[1] वैदिक 'अक्षर' शब्द का ही प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पड़ा है। वहाँ पर भी यह परमेश्वर अर्थ में प्रयुक्त है।[2]

(घ) सविता

जगदुत्पादक होने के कारण परमेश्वर का नाम वेद में 'सविता'[3] कहा गया है। 'सविता' का अर्थ आचार्य सायण ने[4] तथा महर्षि दयानन्द ने[5] परमेश्वर किया है।

(ङ) विश्वकर्मा

ऋग्वेद के दो सूक्तों[6] में ईश्वर का सृष्टिकर्ता के रूप में विश्वकर्मा नाम से[7] वर्णन किया गया है। विश्वकर्मा का अर्थ यास्क ने सबका बनाने वाला[8] किया है। आचार्य सायण ने विश्वकर्मा का अर्थ परमेश्वर लिखा है।[9] डा० एस० एन० दास गुप्ता विश्वकर्मा के विषय में लिखते हैं—'विश्वकर्मा जनक कहा जाता है यद्यपि उसका जनक कोई नहीं है।[10]

(च) पुरुष

सृष्टि रूपी पुरी में शयन करने के कारण[11] ईश्वर का नाम वेद में पुरुष कहा है[12] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[13] में उसी का वर्णन है।

१—अक्षरे अद्रेश्यादिगुणके क्षरणरहितेनश्वरे नित्ये सर्वत्रव्याप्ते ब्रह्मणि। ऋ० १।१६४।३९। सायण भाष्य पृ० १००५।

२—देखिये—एतद्वै तदक्षरस्य प्रशासने गार्गि। बृहदा० उ० ३।८।
यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मुण्डक० उ० १।१५।
अक्षरं ब्रह्म परमम्॥ गीता ८।३।

३—तत्सवितुः ऋ० ३।६२।१०।

४—सवितुः सर्वान्यमितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य। वहीं सायण भाष्य पृ० ४८८।

५—सवितुः सकल जगदुत्पाकस्य समग्रैश्वर्ययुक्तस्येश्वरस्य। वहीं दयानन्द भाष्य पृ० ७४०।

६—ऋ० १०।८१।१,२,३,४,५,६,७,। तथा ऋ० १०।८२,१,२,३,४,५,६,७।

७—वाचस्पति विश्वकर्माणम्। वहीं १०।८१।७।

८—सर्वस्यकर्त्ता। निरुक्त १०।२५।

९—सायण भाष्य। ऋग्वेद पृ० ४६२।

१०—He is said to be father and procreator of all being, though himself uncreated. History of Indian philosophy P. 20

११—पुरिशयनात्। निरुक्त २।३।

१२—सहस्र शीर्षापुरुषः। ऋ० १०।९०।१।

१३—देखिये ऋ० १०।९०।१-१६।

(छ) प्रजापति (कः)

सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी होने के कारण तथा सुखस्वरूप होने के कारण, ईश्वर का वेद में 'प्रजापति'[1] और 'कः'[2] नाम से उल्लेख किया गया है। यद्यपि 'कः' शब्द का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में 'प्रजापति' किया है[3] तथापि अर्थ दोनों का भिन्न-भिन्न ही है। ये दोनों शब्द वेद में एक ही ईश्वर के लिये प्रयुक्त हुए हैं। वही ईश्वर उत्पन्न जगत् (प्रजा) का रक्षक होने से प्रजापति है तथा सुखस्वरूप[4] होने से 'कः' है। सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का यह मत है कि—'मूलरूप से प्रजापति शब्द का प्रयोग अनेक दूसरे देवताओं के लिये होता था। बाद में इसका प्रयोग एक महत्तम और सर्वोच्च पृथक् देव (परमात्मा) के लिये होने लगा,[5] अस्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि दूसरे देवता कौन थे जिनके लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। महर्षि दयानन्द ने भी 'कः' का अर्थ 'सुख-स्वरूप प्रजापति 'ब्रह्म' किया है।[6] बलदेव उपाध्याय का मत है कि—'प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परम तत्व के वाचक हैं।[7]

१-२ — वेद में ईश्वर का स्वरूप

वेद में ईश्वर को सत्[8], चित्[9], आनन्दमय[10], निराकार[11], अजन्मा[12], अनन्त[13], अनादि[14],

---

१—प्रजापते। ऋ० १०।१२१।१०।

२—कस्मै देवाय। ऋ० १।१२१।१।

३ तस्मै कस्मै प्रजापतये प्रजापतिर्वैकस्तस्मै। शतपथ ७।३।१।२०।

४—कः सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। ऋ० १०।१२१।१। सायण भाष्य पृ० ७५१।

५—The epithet prajapathi or the Lord of beings which was originally an epithet for other deities, come to be recognizad as a separate deity, the highest and the greatest. —A History of Indian philophy P. 19

६—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ७।

७—बलदेव—भारतीय दर्शन पृ० ३४।

८—सत्येनोत्तभिता भूमिः। ऋ० १०।८५।१।
देखिये—सत्येन ब्रह्मणानन्तात्मना। वहीं सायणभाष्य पृ० ५७३।

९—चितम्। अथर्व० १८।४।१४।

१०—स्वर्यस्य च केवलम्। अथर्व० १०।७।१।

११—न तस्य प्रतिमा अस्ति। यजु० ३२।३।

१२—अज एकपाद। यजु० ३४।५३।
अजः। ऋ० १।६७।३।

१३—अनन्तम्। अथर्व० १०।८।१२।

१४—सनातनम्। वहीं १०।८।२२।

अनुपम[1], अजर, अमर[2], अभय[3], नित्य[4], पवित्र[5], सर्वव्यापक[6], तथा शरीर से रहित[7] बतलाया है। त्रैतवाद में भी ईश्वर का यही स्वरूप मान्य है।

२—जीवात्मा

२-१—वेद में जीवात्मा के बोधक शब्द :—

(क) अमर्त्यः

वेद में जीवात्मा को अमरणधर्मा बतलाते हुए उसे मरणधर्मा शरीर के साथ रहने वाला कहा है। इस शरीर के पालनार्थ वह अन्न खाता हुआ अपने कर्मों से कभी पतन की तरफ जाता है, कभी उन्नति की तरफ जाता है।[8] आचार्य यास्क ने भी इस ऋचा का यही अर्थ स्वीकार करते हुए 'मर्त्य' शब्द का अर्थ 'मन' किया तथा 'अमर्त्य' शब्द का अर्थ 'आत्मा' किया है।[9] महर्षि दयानन्द ने भी 'अमर्त्य' शब्द का अर्थ मरणधर्म रहित जीव किया है।[10] इस शब्द के प्रयोग से जीवात्मा का नित्यत्व भी सिद्ध है।

आचार्य सायण इस ऋचा के भाष्य में अद्वैतमत का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—'परमात्मा ही सूक्ष्म शरीरोपाधि से युक्त होकर अनेक प्रकार के कर्म करके उनके भोग के लिये जीव संज्ञा को प्राप्त होकर तथा तीन शरीरों से सम्बन्धित होकर लोकान्तरों में घूमता है।[11]

वस्तुतः यह अर्थ मूल मन्त्र से विरुद्ध, यास्क आचार्य के अर्थ से विपरीत, केवल स्वमतानुग्रह से ग्रसित होकर आचार्य सायण ने किया है। मन्त्र में स्पष्ट जीवात्मा को परिच्छिन्न शरीर में रहने वाला तथा अमरणधर्मा कहा है। परमात्मा का बिल्कुल उल्लेख नहीं है।

१—न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। ऋ० ७।३२।२३।

२—अजरम्। ऋ० ६।४६।१०।
अमर्त्यम्। वहीं ५।१४।२।

३—अभयंकरः। अथर्व० १०।२१।१।

४—सनात्। ऋ० १०।५५।६।

५—पवमानः। अथर्व० १०।८।४०।

६—स ओतः प्रोतः विभूः। यजु० ३२।८।

७—अकायम्। यजु० ४०।८।

८—अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ऋ० १।१६४।३८।

९—आपांचति प्रांचति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह। निरुक्त १४।२३।

१०—ऋग्वेद दयानन्द भाष्य पृ० ८४१।

११—परमात्मैव सूक्ष्म शरीरोपाधिकः सन् नानाविधकर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवसंज्ञा लब्ध्वा शरीरत्रयेण सम्बद्धो लोकान्तरेषु संचरति॥ ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० १००४

ऋग्वेद के इसी सूक्त में[1] 'अमर्त्य' शब्द के साथ 'जीव' शब्द का प्रयोग करके और अधिक रूप में यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ जीवात्मा का ही वर्णन है। अतः आचार्य सायण का यह अर्थ कि 'परमात्मा ही जीवात्मा बनता है' असमीचीन है।

(ख) पुरुष

शरीर रूपी पुरी में रहने के कारण जीवात्मा का नाम वेद में 'पुरुष' है। एक मन्त्र में कहा है—'यह पुरुष गर्भ के भीतर रहता हुआ श्वास और प्रवास लेता है।[2] यही 'पुरुष' शब्द जीवात्मा के लिये परवर्ती साहित्य में भी प्रचलित हुआ।[3]

जीवात्मा ही माता के परिच्छिन्न गर्भ में 'अणु' होने से रहता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है।[4] ईश्वर के विषय में वेद में कहा है कि वह गर्भ में नहीं आता है।[5] अतः उपर्युक्त ऋचा में गर्भस्थ 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीवात्मा के लिये ही है क्योंकि गर्भ में जीवात्मा ही आता है।

(ग) आत्मा

सुरेन्द्रनाथ दास का मत है कि वेद में जीवात्मा के लिये मन, आत्मा और असु शब्दों का प्रयोग है।[6] वेद में एक स्थान पर प्रार्थना की है कि—'मेरी आत्मा की रक्षा कर।[7] महर्षि दयानन्द ने इस वेदोक्त 'आत्मानम्' शब्द का अर्थ चेतन आत्मा किया है।[8] क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने भी वेद में जीवात्मा के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग स्वीकार किया है।[9]

१—अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः॥ ऋ० १।१६४।३०।

२—अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः। अथर्व० ११।४६।१४।

३ -जीवो जन्तु पुमानात्मा पुरुष पूजको ना:॥ सांख्य संग्रहे पृ० ११।

४—स मातुर्योना परिवीता अन्तर्बहुप्रजा। ऋ० १।१६४।३२।

५—प्रजापतिश्चरतिगर्भेन्तरजायमानः। यजु० ३१।१९

६—The words which denote Soul in the Rigveda are manas atma and asu.
A History of Indian philosophy, P. 26

७—आत्मानम्मे पाहि। यजु० १४।१७।

८—यजुर्वेदभाष्य पृ० ४६१।

९—एवा मे अश्विना वर्चं आत्मनि ध्रियताम् अथर्व० ६।१।११।
देखिये इस पर क्षेमकरण भाष्य अथर्ववेद पृ० १०९।

२-२—वेद में जीवात्मा का स्वरूप

(क) स्वल्पज्ञ

वेदानुसार जीवात्मा स्वल्पज्ञान वाला सिद्ध होता है क्योंकि वेद में स्वयं जीवात्मा अपने को अज्ञानी कहता है।[१] वेद में यह मेधावी होने की प्रार्थना करता है।[२] स्वल्पज्ञान होने से ही यह अज्ञान से आकृत[३] होता है।

(ख) भोक्ता

जीवात्मा प्रकृति के पदार्थों को भोगता है, इसलिये वेद में जीवात्मा को 'घ्नः'[४] अर्थात् सुख और दुःख का भोक्ता कहा है।[५] इसीलिये यह भोग्य पदार्थों के लिये प्रार्थना भी करता है[६] तथा अनादि पदार्थों का प्रयोग करता है।[७]

(ग) अणु

वेद में जीवात्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म, अणुरूप बतलाया है।[८]

(घ) आवागमनयुक्त

जीवात्मा एक ही शरीर में नहीं रहता अपितु कर्मानुसार अनेक शरीरों में आता जाता है। इस जीवन के माता पिता से वियुक्त होकर पुनः अग्रिम जन्म में माता-पिता के दर्शन करना चाहता है।[९] गर्भ में बार-बार जाता है।[१०] आचार्य सायण ने ऋग्वेद के एक जीवात्मा सम्बन्धी मन्त्र[११] में 'यः' का अर्थ पुमान् (जिवात्मा) तथा 'बहुप्रजा' का अर्थ अनेक जन्मों को धारण करने वाला लिखा है।[१२]

१—अचिकित्वांश्चिकितुषः—पृच्छामि। ऋ० १।१६४।६।
न विजानामि यदि नेदमस्यि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। ऋ० १०।१६४।३७।
२—मामद्यमेधाविनं कुरु। यजु० ३२।१४।
३—नीहारेण प्रावृता। ऋ० १०।८२१।
४—अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। ऋ० १।१६४।१।
५—देखिये – चमूपति भाष्य – वैदिक सिद्धान्त पृ० ११।
६—इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि। पृ० २।२१।६।
७—स्वधयाग्रभीतः। पृ० १।१६४।३८।
८—बालादेकमणीयस्कम्। अथर्व० १०।८।२५।
९—स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च। पृ० १।२४।२।
१०—स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा। ऋ० १।१६४।३२।
११—य ईं चकार। वहीं।
१२—य पुमान् —मातुः जनन्याः, योनायोमो,
अन्तः परिवीतः उल्बजरायुभ्यां परितो वेष्टितः सन्
बहु प्रजा बहुजन्मभाक्। ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० १०००।

२-३—जीवात्माओं का बहुत्व

जीवात्मा एक नहीं। वेद की दृष्टि से जवात्मा बहुत हैं इसीलिये वेद में जीवात्माओं के लिये बहुवचन शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

त्रैतवाद में जीवात्मा का यही स्वरूप मान्य है।

३—प्रकृति

३·१—वेद में प्रकृति के बोधक शब्द :—

(क) स्वधा

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा है कि प्रलयावस्था में प्रकृति जिसके आश्रय में रह रही थी ऐसा ईश्वर एक ही था उससे बढ़कर कोई न था।

(अनादिवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास।[2])

इस ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—प्रलयावस्था में—'माया से सहित ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भौतिक वस्तु नहीं थी।[3]

आचार्य सायण ने 'स्वधा' का अर्थ 'माया' किया है। वे इतना तो मानते हैं कि 'स्वधा' नामक तत्व चाहे माया ही क्यों न हो वह ब्रह्म के आश्रय में रहता हुआ भी स्वरूप से ब्रह्म नहीं हैं। माया भी अद्वैतवादियों की दृष्टि में एक त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी भावरूप तत्व है।[4] त्रैतवादी भी प्रकृति को ब्रह्म के आश्रित तथा त्रिगुणात्मक मानते हैं। अन्तर इतना है कि अद्वैतवादी इसे अनिवर्चनीय[5] मानते हैं और त्रैतवादी निर्वचनीय।[6]

१– आयुर्जीवेभ्यो विदधत्। अथर्व० १८।४।५३।
इमे जीवाः। ऋ० १०।१८।३।
जीवानामायुः। अथर्व० १२।२।४५।
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि। पृ० १०।१८।४।
वयं जीवाः। ऋ० १०।३७।८।
जीवेभ्यस्त्वा। अथर्व० ८।१।१५।

२—ऋ० १०।१२९।२।

३—स्वधया। स्वस्मिन् धीयते ध्रीयते आश्रित्य वर्तत इति स्वधामाया।
तस्माद्ध तस्मात् खलु पूर्वोक्तात् माया सहितात् ब्रह्मणः अन्यत् किंचन किमपि वस्तु भूयभौतिकात्मकं जगत् न आस स बभूव ॥ वहीं सायण भाष्य पृ० ७७९।

४– त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम्। वेदान्तसार पृ० १४।

५ - सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्। वहीं

६—सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृति। सांख्य १।२६।

वेद मन्त्र के 'स्वधा' शब्द में 'अप्रधान' अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है ।[1] यहाँ प्रधान ईश्वर को बतलाया गया है तथा अप्रधान 'स्वधा' तत्व को । वस्तुतः जगतसृजन में या संसार में प्रधान-मुख्य-सर्वोपरि तो ईश्वर ही है । इसी लिये ऋचा में कहा है उससे 'परः' बढ़कर कोई नहीं है । अस्तु 'स्वधा' शब्द से यहाँ ऐसे तत्व का उल्लेख है जो ईश्वर के साथ रहता है तथा अप्रधान होने से उससे भिन्न भी है, वही त्रिगुणात्मक प्रकृति है ।

(ख) तमस्

इसी नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] में कहा है कि प्रलयावस्था में 'असत्' नहीं था और न सत् (कार्यजगत) था । फिर क्या था ? स्वयं ही वहाँ तीन तत्वों की विद्यमानता स्वीकार की है—'स्वधा' और 'तमस्' शब्द से प्रकृति की 'तदेकम्' शब्द से ईश्वर को तथा 'रेतोधा' शब्द से जीवात्मा की ।[3] प्रलयावस्था में तीनों तत्व रहते हैं यही नासदीय सूक्त का सारांश है । प्रकृति वाचक[4] तमस् शब्द का प्रयोग तो अति स्पष्ट शब्दों में वहां पर किया है ।[5] आचार्य सायण भी 'तमस्' का अर्थ माया रूपी भावरूप अज्ञान तत्व करते हैं ।[6] वस्तुतः यहां 'तमः' शब्द का अर्थ प्रकृति ही होना चाहिये । परवर्ती साहित्य में भी प्रकृत्यर्थ में तमस् शब्द प्रयुक्त है ।[7]

(ग) माया

वेद में 'माया' शब्द प्रकृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हैं । एक ऋचा में कहा है—

'पतंगमक्तमसुरस्यमायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।[8]

१—सहयुक्तेऽप्रधाने । अष्टाध्यायी सू० २।३।१९ ।

२—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् । ऋ० १०।१२९।१ ।

३—देखिये - स्वधयातदेकम् । वहीं १०।१२९।२ ।
तम आसीत् । वहीं १०।१२९।३ ।
रेतोधा आसन् । वहीं १०।१२९।५ ।

४—अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम् ।
अव्यकृतं तमः पुष्पं क्षेत्रमक्षरनामकम् ।। सांख्यसंग्रहे पृ० ५ ।

५—तम आसीत्तमसागूढ़हमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । ऋ० १०।१२९।३ ।

६—आत्मतत्वस्यावरकत्वान्यायापरसञ्ज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तमइत्युच्यते । ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० ७८० ।

७—तमोभूतम् । मनु० १।५। इस पर देखिये कुल्लूकभट्ट भाष्य मनु० पृ० ४ ।

८—ऋ० १०।१७७।१ ।

इस ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—'सर्व उपाधियों से रहित परब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली त्रिगुणात्मिका माया जिस से व्यक्त होती है उस व्यापक परमेश्वर को विद्वान लोग एकाग्र मन से देखते हैं।[1]

वस्तुतः मूलग्रन्थों में माया और प्रकृति एकार्थ में प्रयुक्त हुए हैं[2] परन्तु अद्वैतवादियों ने प्रकृति को सांख्य-प्रतिपादित तत्व मानकर 'माया' को 'अद्वैतमत के समर्थन में स्वीकार किया है,[3] लेकिन इस भेद भ्रांति को श्वेताश्वतरोपनिषद् ने प्रकृति और माया को एक अर्थ में प्रयुक्त करके स्पष्ट रूप से मिटा दिया है।[4]

अस्तु यहाँ भी 'माया' शब्द प्रकृति के अर्थ में समझना चाहिये।

(घ) असत्

वेद में 'सत्' शब्द ईश्वर के लिये भी प्रयुक्त है[5] तथा कार्यरूप जगत् के लिये भी प्रयुक्त है।[6] तथा 'असत्' शब्द अभाव अर्थ में भी प्रयुक्त है[7] तथा कार्यरूप 'सत्' (व्यक्त) के विपरीत 'असत्' (अव्यक्त) प्रकृति के रूप में भी' प्रयुक्त है।[8] उपनिषद् में भी असत् शब्द अभाव अर्थ में तथा 'सत्' शब्द भावरूप 'सत्तात्मक' तत्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[9] प्रसंगानुकूल अर्थ लगाने से इन शब्दों का विरोधाभास मिट जाता है।

अस्तु, वेद की ऋचा में 'असत्' शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में भी हुआ है, वहां कहा है—'असत् से सत् उत्पन्न हुआ।'[10]

१—असुरस्य असुरनकुलस्य सर्वोपाधिविहीनस्य परब्रह्मणः सम्बन्धिन्या मायया त्रिगुणात्मिकया अक्तं व्यक्तम् विपश्चितः विद्वांसः हृदा हृत्स्थेन मनसा पतंगम् पतति व्याप्नोति इति पतंगः परमात्मा तं पश्यन्ति जानन्ति। ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० ८७२।

२—अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानम्। सांख्यसंग्रहे पृ० ५।

३—सांख्य प्रसिद्धा प्रकृति वेदान्त प्रसिद्धा ईश्वरायतामाया। सायण भाष्य ऋ० १।१६४।४।

४—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० उ० ४।१०।

५—एकं सत्। ऋ० १।१६४।४६।

६—सदजायत। ऋ० १०।७२।२।

७—नासदासीत्। ऋ० १०।१२९।१।

८—असतः सदजायत। वहीं

९—असदेवेदमग्र आसीत्। छान्दोग्य० उ० ६।२।१। वहीं आगे 'असत्' को अभावरूप तत्व मानकर कहा है—

'कथमसतः सज्जायेत्।' वहीं ६।२।२। बाद में निर्णय दिया है।

सत्वेव सौम्य इदमग्र आसीत्। वहीं।

१० —असतः सदजायत। ऋ० १०।७२।२।

यहाँ 'असत्' शब्द प्रकृति के अर्थ में तथा 'सत्' शब्द कार्य जगत् के रूप में प्रयुक्त है।

पं० जयदेव शर्मा ने इस ऋचा के भाष्य में असत् का अर्थ प्रकृति ही किया है।[1]

(ङ) अदिति

वेद में[2] 'अदिति' शब्द प्रकृति के अर्थ में भी प्रयुक्त है। 'अदिति' शब्द का अर्थ है अखण्डित अर्थात् अविनाशी। प्रकृति के परमाणु भी अखण्डित या अविनाशी हैं। मन्त्र में अदिति को माता कहा है। यास्काचार्य लिखते हैं :—

'अदितिरदीनादेवमाता।'[3]

पं० भगवदत्त इस पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'अदितिः अदीना—नहीं दीन कभी—सदा परिपूर्णा—मूल प्रकृति।[4]

महर्षि दयानन्द ऋग्वेद के इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं—

'ईश्वर, जीव और प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इनके अविनाशी होने से उनकी भी अदिति संज्ञा हैं।'[5]

उदयवीर शास्त्री ने भी 'अदिति' शब्द का अर्थ प्रकृति स्वीकार किया है।[6] श्रीपाद दामोदर सातबलेकर भी अदिति का प्रकृति अर्थ स्वीकार करते हैं।[7]

(च) अनस्था

आचार्य सायण के अनुसार वेद में 'अनस्था' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है।[8] मन्त्र भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—

'अनस्था' अर्थात् शरीर रहित सांख्य प्रसिद्ध प्रकृति तथा वेदान्त प्रसिद्ध ईश्वराधीन माया गर्भ की तरह (कार्य जगत् को) धारण किये हुए हैं उसे किसने देखा।[9]

१—देखिये जयदेव शर्मा भाष्य ऋग्वेद पृ० ११८।

२—अदितिर्द्योरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता। ऋ० १।८९।१०।

३—निरुक्त ४।२२।

४—निरुक्तम् भगवद्दत्त भाष्य पृ० २४०।

५—महर्षि दयानन्दभाष्य ऋग्वेद पृ० ४४५।

६—सांख्यसिद्धान्त पृ० १३९।

७—एक ईश्वर की पूजा पृ० ६३।
(देखिये वहाँ अदितेरुपस्थे। ऋ० १०।५।७। पर उन्हीं का भाष्य)

८—को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। ऋ० १।१६४।४।

९—अनस्था अस्थिरहिता अशरीरा सांख्य प्रसिद्धा प्रकृतिः वेदान्तप्रसिद्धा ईश्वरायत्तमाया बिभर्ति गर्भवदन्तर्धारयति।। देखिये—वहीं सायण भाष्य।

(छ) गुणत्रय

प्रकृति त्रिगुणस्वरूपा है, इन तीनों गुणों का वेद में स्पष्ट उल्लेख है।[1]

महर्षि दयानन्द[2] और डा० राधाकृष्णन् ने भी वेद में प्रकृति के अनादित्व को स्वीकार किया है।[3] इन प्रमाणों से वेद में त्रैतवादानुमोदित प्रकृति की नित्य सत्ता सिद्ध है।

४—वेद में ईश्वर और जीवात्मा में भेद प्रतिपादक सम्बन्ध

(क) शासक और शासित

ईश्वर सभी जीवात्माओं के ऊपर शासन कर रहा है। सभी जीवात्मायें उससे शासित हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र[4] में कहा है—'जो श्वास लेने वालों का, पलकों को चलाने वालों का, दो पैर वालों का, चार पैर वालों का, सभी प्राणियों का, एक ही राजा है उस सुख स्वरूप प्रजापति परमात्मा की हृदय और आत्मा से भक्ति करें।'[5]

यहाँ ईश्वर और जीवात्माओं का शासक और शासित सम्बन्ध स्पष्ट है।

(ख) स्वामी और स्व-भाव

जीवात्माओं का ईश्वर स्वामी है ऋग्वेद में कहा है :—

'विश्वस्यमिषितो वशी'।[6]

इस पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते है—'निमिषादि से युक्त सम्पूर्ण प्राणियों का जो स्वामी है।[7]

१—त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। अथर्व० १०।८।४३।

२—देखिये ऋग्वेद १।१६४।४। दयानन्द भाष्य पृ० ६१८।

३—In X : 121 we have an account of creation of the world be an omnipotent God out pre-exis tent matter.
Indian philosophy V-I. P-1001

४—यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० १०।१२१।३।

५—सायण भाष्य ऋग्वेद पृ० ७५२।

६—ऋ० १०।१९०।२।

७—मिषतो निमिषादि युक्तस्य विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य वशी स्वामी भूत्वा वर्तते॥

वहीं सायण भाष्य पृ० २८।

(ग) सर्वज्ञता और अल्पज्ञता

वेद में ईश्वर और जीवात्मा में मौलिक अन्तर यह बतलाया गया है कि ईश्वर सर्वज्ञ है। उसे अपनी बनाई हुई सृष्टि का ज्ञान है।[1] परमेश्वर के विषय में वेद में कहा है—

'स इतन्तु स विजानात्योतुम्।'[2]

आचार्य सायण यहाँ 'सः' का अर्थ परमात्मा करते हुए लिखते हैं —'वह परमात्मा ही सूक्ष्म और स्थूल प्रपंच को जानता है।[3]

यहां 'स इत्' कहने का तात्पर्य है कि वही एक ईश्वर इस जगत् को जानता है[4] अतः वही सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञ है उसमें अल्पज्ञता या अज्ञता का कोई कारण नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा सर्वशक्तिमान[5] भी है। उससे अतिरिक्त प्रकृति, जीव, आदि तत्व सर्वशक्तिमान नहीं है, अतः उस सर्वशक्तिमान शक्ति को कोई भी तत्व अपने प्रभाव से अल्पज्ञ नहीं बना सकता। जैसा कि अद्वैतवादी कहते हैं कि अज्ञान की दो शक्तियां हैं, आवरण और विक्षेप।[6] आवरण शक्ति से अज्ञान ब्रह्म को आच्छादित कर देता हे और विक्षेप शक्ति से जगत् को प्रतीति कराता है। अद्वैतवादियों की दृष्टि में ब्रह्म ही स्वयं अज्ञान की आवरण शक्ति से आवृत्त हो जाती है और अल्पज्ञ हो जाता है तथा अज्ञान की विक्षेप शक्ति से वही जगत् की मिथ्या प्रतीति करता है। यदि अद्वैतवादियों से पूछा जाय कि वह ब्रह्म इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाएं क्यों करता है? तो अद्वैतवादियों के पास इसका कोई सन्तोषजनक वैज्ञानिक उत्तर नहीं हैं। अद्वैतवादी 'विवर्त'[7] का सहारा लेकर कहते हैं कि जब किसी पदार्थ में अयथार्थ मिथ्या प्रतीति होती है और इसी कारण से वह दूसरी वस्तु दिखाई देने लगती है तब उसे विवर्त कहते हैं। प्रश्न वही है कि यह मिथ्या प्रतीति किसको होती है तब वे उत्तर देते हैं कि यह मिथ्या प्रतीति (अज्ञों) बच्चों को ही होती है।[8] उनसे पूछा जाय कि ये अज्ञ या बालक कौन

१—विधाता धामानिवेद भुवनानि विश्वा। ऋ० १०।८२।३।

२—ऋ० ६।९।३।

३—ऋग्वेद सायण भाष्य पृ० २६।

४—य ईं चिकेत। वहीं ६।९।३।

५—शाकिने। वहीं १।५४।२। देखिये इस पर दयानन्द भाष्य ऋ० पृ० २९८। न कुतश्चनोनः। अथर्व० १०।८।४४। न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। यजु० २७।३६

६—अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। वेदान्त सार पृ० २८।

७—अतत्वन्तोन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितितः। वेदान्तसार पृ० ४६।

८—बालान् प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।
सांख्य संग्रहे सांख्यतत्व प्रदीप। पृ० १५७।

है। तब अन्त में यही कहते हैं कि ये भी व्यष्टि अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही है[1] और अन्त में कह देते हैं कि यह जगत् मात्र ब्रह्म का ही मिथ्या खेल है।

त्रैतवादियों के मत में ब्रह्म सर्वज्ञशक्तिमान् है और जीवात्मा उसके स्वरूप से भिन्न 'अल्पज्ञशक्तिमान्' है। जीवात्मा स्वयं को असमर्थ बतलाते हुए कहता है—मेरा चेतन रूप आत्मा, पतन की तरफ चला जाता है। मेरा मन दूर तक चला जाता है मैं किससे कहूँ मैं कैसे जानूं।[2] वहीं पर जीवात्मा यह भी कह देता है कि—

'नाहं तन्तु न विजानाम्योतुम्'।[3]

अर्थात् मैं सूक्ष्म और स्थूल प्रपंच को नहीं जानता हूं।[4] वस्तुत: वेद में जीवात्मा की अल्पज्ञता स्थान-स्थान पर वर्णित है।[5]

(घ) पिता और पुत्र

लोक में जैसे पिता और पुत्र में व्यावहारिक भेद है और आत्मिक भिन्नता भी है। उसी प्रकार वेद में परमात्मा को पिता कहा है और जीवात्मा को पुत्र,[6] दोनों यह सम्बन्ध दोनों की भिन्नता का सूचक हैं।

१—तम: प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्य: पृथ्वी चोत्पद्यते वेदान्तसार पृ० २८। तथा देखिये—संसारदशायां चरन् अन्त:करणोपेतेन जीवात्माभावेनसंचरन् पर: परस्तादविद्याया ऊर्ध्वं वर्तमानेनान्येन उक्तलक्षण बिलक्षणेन निरुपाधिकेन सच्चिदानन्दादिलक्षणेन रूपेण पश्यन् सर्वं जगत् जानाति। ऋ० ६।९।३। पर सायण भाष्य पृ० २६।

२—विमे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वीदंज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
विमे मनश्चरति दूर आधि: किंस्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ऋ० ६।९।६।

३—वहीं ६।९।२।

४ देखिये वहीं सायण भाष्य पृ० २८।

५—अचिकित्वान् चिकितुष:—पृच्छामि। ऋ० १।१६४।६।
न विजानामि वहीं १०।१६४।३७।
नाह देवस्यमर्त्य: चिकेत। ऋ० १०।७९।४।

६—स न: पिता। अथर्व० २।३६।३।
पितानोऽसि। यजु० ३८।२०।
त्वं हि न: पिता वसो:। साम० ८।२।
स न: पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। ऋ० १।१।९।
वो न: पिता। यजु० ३८।८५।

(ङ) एक और अनेक

वेद में ईश्वर को एक ही कहा है[१] तथा जीवात्माओं को बहुवचन में अनेक बतलाया है।[२] एक स्थान पर तो यहाँ तक कह दिया है – तू (एक हमारा है, हम (बहुत) तेरे हैं।[३]

(च) व्यापक और व्याप्य

वेद में ईश्वर को व्यापक तथा जीवात्मा को व्याप्य कहा है।[४] यह सम्बन्ध दोनों की भिन्नता में ही बन सकता है। इसी लिये वेद में स्पष्ट कह दिया है कि वह ईश्वर तुमसे भिन्न है।[५]

५—वेद में ईश्वर और प्रकृति की भिन्नता

वेद में ईश्वर को चेतन[६] तथा अनन्त सत्ता बतलाया है।[७] प्रकृति को उसके सम्मुख तुच्छ[८] अतएव ईश्वर से आच्छादित कहा है।[९] ईश्वर गुणातीत है। प्रकृति गुणात्मिका है।[१०] ईश्वर इस प्रकृति में रहता हुआ भी इसके फल नहीं खाता।[११] वह अपरिणामी है परन्तु प्रकृति परिणामी है।[१२] ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। प्रकृति मूल उपादान कारण है।[१३] इस प्रकार वेद में दोनों में स्वरूप से भिन्नता स्पष्ट की गई है।

त्रैतवाद में भी ईश्वर और प्रकृति में इसी प्रकार का भेद माना जाता है।

१—य एक इत्। ऋ० ५।५१।१६
एक एव। ऋ० १०।८२।३।

२—इमे जीवाः। ऋ० १०।१८।३।
वयं जीवाः। ऋ० १०।३६। ८।

३—त्वमस्माकम् तव स्मसि। ऋ० ८।९२।१२।

४—अन्तरं बभूव। ऋ० १०।८२।७।

५—अन्यद् युस्माकम्। वहीं

६—चित्तम्। अथर्व० १८।४।१४।

७—अनन्तं चित्तम्। अथर्व० १०।८।१२।

८—तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्। ऋ० १०।१२९।३।

९—ईशावास्यमिदं सर्वम्। यजु० ४०।१।

१०—अथर्व० १०।८।४३।

११—अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति। ऋ० १।१६४।२०।

१२—सं च विचेति। यजु० ३२।८।

१३—ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।
देवानां पूर्वे युगे सतः सदजायत। ऋ० १०।७२।२।
जैसे निमित्त कारण लुहार उपादानकारण लोहे को लेकर शस्त्रादिकार्य उत्पन्न करता है उसी प्रकार निमितकारण ब्रह्म उपादान कारण (असत् प्रकृति) से कार्य रूप (सत्) को बनाता है। यहाँ ईश्वर को निमित कारण तथा प्रकृति को उपादान कारण बतलाना मन्त्र का अभिप्राय है। लेखक

६—वेद में जीवात्मा और प्रकृति की भिन्नता

जीवात्मा चेतन होने से गतिशील है।[1] प्रकृति में गतिशीलता ईश्वर के कारण है।[2] कार्यरूप अचेतन जगत् में जीवात्मा के कारण भी गतिशीलता बनी रहती है जैसे शरीर आदि में। प्रकृति तथा उससे उत्पन्न कार्य जगत् अचेतन हैं। जीवात्मा के लिये वेद में कर्म करने का आदेश है[3] तथा उसे कर्मों का फल भोगने वाला कहा है[4] परन्तु प्रकृति भोग्य है। जीवात्मा त्रिगुणों से प्रभावित तो होता है परन्तु स्वरूप त्रिगुण नहीं है परन्तु प्रकृति स्वरूप से त्रिगुणात्मिका है।[5]

७—ऋग्वेद का नासदीयसूक्त और त्रैतवाद

दार्शनिक दृष्टि से नासदीय सूक्त विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र[6] में कहा है कि प्रलयावस्था में 'असत्' नहीं था। आचार्य सायण 'असत्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'प्रलयावस्था में अवस्थित इस जगत् का मूलकारण खरगोश के सींगों की तरह असत् नहीं था, क्योंकि असत् से सत् जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'नसदासीत्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए सायण वहीं लिखते हैं—न उस समय यह जगत् ब्रह्म की तरह सत्ता के निर्वाच्य (लक्षण करने योग्य) था।[7] इससे स्पष्ट है कि प्रलय के समय न तो सत्ताओं का अभाव था और न यह 'सत्' कार्य जगत् था। जब कार्य जगत् नहीं था तो न रज थे, अर्थात् लोक लोकान्तर न थे।[8] तब प्रलयावस्था में क्या था ?[9] इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम ऋचाओं में दिया है।

सर्वप्रथम कहा है—स्वधा (प्रकृति) के साथ वह परमेश्वर एक था, उससे बढ़कर कुछ नहीं था।[10] अद्वैत-

---

१—अपाङ् प्राङति। ऋ० १।१६४।३८।

२—तस्मिन्निदं संच विचेति सर्वम्। यजु० ३२।८।

३—कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजिविषेत्। यजु० ४०।२।

४—अश्नः। १।१६४।१।

पिप्पलं स्वाद्वत्ति। ऋ० १।१६४।२०।

५—पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। अथर्व० १०।८।४३।

६—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमा परोयत्।। ऋ० १०।१२९।१।

७—तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणम् तत् असत् शशविषाणवन्निरुपाख्यं न आसीत्। न हि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति। तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्वे निर्वाच्यम् आसीत्। ऋ० १०।१२९।१। सायण भाष्य, पृ० ७७९।

८—लोका रजांसि उच्यन्ते। निरुक्त ४।१९।

९—किमासीत्। ऋ० १०।१२९।१।

१०—स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास। ऋ० १०।१२९।२।

वादी यहाँ 'परः' का अर्थ दूसरा कुछ नहीं था ऐसा करते हैं[१] परन्तु 'परः' का अर्थ 'बढ़कर' करना चाहिये—क्योंकि ब्रह्म के साथ दूसरी शक्ति स्वधारूप में यहाँ विद्यमान ही हैं और जीवात्माओं का अस्तित्व प्रलयावस्था में अद्वैतवादी भी मानते हैं।[२] यदि दूसरा कुछ नहीं था यही इस सूक्त का अभिप्रेत होता तो इसी मन्त्र से आगे के मन्त्रों में अन्य सताओं के अस्तित्व का वर्णन न होता परन्तु इस ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सताएँ भी वर्णित हैं। हाँ, उस ईश्वर से बढ़कर कोई नहीं था यही 'परः' का तात्पर्य है।

प्रकृति का स्वधा नाम से उल्लेख करके पुनः प्रकृति के विषय में कहते हैं कि प्रलयावस्था में 'तमस्' अर्थात् प्रकृति थी।[3]

तीसरे तत्व के विषय में कहते हैं कि 'रेतोधाआसन्'[४] अर्थात् जीवात्मा थे। सायण भी 'रेतोधा' का अर्थ जीवात्मा करते हैं।[५] इस सूक्त में तीनों तत्व वर्णित है।[६] ईश्वर (तदेकम्), जीवात्मा (रेतोधाः), और प्रकृति (स्वधा, तमस्) इन तीनों तत्वों का प्रलयावस्था में स्पष्ट उल्लेख किया गया है। प्रलयावस्था में भी तीनों की विद्यमानता तीनों के अनादित्व को भी सिद्ध करती है।

नासदीय सूक्त के विषय में पं० धर्मेन्द्र विद्यामार्तण्ड लिखते हैं—'ब्रह्म, जीव और प्रकृति की सत्ता का इस नासदीय सूक्त में स्पष्ट निर्देश होने से इसे अद्वैतवाद-प्रतिपादक समझना भूल है।[७] वहीं पर वे आगे लिखते हैं 'नासदीय सूक्त तथा अन्य वेद मन्त्रों से अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता किन्तु ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन अनादि पदार्थों की सता सिद्ध होती है।[८]

८—वेद के एक एक मंत्र में तीनों की सता

वेदों में कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जहाँ एकत्र ही ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की सत्ता का स्पष्ट निर्देश है। निम्नलिखित मन्त्र देखिये :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[९]

१—मायासहितात् ब्रह्मणः अन्यत् किमपि वस्तु न आसीत्। वहीं सायण भाष्य पृ० ७७९।

२—देखिये—ऋ० १०।१२९।५ पर सायण भाष्य पृ० ७८०।

३—देखिये—ऋ० १०।१२९।५ पर सायण भाष्य पृ० ७८०।

४—तम आसीत्। ऋ० १०।१२९।३।

५—ऋ० १०।१२९।५।

६—रेतसोबीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः।
ऋ० १०।१२९।५। सायण भाष्य, पृ० ७८०।

७—वेदों का यथार्थ स्वरूप: पृ० १७१।

८—वहीं पृ० १७३।

९—ऋ० १।१६४।२०।

इस मन्त्र का भाव स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—'जीव, परमात्मा और जगत् का कारण ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव और परमात्मा यथाक्रम से अल्प, अनन्त, चेतन, विज्ञानवान्, सदा विलक्षण, व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त और मित्र के समान वर्तमान हैं। वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी अनित्य और नित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कार्यों को करके उनके फलों को भोगते हैं। और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फलों को देने से न्यायाधीश के समान देखता है।[1]

राहुल सांकृत्यायन,[2] श्री नारायण स्वामी,[3] डा॰ हरिदत्त[4] आदि विद्वानों ने भी इस ऋचा का यही अर्थ स्वीकार किया है।[5]

आचार्य यास्क ने 'सुपर्णा' का अर्थ आत्मा और परमात्मा किया है तथा वृक्ष का अर्थ शरीर किया है। सायण ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।[6]

विद्वानों में 'सुपर्णा' के अर्थ में मतभेद नहीं है, परन्तु 'वृक्ष' के अर्थ में उनका मतैक्य नहीं है। कुछ भी हो इस ऋचा में 'वृक्ष' तत्व ईश्वर और जीव से भिन्न रूप में ही निर्दिष्ट है। वृक्ष का अर्थ शरीर करना उतना अच्छा नहीं जितना कि प्रकृति अर्थ करना क्योंकि शरीर तो एक साधन है। जीवात्मा अपने शरीर के द्वारा ही प्रकृति का भोग करता है, अर्थात् प्रकृति के फलों को चखता है परन्तु परमेश्वर प्रकृति का भोक्ता नहीं वह केवल जीवात्मा को भोगते हुए देखता है। इस ऋचा में तीन तत्वों का निर्देश स्पष्ट है।

वेद की निम्नलिखित ऋचा में भी काव्यमय भाषा में त्रैतवाद का अस्तित्व वर्णित है—

बालादेकमणीयस्कम् उतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥[7]

इस ऋचा के प्रथम वाक्य में कहा है कि एक तत्व बाल से भी अधिक सूक्ष्म है। यह तत्व जीवात्मा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस वाक्य की स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखा है—'बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जावें फिर उनमें से एक-एक के सौ भाग किये जावे उतना भाग जीवात्मा के स्वरूप का है।[8]

१—वहीं महर्षि दयानन्द भाष्य, पृ॰ ६१८।

२—दर्शनदिग्दर्शन पृ॰ ४२१।

३—कठ॰ उ॰ ३।१। नारायण भाष्य पृ॰ ५०।

४—वेदवाणी अंक ३ पृ॰ १०।

५—सुपर्णा सरूपता सखायेत्यात्मानं परमात्मानं प्रत्युतिष्ठति।
शरीर एव तज्जायते वृक्षम् वृक्षम् शरीरम्, निरुक्त १४।३०। पृ॰ ९९७।

६—अत्र लौकिक पक्षिद्वय दृष्टान्तेन जीव परमेश्वरौ स्तूयेते। वहीं सायण भाष्य, पृ॰ ६६०।

७—अथर्व॰ १०।८।२५।

८—बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः। श्वेता॰ उ॰ ५।६।

ऋचा का दूसरा वाक्य है कि- एक नहीं दिखाई देता है। यह वाक्य प्रकृति की सूक्ष्मता के लिये है। वही सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देती।[1]

तीसरा वाक्य है इनको आलिंगन करने वाला जो देवता है वह मेरा प्यारा है। अपनी सर्वव्यापक्ता से ईश्वर इन दोनों का आलिंगन किये हुए हैं। वही सबसे अधिक प्रिय तत्व है। तीनों तत्वों का यहाँ निर्देश है।

इस ऋचा पर भाष्य करते हुए पं० धर्मदेव लिखते हैं—'तीन पदार्थ अनादि हैं। उनमें से एक जीव बाल से भी सूक्ष्म है और प्रकृतिरूप नित्य पदार्थ अव्यक्त वा सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता। इन दोनों को भी अन्तर्यामीरूप से मानो आलिंगन करने वाली जो देवता है, वही परमेश्वर रूप देवता मुझे सबसे अधिक प्रिय है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव, प्रकृति का स्पष्ट निर्देश इस मन्त्र में पाया जाता है।[2]

डा० हरिदत्त[3] तथा बिहारी लाल शास्त्री[4] भी इस ऋचा में त्रैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

एक और ऋचा देखिये—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्यभ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयोभ्राता धृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम्॥[5]

इस मन्त्र में त्रैतवाद का प्रतिपादन करते हुए स्वामी वेदानन्द लिखते हैं—यह संसार इस चाहने योग्य सर्वबुद्ध प्रभु का है, भोक्ता जीव उसका बीच का भाई है। इनमें तीसरा भाई 'धृतपृष्ठ' प्रकृति है। उस प्रकृति के सात पुत्र हैं—१-महत्तत्व, २-अहंकार, ३-पाँच तन्मात्रायें।[6]

निम्नलिखित ऋचा में भी तीनों का निर्देश है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।[7]

यहाँ पर 'यः' शब्द ईश्वर के लिये प्रयुक्त है। 'इमा' शब्द अचेतनतत्व सृष्टि के लिये प्रयुक्त है तथा 'अन्यद्युष्माकम्' कहकर जीवात्माओं से ईश्वर की पृथक् सत्ता बतलाई गई है।

पं० जयदेव शर्मा ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—'आप उसको नहीं जानते जिसने यह सृष्टि पैदा की है, जो तुमसे पृथक् शक्ति है, परन्तु तुम्हारे अन्दर भी व्यापक है।[8] आचार्य सायण ने इस ऋचा का अद्वैतपरक

१—सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। सांख्य० ५।७४।

२—वेदों का यथार्थ स्वरूप पृ० १६८।

३—लेख-त्रैतवाद की वैदिकता, वेदवाणी अंक ३ जनवरी १९६४ पृ० १०।

४—वेदान्त दर्शन की भूमिका पृ० १।

५—ऋ० १।१६४।१।

६—वैदिक धर्म पृ० ५६।

७—ऋ० १०।८२।७।

८—वही पं० जयदेव शर्मा भाष्य पृ० २२६।

अर्थ किया है।[1] परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप में ईश्वर को जीवात्माओं से भिन्न तत्व बतलाया गया है तथा उसे सृष्टि का निमितकारण बतलाया गया है, उपादानकारण प्रकृति ही है। अतः यहाँ तीनों तत्वों की सत्ता विद्यमान है।

इसी प्रकार 'त्रयः सुपर्णाः[2]' इस ऋचा में क्षेमकरण ने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।[3] 'त्रयः केशिनः'[4] इस ऋचा में स्वामी वेदानन्द ने त्रैतवाद का निर्देश किया है।[5]

६—निष्कर्ष

वेदों में त्रैतवाद के विषय में नारायण स्वामी लिखते हैं—'पहला मन्तव्य वेदों का त्रित्ववाद है, अर्थात् वेद ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं।[6] डा० श्रीराम लिखते हैं—वेद ने भी ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि स्वीकार किया है।[7]

वेद में अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाले आचार्य सायण के विषय में प्रो० दामोदर लिखते हैं 'सायण पूर्णरूप से अद्वैतवाद सिद्धान्त को मानते थे क्योंकि विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहर, बुक्क शृंगेरीपीठ के प्रबल समर्थक एवं आश्रयदाता थे। इस शृंगेरी मठ के विशेष विद्वान विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ, तथा श्रीकण्ठाचार्य सायण के गुरु थे। इन सभी कारणों से सायण वेद भाष्य में अद्वैतवाद के पक्षाग्रह से ग्रसित रहे हैं।[8]

वस्तुतः ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का स्वरूप, तथा परस्पर स्वरूप भेद, और अनादित्व वेद में वर्णित है अतः त्रैतवाद का उद्भव भी निश्चित रूप से वेदों से ही माना जायगा। दर्शन के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए डा० नरेन्द्रदेव और डा० हरिदत शास्त्री ने लिखा है -'प्राचीन ऋग्वेदकाल से ही दर्शनों के मूल तत्वों के विषय में कुछ न कुछ संकेत हमारे साहित्य में मिलते हैं। बीज से उठते हुए अंकुरों के समान आगे चलकर ये दार्शनिक विचार धारायें क्रमशः विकसित होती गईं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक में क्रमशः विकास पाते हुए ये विचार उपनिषदों में पल्लवित हुए और वहाँ से अपने-अपने उपजीवी अंशों को लेकर विविध नामरूपों से प्रवाहित हुए।[9] अतएव उमेश मिश्र का यह कहना कि—'वेद का अपना न कोई दर्शन है न कोई मन्तव्य'[10] तर्कयुक्त नहीं है। वेदों में **त्रैतदर्शन तो अति स्पष्ट है और निश्चय से यही से इसका उद्भव मान्य है।**

१—वहीं सायण भाष्य पृ० ५६८।

२—अथर्व० १८।४।४।

३—अथर्ववेद क्षेमकरण भाष्य पृ० ९८९।

४—ऋ० १।१६४।४४।

५—वैदिक धर्म पृ० ५८।

६—आर्य समाज क्या है ? पृ० ३३।

७—ईश्वर सिद्ध पृ० ७८।

८—ऋक् सूक्त वैजयन्ती पृ० ११-१२।

९—भारतीयदर्शन का इतिहास पृ० २४।

१०—उमेश मिश्र -भारतीयदर्शन पृ० १७।

ब्राह्मण

१—शतपथ ब्राह्मण

(क) ईश्वर

शतपथ ब्राह्मण में ईश्वर का वर्णन ब्रह्म, प्रजापति, अमृत, ओ३म् आदि नामों से किया गया है। ब्रह्म को अजन्मा[1] बतलाते हुए उसे अनादि माना है। वेद के एक मन्त्र[2] में आये हुए 'कः' शब्द का अर्थ शतपथ में प्रजापति किया[3] है। प्रजापति का अर्थ है 'उत्पन्न हुए जगत् का रक्षक', शतपथ में विश्वकर्मा का अर्थ भी प्रजापति किया गया है।[4] विश्वकर्मा का अर्थ है विश्व को बनाने वाला। ये शब्द उस ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं जो इस सम्पूर्ण जगत् का निर्माता है। एक स्थान पर उस ईश्वर को 'ओ३म्' नाम से आकाश के समान व्यापक कहा है।[5] और इस जीवात्मा को आदेश दिया है कि उस ओ३म् को याद कर।[6]

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने उस ईश्वर को 'अक्षर' कहकर उसके स्वरूप का वर्णन गार्गी के सामने इस प्रकार किया है—'हे गार्गी, यह वही अक्षर है जिसे विद्वान लोग स्थूलता से रहित, अणुरूप से रहित, छोटे और लम्बे परिमाण से रहित, लाल रंग से रहित, चिकनेपन से रहित, छाया और अन्धकार से रहित, वायु और आकाश के स्वरूप से रहित, आशक्ति रहित, स्पर्श और गन्ध से रहित, रस से रहित, चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन से रहित, अजर, अमर, अभय, और अमृतस्वरूप कहते हैं। उसे रज से रहित, शब्द से रहित, न फलने वाला न सिकुड़ने वाला, अपूर्व, जिसके बराबर कोई दूसरा नहीं है, जो भीतर और बाहर के भाव से रहित है, ऐसा कहते हैं।[7]

१—ब्रह्म वा अजः। शतपथ ब्राह्मण, पृ० ५३५।

२—कस्मै देवाय हविषा विधेम। ऋ० १०।१२१।१।

३—प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्॥ शतपथ ब्रा० ७।४।१।१९।

४—प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। वहीं, ब्राह्मण॥ १३, पृ० ६४९।

५—ओम् खं ब्रह्म। वहीं ब्राह्मण ४।८।१।

६—ओ३म् क्रतो स्मर। शतपथ० १।६।८।३।

७—एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायवनाकाशमसंगमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोतेजष्कमप्राणममुखमनामगोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपसमन्तरमबाह्यम्॥
शतपथ। ८।१४।६।८।१, पृ० १०७५।

शतपथ में ईश्वर को ही ब्रह्म कहा है। एक कण्डिका में लिखा है वह अक्षर ब्रह्म सबसे पहले था। वह अपने को जानता था कि मैं ब्रह्म हूँ।[1] श्रैतवाद में ईश्वर का यही स्वरूप मान्य है।

(ख) जीवात्मा

शतपथ ब्राह्मण में जीवात्मा को विज्ञानमय पुरुष कहा है। इस शरीर में वह कहाँ रहता है यह बतलाते हुए कहा है —'यह विज्ञानमय पुरुष इन प्राणों के' विज्ञान से विज्ञान को लेकर अन्तर्वर्ती हृदयाकाश में सोता है।[2] इस आत्मा के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया है कि—'आत्मा क्या है ?[3] उसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया है' जो यह विज्ञानमय पुरुष है, यह प्राणों में है। हृदय की ज्योति है। वह समानभाव से दोनों लोकों में चलता है। वह सोचता सा है, वह चलता सा है। वह स्वप्न द्वारा इस लोक का अतिक्रमण करता है।[4] आगे ऋषि कहते हैं — यही पुरुष उत्पन्न शरीर में आकर पापों के सम्पर्क में आता है और यहाँ से उठकर मरने के पश्चात मृत्यु रूप पापों से छूट जाता है।[5] यहाँ जीवात्मा का स्थान इस शरीर में हृदयाकाश माना है। जीवात्मा इस शरीर में पाप पुण्यों का कर्ता बनता है तथा पापों से छुटकारा भी पा लेता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए जीवात्मा को दोनों लोकों में जाने वाला माना है। इसी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए शतपथ में कहा है 'जैसे तिनके की जोंक तिनके के सिरे पर जाकर अपने अंगों को सिकोड़ लेती है उसी प्रकार यह पुरुष इस शरीर को मारकर और अचेतन करके अपने को सिकोड़ लेता है। जैसे सुनार सोने के टुकड़े लेकर दूसरा अच्छा और मनोहर रूप बना देता है इसी प्रकार यह आत्मा भी इस शरीर को मारकर और अचेतन करके नया अच्छा रूप धारण करता है, पितर का, गन्धर्व का, ब्राह्मण का या प्रजापति का या देव का या मनुष्य का या किसी अन्य प्राणी का।[6] फल प्राप्ति इस

१—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ॥ वहीं, १४।४।२।२१।

२—एषविज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेनविज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते ॥ वहीं, १४।५।१।१७, पृ० १०६१।

३—कतम आत्मेति। वहीं १४।७।१।७।

४—योऽयंविज्ञानमय पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति स समानः सन्नुभो लोको संचरति ध्यायतीव लेलायतीव सधी स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ॥ वहीं १४,७।१।७।

५—स वा अयं पुरुषो जायमानः। शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्पभिः संसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्पनो विजहाति मृत्यो रूपाणि ॥ वहीं कण्डिका ८।

६—तद्यथा तृणजलायुका, तृणस्यान्तं गत्वा त्मानमुपसंहरत्येवमेवा यं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽत्मानमुपसंहरति ॥ तद्यथा पेशस्कारी। पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतर रूपं तनुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा देवं वा मानुषं वाऽन्येभ्यो वा भूतेभ्यः ॥ वहीं १४।७।२।४,५।

जीवात्मा के कर्मों के अधीन बतलाते हुए कहा है—यह पुरुष कामना वाला है । जैसी इच्छा करता है वैसा ही आचरण करता है, जैसा आचरण करता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसी गति को प्राप्त करता है ।[1] जीवात्मा को अविनाशी बतलाते हुए कहा है—'यह आत्मा तो अविनाशी है । यह अनुच्छित्तिधर्मा है अर्थात् इसका उच्छेदन नहीं होता यह काटा नहीं जा सकता) इसका तो शरीर से संसर्गमात्र होता है ।[2] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में जीवात्मा को शरीरस्थ हृदयाकाश में रहनेवाला, अविनाशी तथा मृत्यु के समय इस शरीर को छोड़ने वाला माना गया है । एक स्थान पर कहा है—'रुद्र कौन है ? ये मनुष्य में १० प्राण हैं, आत्मा ग्यारहवाँ है । वे जब इस मर्त्य शरीर से निकलते हैं, तब रुलाते हैं ।[3]

(ग) प्रकृति

शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी सृष्टि उत्पत्ति का स्थान-स्थान पर वर्णन है । सृष्टि की उत्पत्ति में 'आपा' को सर्वप्रथम माना है ।[4] आपः शब्द आप्लृ व्याप्तौधातु से बनता है जिसका अर्थ है व्यापक तत्व । यह व्यापक तत्व परमाणु भी हैं । क्योंकि प्रलयावस्था में ये भी व्यापक रूप में रहते हैं । एक स्थान पर कहा है कि ये आप प्रथम सलिलावस्था में थे ।[5] सलिलावस्था का अर्थ है—'जिसमें सब लीना था ।[6] वस्तुतः प्रलयावस्था में यह कार्य जगत् ही अपने मूल कारण में लीन होता है । अतः आप- शब्द प्रकृति अर्थ में भी ध्वनित होता है ।[7] नारायण स्वामी ने भी 'आपः' का प्रकृति अर्थ किया है ।[8] आचार्य सायण ने 'आपः' का अर्थ जगत् का कारण किया है ।[9]

१—काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तथा क्रतुर्भवति ।
यथा क्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यत इति ।। वहीं १४।७।२।७ ।

२—अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रा संसर्गस्त्वस्य भवति ।।
वहीं १४।७।३।१५ ।

३—कतमे रुद्राइति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति ।
शतपथ ब्रा० ११।६।३।७ ।

४—आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापति प्रजापतिर्देवान् । वहीं १४।८।३।१ ।

५—अपो वा इदमग्रे सलिलमेवास । शतपथ० ११।१।६।१ ।

६—देखिये भगवद्दत्त-वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १७४ ।

७—सृष्टि के प्रारम्भ में 'आप' ही थे 'आप' अर्थात् सर्वत्रव्याप्त हो रही 'अव्यक्त प्रकृति' ही थी । प्रो० सत्यव्रत, एकादशोपनिषद् । पृ० ६१८ ।

८—नारायण स्वामी भाष्य, बृहदा० ५।५।१ । पृ० ५११ ।

९—आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । दत्यायां जगत्कारणत्वेनाम्नातत्वात्—आप एव उत्पत्तिकारणमाधारश्च ।। सायण भाष्य —तै० आ०, पृ० ५१ ।

१०—आपो ह यद्बृहतीर्गर्भमायन् । वहीं, १।२३।८ ।

तैत्तिरीयारण्यक में यही 'आपः' शब्द उपलब्ध है। वहाँ कहा है 'आपः' ने बृहद्गर्भ को धारण कर रखा था।[1] सायण ने वहाँ भी इसका अर्थ जगद्रूप को धारण करना लिखा है —'इसी आरण्यक में एक स्थान पर लिखा है— यह आप ही सलिल रूप में थे।[2] यहाँ भी सायण ने अर्थ किया है कि उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् 'आप रूप में ही था।[3]

पं० दामोदर सातवालेकर ने ऋग्वेद[4] और मनुस्मृति[5] में 'आपः' शब्द का अर्थ प्रकृति स्वीकार किया है।[6] तुलसीराम स्वामी ने भी 'आपः' का अर्थ प्रकृति स्वीकार किया है।[7] इन प्रमाणों से 'आपः' शब्द प्रकृति अर्थ में प्रयुक्त है, अतः यहाँ पर भी उसका प्रकृति अर्थ लेना समीचीन है। इस प्रकार शतपथ में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के विशिष्ट अस्तित्व से त्रैतवादी विचारों की विद्यमानता है।

२—सामविधान ब्राह्मण

(क) ईश्वर

इस ब्राह्मण में ईश्वर को उत्तम पुरुष माना है। उसे नमस्कार करते हुए लिखा है—'उत्तम पुरुष के लिए नमस्कार है।[8] उत्तम पुरुष का अर्थ आचार्य सायण ने भी परमेश्वर किया है।[9] वस्तुतः पुरुष तो जीवात्माएँ भी हैं, परन्तु वह परमेश्वर इन सबसे उत्तम पुरुष है। इसी स्थान पर नमस्कार करते हुए लिखा है 'तपस्वी[10] पुनः बसाने वाले।[11] कल्याण करने वाले[12] परमेश्वर के लिए नमस्कार है।[13] ब्रह्म को सृष्टि कर्त्ता मानते हुए प्रलयावस्था में भी

१—देखिये सायणभाष्य, वहीं, पृ० १४७।

२—आपो वा इदमासन्त्सलिलमेव। तै० आ० १।२३।१।

३—इदं जगद् इदानीमस्माभिर्दृश्यते तत इदम् उत्पतेः पूर्वम् आप एव सन्।
सायणभाष्य वही, पृ० १४१।

४—बृहती आपः। ऋ० १०।१२१।७ तथा यजु० २७।२५।

५—आपो नारा इति। मनु० १।१०।

६—देखिये—सातवलेकर यजुर्वेद का स्वाध्याय, पृ० ७४-७५।

७—तुलसीराम भाष्य, मनु०, पृ० ४५।

८—उत्तम पुरुषाय नमो नमः। सा० वि० ब्रा० १।२।७।

९—देखिये - सा० वि० ब्रा०, पृ० २६।

१०—तापसाय। वही।

११—पुनर्वसवे। वही।

१२—शिवाय—सा० वि० ब्रा० १।२।७।

१३—देखिये—सायण भाष्य, पृ० २६। (वही)

उसकी उपस्थिति स्वीकार की गई है ।[1] आचार्य सायण ने भी यहाँ पर ब्रह्म को सृष्टि कर्त्ता स्वीकार किया है ।[2] उसी ब्रह्म ने इस सम्पूर्ण भूत (प्राणी) समुदाय को बनाया तथा उन्हें जीवन के साधन दिये ।[3] इस प्रकार ईश्वर का वर्णन इस ब्राह्मण में विद्यमान है ।

(ख) जीवात्मा

जीवात्मा के लिए इस ब्राह्मण में 'पुरुष' शब्द का[4] प्रयोग किया है । आचार्य सायण ने भी इस 'पुरुष' शब्द का अर्थ हृदयस्थ जीवात्मा स्वीकार किया है ।[5] एक स्थान पर कहा है 'यह जीवात्मा पवित्र होकर ब्रह्म लोक को प्राप्त कर लेता है और फिर जन्म के बन्धन में नहीं आता है ।[6] इन सभी जीवात्माओं के लिए शरीरों का निर्माण वह ब्रह्म करता है ।[7] आचार्य सायण ने 'विश्वंभूतम्' का अर्थ किया है 'देव, तिर्यक् (पशु, पक्षी, कीटादि) तथा मनुष्यादि ।[8] इससे सिद्ध है कि जीवात्माएँ अनेक हैं । वे अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों को पाते हैं ।

(ग) प्रकृति

ब्रह्म शब्द प्रकृति के अर्थ में भी दार्शनिक ग्रन्थों में प्रयुक्त है । सांख्यतत्वविवेचन में विभानन्द ने प्रकृति के अर्थ में ब्रह्म का प्रयोग किया है ।[9] तत्वयाथार्थ्यं दीपनम् में भी ब्रह्म शब्द प्रकृति के पर्याय में प्रयुक्त है ।[10]

१—ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् । सा० वि० ब्रा० १।१।१ ।

२ देखिये—सायण भाष्य, पृ० २-३ ।

३—स वा इदं विश्वं भूतमसृजत । तस्य सामापो जीवनं प्रायच्छत ।
सा० वि० ब्रा० १।१।६ ।

४—पुरुषाय - नमो नमः । वही १।२।७ ।

५—हृदयपुण्डरीके शेते । तत्र पुरुष इत्यनेन मनुष्यादिरूपः । वही पृ० २६

६—शुचिः पूतः सन् ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते । न च पुनरावर्ते । वही

७ - स वा इदं विश्वं भूतमसृजत । सा० वि० ब्रा० १।१।६ ।

८ — विश्वं भूतं कृतस्नं देवतिर्यङ्मनुष्यादिभूतजातम् । वहीं, पृ० ७ ।

९—अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम् ।
अव्याकृतं तमः पुष्पं क्षेत्रमक्षर नामकम् ।।
सांख्यसंग्रहे सांख्यतत्वविवेचन, पृ० ५ ।

१०—तथा प्रकृति पर्याया अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं
तमः माया ब्राह्मी विद्या अविद्या प्रकृति शक्ति अजा इत्यादयः ।।
साँख्य संग्रहे तत्वयाथार्थ्यं दीपनम्, पृ० ५२ ।

उपनिषद् में भी ब्रह्म शब्द प्रकृत्यर्थ में प्रयुक्त है।[1] सामविधान ब्राह्मण में लिखा है कि प्रलयावस्था में सृष्टि से पूर्व 'ब्रह्म' था।

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्।[2]

यहाँ ब्रह्म शब्द प्रकृति के अर्थ में तथा परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त है। क्योंकि प्रलयावस्था में उपादानकारण और निमितकारण दोनों के अस्तित्व से ही सृष्टि बन सकती है अन्यथा नहीं। इस कण्डिका का अर्थ करते हुए सायण ने भी इसी भाव को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं --यहाँ ब्रह्म शब्द से कूटस्थ चैतन्य विवक्षित नहीं है।[3] क्योंकि वह ब्रह्म अविकारी है। जब पुनः प्राणियों के कर्मों का फल देने के लिए सृष्टि का निर्माण किया जाता है तब केवल अविकारी ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति असम्भव है। अतः मायोपाधि से युक्त चैतन्य यहाँ विवक्षित है।[4] फिर सायण इस कण्डिका का अर्थ लिखते हैं—यह नाम रूप से युक्त जगत् पहले तप्त लोहे के गोले के समान, माया जिससे विभक्त नहीं है ऐसे कारण रूप ब्रह्म में अव्यक्त अव्याकृत नाम रूप वाला होकर सदा स्थित रहता है।[5] यहाँ पर सायण ने गर्म लोहे का उदाहरण दिया है --जैसे गर्म लोहे मे अग्नि और लोहा दोनों रहते हैं दोनों एक नहीं फिर भी मिले हुए हैं उसी प्रकार प्रलयावस्था में माया (प्रकृति) और ब्रह्म दोनों एक तत्व न होते हुए भी मिले रहते हैं। इस भाष्य से यह सिद्ध है कि प्रलयावस्था में माया (प्रकृति) भी रहती है। जिससे इस जगत् का निर्माण होता है। अद्वैतवादी माया को अनिर्वचनीय कहते हैं जबकि त्रैतवादी इसे प्रकृति के रूप में निर्वचनीय मानते हैं। त्रैतवाद में भी यह माना जाता है कि प्रलयावस्था में भी ब्रह्म (ईश्वर) प्रकृति में व्यापक रूप में रहता है दोनों पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हुए भी गर्म लोहे की तरह एकत्र रहते हैं। अद्वैतवाद से त्रैतवाद में विशेषता यह है कि अद्वैतवाद में जीवात्माओं की चेतन सत्ता ब्रह्म से अलग स्वतन्त्र रूप में नहीं मानी जाती उनकी दृष्टि में जीव भी व्यष्टि अज्ञान से युक्त ब्रह्म का ही एक रूप है। परन्तु त्रैतवाद में जीवात्माओं को अनादि और नित्य मानकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है।

अस्तु ब्राह्मणग्रन्थों में अथवा अन्य स्थानों पर[6] जहाँ पर भी ऐसा वर्णन है कि प्रलयावस्था में ब्रह्म, सत्, आत्मा था आप. था। उसका तात्पर्य यही है कि उस समय ब्रह्म (ईश्वर) भी था और मूल उपादान कारण भी था चाहे उसे

१—देखिये इसी ग्रन्थ का पृ० १३।

२—सा० वि० ब्रा० १।१।१।

३—नात्र ब्रह्मशब्देन कूटस्थं चैतन्यं विवक्षितम्॥
वही सायण भाष्य, पृ० २-३

४—तस्याविकारित्वेन पुनः प्राणीकर्मपरिपाकवेलायां
ततो जगदुत्पत्त्यसम्भवात्॥ सायण भाष्य, सा० वि० ब्रा०, पृ० २-३।

५—तथा चायमर्थः। इदं नामरूपघटितं जगत् पूर्वं तप्तायः पिण्डवन्माययाविभागापन्ने कारण रूपे ब्रह्मणि अव्याकृतनामरूपं सदा स्थितमित्यर्थः॥ वही

६—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्॥ छान्दोग्य० ६।२।१।
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्॥ ऐ० सा० २।४।१।१।
आप एवेदमग्र आसुः। शतपथ, १४।८।३।१।
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। वही ११।२।३।१।

माया कहें या प्रकृति कहें। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति अद्वैतवादी भी नहीं मानते। जब सृष्टि की उत्पत्ति अभाव से नहीं होती है तब मूल उपादान कारण का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। त्रैतवादियों को प्रकृति सम्बन्धी यही सिद्धान्त स्वीकार है।

३ – देवताध्याय ब्राह्मण

(क) ईश्वर

इस ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र का उल्लेख है।[१] इस मन्त्र में (तत्) वह, (सवितुः) उत्पादक के, (देवस्य) दाता के, ये शब्द ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वेद में भी भाष्यकारों ने गायत्री मन्त्र का ईश्वर सम्बन्धित अर्थ स्वीकार किया है।[२] अतः यह सिद्ध है कि इस ब्राह्मण में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। एक स्थान पर प्रार्थना करते हुए लिखा है—'सत्य ब्रह्म मेरी रक्षा करे।[३] तथा एक स्थान पर उल्लेख किया है कि द्विपदों का देवता पुरुष है और ब्रह्म एकपद से स्मरण किया जाता है।[४] सायण ने इस ब्राह्मण पर भाष्य करते हुए लिखा है—वे मन्त्र क्रम से पुरुष और ब्रह्म देवता परक हैं।[५] यहाँ पर भी मन्त्रों का देवता ब्रह्म स्वीकार किया गया है। इन सभी प्रमाणों से यहाँ ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

(ख) जीवात्मा

इस ब्राह्मण में जीवात्मा के लिए पुरुष 'शब्द' का प्रयोग है। एक स्थान पर कहा है कि पुरुष दो पद वालों का देवता है और ब्रह्म एक पदवालों का देवता है।[६] यह प्रथम पुरुष शब्द जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है और द्वितीय ब्रह्म शब्द (ईश्वर) के लिए प्रयुक्त है। जीवात्मा का शरीर के बन्धन से छूटने का एक उपाय बतलाते हुए कहा है – जो ऋषियों के विषय को जानने वाला है, वह शरीर के बन्धन से छुट जाता है।[७] इस शरीर के बन्धन में जीवात्मा ही आता है और वही इसके बन्धन से छूटने का प्रयत्न करता है अतः यह उक्ति जीवात्मा के लिए ही है। ब्रह्म उपास्य है और जीवात्मा उपासक है। इस ब्राह्मण में भी प्रयुक्त गायत्री मन्त्र में 'धीमही' शब्द का प्रयोग जीवात्माओं के लिए है, जिसका अर्थ है 'हम (ईश्वर का) ध्यान करें। ध्यान करने वाली जीवात्मायें ही हो सकती है। गायत्री

१– तत्सवितुर्वरेण्यिोम्। भर्गोदेवस्य धीमहीऽ २।
धियो योनः प्रचो। हुम आ। दायो। आ॥ इति॥ दे० ब्रा० २।१।

२—देखिये—दयानन्द भाष्य, यजु० ३।३५। पृ० ९०।

३—ब्रह्मसत्यं च पातुमामिति। दे० ब्रा० ४।५।

४—पुरुषो द्विपदाना देवतं ब्रह्म च एकपदां स्मृता। दे० ब्रा० पृ० २१।

५—ताश्च क्रमेण पुरुष ब्रह्म देवताकाः॥ सायणभाष्य वहीं।

६—पुरुषो द्विपदानां देवतं ब्रह्म च एकपदां स्मृता। दे० ब्रा० पृ० २१।

७—ऋषीणां विषयज्ञो यः स शरीराद्विमुच्यते। दे० ब्रा० ३।२४।

मन्त्र में 'यो नः' ये दोनों शब्द क्रमशः ब्रह्म और जीवात्माओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'नः' शब्द षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्रयुक्त हैं, जिसका अर्थ है -'हमारी' अर्थात् जीवात्माओं को। इस ब्राह्मण में प्रार्थना विशयक कण्डिकाएँ भी जीवात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।[1] क्योंकि प्रार्थी जीवात्मा ही हो सकता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी इस ब्राह्मण में स्वीकार किया गया है एक स्थान पर कहा गया है—'ज्ञान से पवित्र, महायशस्वी, ज्ञानी, धैर्यवान्, ऋषि सतयुग के आदि में फिर जन्म ले लेता है।[2] पुनर्जन्म के चक्र में जीवात्मा ही घूमा करता है अतः यहाँ जीवात्मा ही उपलक्षित है। इस प्रकार जीवात्माओं का अस्तित्व इस ब्राह्मण में विद्यमान है।

(ग) प्रकृति

इस ब्राह्मण में 'तमसः' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है। एक स्थान पर कहा है—'ऋषियों के विषय को जानने वाला शरीर के बन्धन से छूट जाता है तथा तमस् (प्रकृति) के बन्धन से परे होकर स्वर्गलोक में जाता है।[3] 'तमस्' शब्द प्रकृति के अर्थ में अन्य ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है।[4]

इस प्रकृति के बन्धन से छूटने पर ही मुक्ति मिला करती है। जैसा कि इस ब्राह्मण में कहा है कि तमस् के पार आकर आनन्द की प्राप्ति होती है और वह साधक सहस्रयुग पर्यन्त तक जो ब्रह्म का दिन है, आकाश में सूर्य के समान सुशोभित होता है।[5] इस प्रकार तीनों तत्वों की सत्ता यहाँ विद्यमान है।

४—जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण

(क) ईश्वर

इस ब्राह्मण में ओ३म्, प्रजापति आदि नामों से ईश्वर का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है, 'ओम् यही अविनाशी सत्य है।[6]' महात्मा के लिए वही एक चतुर देव है जिसका नाम प्रजापति है। वही जागता है और वही

१—ब्रह्मसत्यं व पातुमामिति। दे० ब्रा० ४।५।

२—ततः कृतयुगस्यादौ ब्रह्मपूतोमहायशः।
सर्वज्ञो धृतमानृषिः पुनराजायते स्मरन्॥ दे० ब्रा० ४।२४।

३—ऋषिणां विषयज्ञा यः शरीराद्विमुच्यते। अतीत्य तमसः पारं स्वर्गे लोके महीयते॥ दे० ब्रा० ४।२४।

४—तम आसीत्। ऋ० १०।१२९।३।
आसीदिदं तमोभूतम्। मनु० १।५।
तथा प्रकृति पर्यायाः अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं तमः माया॥ सांख्य संग्रहे, पृ० ५२।

५—सहस्रयुग पर्यन्तमहर्ब्राह्मयं यदुच्यते। नाकस्यपृष्ठे तं कालं दिविसूर्य इव रोचते॥ दे० ब्रा० ४।२४।

६—ओमित्येतदेवाक्षरं सत्यम्॥ जै० आ० ब्रा० १।२।३।११।
तथा ओमित्येतदेवाक्षरम्॥ वहीं १।२।२।३।

इस लोक का रक्षक है ।[1] 'कः' शब्द से इस ब्राह्मण में प्रजापति का उल्लेख है ।[2] प्रजापति शब्द का अर्थ है जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का रक्षक है । इस प्रकार यहाँ उस ईश्वर को नित्य सत्ता के रूप में स्वीकार करके एकेश्वरवाद को ही स्वीकार किया गया है । वही सर्वोपरि सत्ता है अतः उसे सम्पूर्ण लोक का रक्षक माना गया है ।

(ख) जीवात्मा

इस ब्राह्मण में जीवात्मा के लिए 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है । ऋग्वेद के मन्त्र[3] का ही अंश यहाँ आत्मार्थ में प्रयुक्त है । जिसमें कहा है कि यह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (जीवात्मा) अपनी बुद्धियों के अनुसार अनेक प्रकार जाना जाता है ।[4] यही अर्थ इस मन्त्र का श्री जयदेव शर्मा ने स्वीकार किया है ।[5] पुरुष रूप में भी जीवात्मा का यहाँ उल्लेख हैं । एक स्थान पर कहा है—'यही पुरुष है जो चक्षु में दिखाई देता है ।[6] प्राण की महिमा का वर्णन करते समय कहा है—'इस प्राण से ही देव, पितर, मनुष्य, पशु, गन्धर्व, अप्सराएँ तथा सभी प्राणी जीते हैं ।[7] यहां पर भी शरीरस्थ जीवात्माओं के लिए उल्लेख हैं । इन प्रकरणों से सिद्ध है कि इस ब्राह्मण में जीवात्माओं की सत्ता विद्यमान है ।

(ग) प्रकृति

'अदिति' शब्द से इस ब्राह्मण में प्रकृति का उल्लेख है । अदिति का अर्थ है अखण्डित, वस्तुतः प्रकृति के परमाणु भी अखण्डित ही हैं । ऋग्वेद के मन्त्र[8] की व्याख्या करते हुए इस ब्राह्मण में लिखा है—'अदिति निश्चय से माता है, यह पिता है, यह पुत्र है ।[9] यहाँ अदिति शब्द प्रकृति का बोधक है । सत्यव्रत सामश्रमी ने अदिति का अर्थ अखण्डित शक्ति (प्रकृति) किया है ।[10] उदयवीर शास्त्री के मत में भी ऋग्वेद की ऋचाओं (१०।६४।५। तथा १।८९।

१—महात्मनश्चतुरोदेव एकः कः स जागारभुवनस्य गोपाः ।। वहीं ३।१।२।२ ।

२—प्रजापतिर्वै कः । पृ० ९४ ।

३—ऋ० ६।४७।१८ ।

४—इन्द्रोमायाभिः पुरुष ईयते । जै० आ० ब्रा० १।१४।३।१ ।

५—ऋ० संहिता चतुर्थ खण्ड, पृ० ४०४ ।

६—अथेष एव पुरुषो योऽयं चक्षुषि । जै० आ० ब्रा० १।८।३।२ ।

७—तेन हैतेनासुना देवा जीवन्ति । पितरो जीवन्ति । मनुष्याः जीवन्ति । पशवो जीवन्ति । गंन्धर्वाप्सरसो जीवन्ति । सर्वमिदं जीवन्वि । वहीं १।१३।२।१ ।

८—ऋ० १।८९।१० ।

९—अदितिर्माता स पिता स पुत्रः । एषा वै माता एषा पिता एषा पुत्रः । जै० आ० ब्रा० १।१३।२।४, ५ ।

१०—अदितिः अखण्डनीया शक्ति (प्रकृतिः) निरुक्त, पृ० ४८८ ।

१० ।) में अदिति शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है ।[१] अस्तु इस ब्राह्मण में भी स्पष्ट है कि माता, पिता, पुत्र सब इसी प्रकृति के रूप हैं, क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृतिज शरीर से ही ये सम्बन्ध हैं । जब जीवात्मा इस प्राकृतिक शरीर से निकल जाता है तभी ये सम्बन्ध नहीं रहते ।

५—जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मण

(क) ईश्वर

इस ब्राह्मण में ईश्वर को 'ओम्' नाम से अविनाशी तत्व स्वीकार किया है[२] । प्रजापति[३] तथा ब्रह्म[४] नाम से भी इस ब्राह्मण में ईश्वर का उल्लेख मिलता है ।

(ख) जीवात्मा

जीवात्मा का पुमान् शब्द से इस ब्राह्मण में उल्लेख है । एक कण्डिका में कहा है—'क्या, क्या, पुमान् (जीवात्मा) करता है ।[५] अन्य स्थान पर कहा है कि इस पुरुष (जीवात्मा) से पाप भी हो जाता है ।[६] यह पाप (जीवात्मा) से ही होता है, परमात्मा से नहीं । अतः यहाँ जीवात्मा के अर्थ में ही पुरुष शब्द का प्रयोग है ।

(ग) प्रकृति

यहाँ भी 'आपः' शब्द मूल उपादान कारण प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है । प्रलयावस्था में उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है ।[७] इस 'आपः' शब्द का अर्थ प्रकृति अर्थ में अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है । सायण ने भी इसे जगत् का कारण माना है ।[८] तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि प्रलयावस्था में सलिल अर्थात् अपने कारण में लीन थी—और इस प्रलयावस्था में प्रकृति के परमाणु आपः अर्थात् व्यापक रूप में विद्यमान थे । इस प्रकार तीनों तत्वों का उल्लेख इस ब्राह्मण में भी विद्यमान है ।

१—देखिये—सांख्यसिद्धान्त, पृ० ३३८, ३३९ ।
अदिति के विषय में विशेष देखिये इसी शोध ग्रन्थ का पृ० ३७ ।

२—ओमित्यादित्यः । जै० उ० ब्रा० ३।२।१।१ ।

३—प्रजापति प्रजिजनिषत् । वहीं ३।४।१।४ ।

४—तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि । वहीं ४।१०।१।५ ।
तद्ब्रह्मावे । वहीं ३।१।४।११ ।

५—किंच किंच पुमांश्चरति ।। १।१८।२।३ ।

६—पुरुषस्य पापं कृतम्भवति । वहीं ३।५।१।५ ।

७—आपो वा इदमग्रे सह सलिलमासीत् । जै० उ० ब्रा० १।१८।१।१ ।

८—देखिये—इसी ग्रन्थ में आपः शब्द का विवेचन, पृ० ५९ ।

६— ताण्ड्य महा ब्राह्मण

(क) ईश्वर

इस ब्राह्मण की एक कण्डिका में ब्रह्म को वेदों का स्वामी स्वीकार किया गया है।[१] तथा इसी ब्रह्म सम्बन्धी कण्डिका पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—ब्रह्म वेद है, उसका जो स्वामी है वह परंब्रह्म है[२]। अन्य स्थानों की तरह इस ब्राह्मण में भी 'कः'[३] शब्द तथा 'प्रजापति'[४] शब्द ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। 'कः' शब्द का अर्थ सायण ने प्रजापति किया है[५]। ईश्वर को आनन्द स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'उसे नाक (सुखस्वरूप) ऐसा कहते हैं, प्रजापति किसी के लिए भी दुख देने वाला नहीं है।[६] उस ईश्वर से बढ़कर कोई पैदा नहीं हुआ वही सम्पूर्ण जगत् में व्यापक है[७]। वही ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता है, यह बतलाते हुए एक कण्डिका में कहा है—हिरण्यगर्भ रूप में वहीं पहले विद्यमान था, उत्पन्न हुए जगत् का वही एक स्वामी था[८]। इसी कण्डिका पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—इस भूत और भौतिक प्रपंच की सृष्टि से पहले हिरण्यमय अण्ड का गर्भभूत प्रजापति था।[९] उस प्रजापति ने चाहा कि मैं बहुत प्रजा वाला हो जाऊँ। उसने इस प्रजा का सृजन किया।[१०] प्रजा शब्द का वस्तुतः अर्थ है—'जो अपने मूल उपादान से पैदा हुआ है। इस सम्पूर्ण प्रजारूप सृष्टि को मूल उपादान प्रकृति से परमेश्वर ही पैदा करता है अतः वह इस सृष्टि का निमित्त कारण है। एक कण्डिका (४।१।४) पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—यह जो दृश्यमान जगत् है इसके सृजन से पहले प्रजापति एक ही था। प्रलयावस्था में अव्यकृत (ब्रह्म से अलग न किये जाने योग्य) कारण में कार्य प्रपंचलीन था। सृजन के समय हिरण्यगर्भ एक ही था।[११] इस प्रकार सृष्टिकर्त्ता के रूप में यहाँ एक इश्वर का वर्णन स्पष्ट है।

१—ब्रह्मवै ब्रह्मणस्पति। ता० म० ब्रा०, १६।५।८।

२—ब्रह्म वेदः। तस्यपतिरीशिता ब्रह्मणस्पति स च ब्रह्म वै परं ब्रह्म।
सायण भाष्य ता० म० ब्रा०, पृ० २२६।

३—क इदं कस्मा अदात्। वहीं १।८।१७।

४—प्रजापतिस्तपो तप्यत। ता० म० ब्रा० ५।१।१।

५—क शब्दाभिधेयः प्रजापति। वहीं, पृ० ४२।

६—तमुकनाक इत्याहुर्न हि प्रजापति कस्मै च नाऽकम्। वहीं १०।१।१६।

७—यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आबभूव भुवनानि विश्वा। वहीं, पृ० ४।६।३।

८—हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे—भूतानां जातः पतिरेक आसीत्। ता० म० ब्रा० ९।९।१२।
मिलाइये ऋ० १०।१२१।१।

९—अत्र सर्वस्य भूतभौतिक प्रपंचस्य सृष्टेः पुरा हिरण्यगर्भः हिरण्यमहस्याऽण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिसमवर्तत।
वहीं, पृ० ३४९।

१०—प्रजापतिरकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति। तेन इमा प्रजा असृजत्। वही० ६।५।१।

११—यदिदं दृश्यमानं जगत् सृष्टेः पूर्व प्रजापतिरेकएवासीत। प्रलयावस्थायामव्याकृते कारणे कार्यं प्रपंचस्य लीनत्वात्। सृष्टि हिरण्यगर्भ एक एवासीदित्यर्थः। वहीं, पृ० ९३।

(ख) जीवात्मा

इस ब्राह्मण में 'आत्मा' शब्द जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है—देखिये—'या म आत्मा या मे प्रजा।[1] इस कण्डिका पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं—'जो आत्मा शरीर में स्थित जीव है।[2] इस ब्राह्मण में जीव का बहुवचन में प्रयोग हुआ है[3] जिससे सिद्ध है कि पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को यहाँ स्वीकार किया गया है। शरीरस्थ आत्मा का पुरुष रूप में भी इस ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है—

'अथ या दशेपावा अत्मन्या विराडेतस्यां वा इदं पुरुषः प्रतिष्ठितः ॥[4]

इस कण्डिका का सायण इस प्रकार अर्थ करते हैं—'देह से सम्बद्ध दश इन्द्रियों वाला विराट है, इसमें यह पुरुष प्रतिष्ठित है।[5] इस प्रकार जीवात्मा का यहाँ स्पष्ट वर्णन है।

(ग) प्रकृति

ताण्ड्य महाब्राह्मण में प्रकृति के अर्थ में 'तमस्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक कण्डिका में कहा है 'प्रलयावस्था में प्रजापति एक था, न दिन था, न रात्रि थी। वह अन्धकार के समान प्रकृति में रह रहा था। उसने चाहा कि इससे (जगत् की) उत्पत्ति करूँ।[6] यहाँ सायण ने तमसि का अर्थ अन्धकार किया है।[7] परन्तु विचारणीय बात यह है कि उस कण्डिका में प्रलयावस्था का वर्णन है और यह बात पहले हो कह दी कि सूर्य से जो दिन रात बनते हैं वे प्रलयावस्था में नहीं थे। तब यह निश्चिय है कि यह रात्रि जन्य अन्धकार उस समय नहीं था। जैसा कि सायण अर्थ कर रहे हैं। परन्तु उस समय सूर्य का प्रकाश भी नहीं था क्योंकि ये सभी मूलकारण में लीन थे। अतः उस समय कुछ अन्धकार सा था इसलिए यहाँ पर 'तमसि' का विशेषण 'अन्धे' रखा हुआ है। जिसका अर्थ होना चाहिये अन्धकार जैसे तमस् (प्रकृति) में ऐसा प्रयोग वेद[8] में तथा महाभारत[9] में मिलता है। वेद में 'तम आसोत्तमसागूढहृम्' का यदि अन्वय करें तो इस वाक्य को इस प्रकार रखा जा अकता है—'तमसागूढहम् तम आसोत्' जिसका अर्थ होगा अन्धकार से घिरा

१—ता० म० ब्रा० १।३।४।

२—य आत्मा शरीरस्थितो जीवोऽस्ति। वहीं, पृ० १६।

३—जीवा ज्योतिरशीमहि—ते जीवा ज्योतिरश्नुवते ॥ वहीं ४।७।४।

४—वहीं, पृ० २१२।

५—देहसम्बद्धदशेन्द्रियरूपाविराड् तस्या खलु विराजि अयं पुरुषः आत्मा प्रतिष्ठितः आश्रितः ॥ वहीं

६—प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाऽहरासीन्न रात्रिरासीत्सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्स ऐच्छत्स एतमभ्यपयत ॥ १६।१।१ (ता० म० ब्रा०)

७—वहीं, सायण भाष्य, पृ० २०६।

८—तम आसीतमसागूढहम्। ऋ० १०।१२९।३।

९—अन्धेतमसिजलेकार्णवेलोके। महाभारत—शान्ति पर्व ३५१।३।

हुआ सा तमस् (प्रकृति) तत्व था। क्योंकि प्रलयावस्था में भौतिक अन्धकार का निषेध तो वेद में भी किया गया है।[१] यह तमस् शब्द प्रकृति के अर्थ में अनेक स्थनों पर प्रयुक्त है।[२] अतः कण्डिका में सायण द्वारा 'तमसि' का अर्थ अन्धकार में ऐसा जा किया गया है वह उतना समीचीन नहीं है। यहाँ 'तमस्' का अर्थ प्रकृति ही करना उचित है क्योंकि यह तमस् प्रलयावस्था में स्थित बतलाया गया है।

जहाँ पर यह कहा है कि प्रलयावस्था में प्रजापति एक था[३] यह उक्ति एकेश्वर अर्थ में तो उपयुक्त है परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। त्रैतवाद में तो ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है परन्तु अद्वैतवादी भी प्रलय में एकमात्र कूटस्थ चैतन्य ब्रह्म की स्थिति नहीं मानते अपितु अव्याकृत कारण रूप में प्रकृति या माया को स्वीकार करते हैं। सायण ने कण्डिका (४।१।४) के भाष्य में अव्याकृत कारण को स्वीकार किया है।[४]

७—तैत्तिराय ब्राह्मण (कृष्ण यजुर्वेदीय)

(क) ईश्वर

कृष्ण यजुर्वेदीय त्रैत्तिरीय ब्राह्मण में ईश्वर के अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग मंगलाचरण के रूप में हुआ है।[५] आचार्य सायण के मत में—'यह 'ब्रह्म' शब्द वेद में मुख्यतया परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ भी मंगलाचरण के उद्देश्य से परब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त है।[६] प्रजापति शब्द का वैदिक साहित्य में बहुधा प्रयोग ईश्वर के अर्थ में हुआ है। इस ब्राह्मण में भी कई स्थानों पर प्रजापति शब्द ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त है।[७] यहाँ 'कः' शब्द भी प्रजापति का वाचक है।[८]

---

१ – न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। ऋ० १०।१२९।२।

२—आसीदिदं तमोभूतम्। मनु० १।५।

तथा प्रकृति पर्याय —तमः माया। सांख्यसंग्रहे, पृ० ५२।

३—प्रजापतिर्वा इदमेक असीत्। ता० म० ब्रा० ४।१।४।

४—प्रलयावस्थयामव्याकृते कारणे कार्यप्रपंचस्य लीनत्वात् सृष्टो हिरण्यगर्भ एक एवासीत्। वहीं।

५—ब्रह्म संधतम्। तै० ब्रा० १।१।१।१।

६—ब्रह्म शब्दो जगत्कारणे परमात्मानि मुख्यतया वेदे प्रयुज्यते।

एवं सति ब्रह्म शब्दस्यतत्प्रतिपादकवर्णमात्रपरत्वेऽपि परब्रह्मणः अहसाबुद्धिस्थत्वादर्थात्मंगलाचरणं सम्पद्यते॥

वहीं, सायण भाष्य, पृ० २।

७—प्रजापतिः प्रजा असृजत॥ तै० ब्रा० १।१।३।५।

८—क इदं कस्मा अदादित्याह। प्रजापतिर्वैकः। तै० ब्रा० २।२।५।५।

ईश्वर के अर्थ में ही 'विष्णु' शब्द का प्रयोग यहाँ उपलब्ध है।[1] आचार्य सायण ने विष्णु शब्द के सम्बन्धित एक ब्राह्मण का अर्थ किया है—'सब जगत् का रक्षक किसी से भी तिरस्कार न करने योग्य विष्णु।[2]

(ख) जीवात्मा

तैत्तिरीय ब्राह्मण में जीवात्मा के लिये 'आत्मा' शब्द का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कहा है—वाणी के साथ आत्मा को जोड़ो।[3] यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ आचार्य सायण ने जीवात्मा भी किया है।[4] इस ब्राह्मण में जीवात्मा के दो मार्ग बतलाते हुए कहा गया है—'दो मार्ग सुने हैं एक पितृमार्ग और दूसरा देवमार्ग इनमें यह विश्व प्राणी समुदाय भली प्रकार जाता है।[5] यहाँ पितृमार्ग से तात्पर्य है मृत्यु के बाद पुनः माता और पिता के निमित से शरीर में आना तथा देवमार्ग का अर्थ है मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेनी। नित्य और चेतन जीवात्मा की ही इन मार्गों में गति हो सकती है, अनित्य की ही नहीं, अतः यहाँ जीवात्मा की नित्यता सिद्ध है। एक स्थान पर पितरों की आत्मा को नमस्कार करते हुए लिखा है—हे पितरो, तुम्हारे जीव के लिये नमस्कार हो। यहाँ इस जीव का अर्थ आचार्य सायण ने देहाध्यक्ष (जीवात्मा) किया है।[6] इन प्रकरणों में नित्य जीवात्मा का अस्तित्व यहाँ स्पष्ट हो जाता है।

(ग) प्रकृति

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'आपः' शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में हुआ है। एक स्थान पर कहा है—'उस व्यापकरूप मूल उपादान कारण में यह दृश्यमान कार्य जगत् लीन था।[7] आचार्य सायण ने यहाँ प्रयुक्त 'सलिल' का अर्थ करते हुए लिखा है—यह दृश्यमान पर्वत, नदी, समुद्र आदि स्थावर जगत् और मनुष्य, गाय आदि चेतन जगत् सृष्टि से पूर्व ऐसा नहीं था किन्तु सलिल रूप में था। सलिल शब्द षद्लृगतो धातु से औणादिक 'इलच्' प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ है कारण से संगत अर्थात् कारण में विभाग रहित अवस्था में रहने वाला।[8] यहाँ सायण ने 'आपः' को

१—विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। तै० ब्रा० २।४।६।१।

२—गोपाः सर्वस्य जगतो रक्षकोऽदाभ्यः केनाप्यतिरस्कार्यो विष्णुः ॥ तै० ब्रा० सायण भाष्य, पृ० ५२३।

३—वाच आत्मानसंतनु। तै० ब्रा० १।५।७।१।

४—आत्मा परो जीवो वा। तै० ब्रा० सायण भाष्य, पृष्ठ २५५

५—द्वे सृती अश्रृणवं पितृणाम्। अहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
तास्यामिदं विश्वं भुवन् समेति ॥ तै० ब्रा० १।४।२ ॥

६—नमो वः पितरो जीवाय। तै० ब्रा० १।३।१०।८।
देखिये जीवो देहाध्यक्षः। वही सायण भाष्य, पृ० १६८।

७—आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तै० ब्रा० १।१।३।५।

८—इदमिदानीं दृश्यमानं गिरिनदीसमुद्रादिकं स्थावरं मनुष्य गवादिकं जंगमं च सृष्टे पूर्वमीदृशं नासीत्। किन्तु सलिलरूपमासीत्। 'षल गतौ' औणादिक इलच्। इदं दृश्यमान जगत् सलिलं कारणेन संगतमविभागापन्नम्। वहीं, सायण भाष्य, पृ० १८ ॥

कारण माना है और सलिल का अर्थ उस कारण से संगत अर्थ किया है। यह भी कहा है कि दृश्यमान कार्य जगत् उस कारण में अविभक्तावस्था में रहता है। वह मूल कारण प्रकृति ही हो सकती है क्योंकि प्रलयावस्था में प्रकृति आप (व्यापक) रूप में रहती है और यह कार्य जगत् उसी में अविभक्तावस्था में संगत रहता है। यही इस कारण का तात्पर्य है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में 'असत्' शब्द से भी प्रकृति का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है 'यह दृश्यमान नामरूपात्मक कार्य जगत् प्रलयावस्था में नहीं था। न द्युलोक था। न पृथ्वी थी। न अन्तरिक्ष था, उस समय 'असत्' था, उसने विचार किया कि मैं 'सत्' हो जाऊँ।[1] आचार्य सायण ने यहाँ 'असत्' का अर्थ भावरूप सत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है—'यहाँ 'असत्' शब्द से खरगोश के सींगों के सामन शून्य अर्थ विवक्षित नहीं। नामरूपात्मक जगत् की अव्यक्तावस्था अभिप्रेत है'।[2]

इस प्रकरण में 'असत्' शब्द का प्रयोग प्रकृति के लिए और 'सत्' शब्द का प्रयोग कार्य जगत् के लिए हुआ है। यद्यपि अचेतन प्रकृति में स्वयं कार्यजगत् के रूप में परिणत हो जाने की इच्छा नहीं हो सकती फिर भी यह एक शैली विशेष है। वस्तुतः सृष्टि उत्पन्न करने का विचार तो ईश्वर में ही उत्पन्न होता है वही मूल प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करता है। लक्षणा से सही अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं। प्रकृति की नित्य सत्ता यहाँ स्पष्ट है।

८—निष्कर्ष

दार्शनिक क्षेत्र में प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन) की चर्चा सर्वाधिक रही। अधिकांश आचार्यों ने अपने दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर स्वकृतभाष्यों के द्वारा की है। यद्यपि प्राचीन ऋग्वैदिककाल से ही दर्शनों के मूल तत्वों के विषय में कुछ न कुछ संकेत हमारे साहित्य में मिलते हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक में क्रमशः विकास पाते हुए ये विचार उपनिषदों में आकर पल्लवित हुए।[3] ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-विधान की प्रमुखता मानकर उनमें दार्शनिकता की प्रायः उपेक्षा रही।[4] आचार्य सायण ने इन पर जो भाष्य किया वह केवल अद्वैतमत से ग्रसित रहा। त्रैतवादी भाष्य अधिकांश ब्राह्मणों पर नहीं मिलता है। फिर भी दार्शनिक दृष्टिकोण ब्राह्मण ग्रन्थों का समीक्षण करने से इनमें त्रैतवाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अधिकांश ब्राह्मण गन्थों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का स्पष्ट संकेत मिलता है।

१—इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथ्वी। नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनो कुरुत स्यामिति तै० ब्रा० २।२।६।१।

२ अत्रासच्छब्देन न शशविषाणादिसमानं शून्यत्वविवविवक्षितं किं तर्ह्य नभिव्यक्तनामरूपत्वम्॥ तै० ब्रा० सायण भाष्य, पृ० ४२०।

३—डा० नरेन्द्रदेव सिंह—भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० २४।

४—उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ४२।

आरण्यक

१—तैत्तिरीयारण्यक

(क) ईश्वर

इस आरण्यक में परमेश्वर का धारावाहिक वर्णन एकेश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है। ईश्वर के विषय में लिखा है—'वह परमेश्वर समुद्र के दूसरे किनारों पर, पृथ्वी आदि लोकों के बीच में, द्यूलोक के ऊपर जो महान् हैं उनसे भी वह महान् हैं। अपने तेज के प्रकाशों में भी यह प्रविष्ट है। वह परमेश्वर सबके भीतर विद्यमान है। उसी आधारभूत परमेश्वर से यह जगत् उत्पन्न होता है और (प्रलयावस्था में) उसीमें लीन हो जाता है। उसी में सभी देवता रह रहे हैं। जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होगा वह सब इसी आकाश की तरह व्याप्त ईश्वर में ही रहता है। वही ईश्वर आकाश, द्यूलोक और पृथ्वी में व्यापक है। जिसके द्वारा सूर्य अपने प्रकाश मण्डल से और किरणों से चमकात है। विद्वान लोग जिसे तन्तुओं की तरह ओतप्रोत समझते हैं। उसी अविनाशी में ही सभी उत्पन्न हुए पदार्थ रहते हैं।[1] जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिसने जलादि तत्वों से जीवों के शरीर को रचा है। जो औषधियों में, पुरुषों में और पशुओं में तथा चराचर जगत् में प्रविष्ट हुआ है। इससे बढ़कर और कोई सूक्ष्म नहीं है जो सर्वोत्कृष्ट है, महान् से भी भी महान् है। जो एक है, अव्यक्त है, अनन्तस्वरूप हैं, संसार में व्याप्त है, अनादि है और प्रकृति से परे है। वही ऋत है, वहीं सत्य है, वही विद्वानों के लिये परमब्रह्म है। दर्शपूर्णमासादि औतकर्मों तथा वापीकूपादि स्मार्त कर्मों को, उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होने वाले जगत् को और लोक लोकान्तरों को चक्र की नाभि की तरह धारण किये हुए हैं। उसी का नाम अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, अमृत, ब्रह्म, आप् और प्रजापति है।[2]

---

१ -अम्भस्यपारे भुवनस्यमध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः।
यस्मिन्निदं सचविचैति सर्वं यस्मिन्न् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
तदेव भूतं तदु भव्यमा इद तदक्षरे परमेव्योमन्। येनाकृतं खं च दिवं महीं च देवानादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च। यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति तदक्षरे परमे प्रजाः। तै० आ० १०।१।१।

२—यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान्व्य च सर्ज भूम्याम्।
यदोषधीभिः पुरुषान् पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि।
अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतो महान्तम्।
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्व पुराणं तमसः परस्तात्॥
तदेवर्तं तदु सत्यमाहु स्तदेव ब्रह्म परम कवीनाम्।
इष्टापूर्तं बहुधा जातजायमानं विश्वं बिभर्ति।
भुवनस्यनाभिः। तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रममृतं तद् ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः॥
तै० आ० १०।१।१।२।

इस प्रकरण में एक परमेश्वर की महिमा का वर्णन है। उस एक के ही गुणानुसार अनेक नाम कहे गये हैं। उसकी सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए चेतन तथा अचेतन जगत् को व्याप्त बतलाया गया है और परमेश्वर को इनमें व्यापक बतलाया गया है। परन्तु इस स्पष्ट वर्णन का अद्वैतवाद से प्रभावित आचार्य सायण ने अद्वैतपरक अर्थ किया है। दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—एक वाक्य में कहा है 'वह प्रजापति अपने शुक्ररूप से ज्योतियों में समानरूप से अनुप्रविष्ट (व्यापक) होकर सबके भीतर रहता है।[1] परन्तु इस वाक्य का सायण अर्थ करते हैं—'वह परमेश्वर भासित होने वाले जीव चैतन्य रूप से निर्मल अन्तःकरणों में सम्यक् रूप से अनुप्रविष्ट है। तथा ब्राह्माण्ड में विराट् रूप से रहता है। मायावश परमेश्वर शरीरों में जीवरूप से तथा ब्रह्माण्ड में विराट् रूप से अवस्थित है।[2] शुक्र का जीवरूप चैतन्य अर्थ करना यहाँ असंगत है क्योंकि शुक्र का अर्थ परमेश्वर इसी प्रकरण में किया गया है।[3] इसी प्रकार 'ज्योतिषि' का अन्तःकरण अर्थ अप्रमाणिक है। 'प्रकाशित सूर्यादि पदार्थों में अर्थ संगत है। इसी प्रकरण में यह भी स्पष्ट रूप से कहा है—वह परमेश्वर औषधियों में, पुरुषों में पशुओं में, प्राणियों में और जड़चेतन जगत् में प्रविष्ठ हैं।[4] यहाँ पर भी जड़ और चेतन जगत् व्याप्त है और परमेश्वर उनमें व्यापक है। यहाँ व्याप्य तत्वों में औषधि आदि जड़ और चेतन तत्वों को गणना की गई है। परन्तु आचार्य सायण यह सोचकर कि यदि चेतन जीवात्माएँ व्याप्त मान लिए जावें और परमेस्वर को उनमें व्यापक मान लिया जावे तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी अतः वे इस प्रकरण का अर्थ करते हैं—'जो चैतन्यरूप मायाविशिष्ट कारण है वह चावल, जौ आदि अन्न होकर भी मनुष्य, पशु, स्थावर और जंगम शरीरों में प्रविष्ट हुआ है। वृक्षादि स्थावरों में वर्षाकाल के रूप में उसका प्रवेश है।[5] यहाँ पर परमेश्वर का अन्य रूप में तथा जल के रूप में प्रवेश बतलाना प्रकरण के विरुद्ध है, क्योंकि यहाँ चैतन्यरूप से ही ईश्वर सब में प्रविष्ठ (व्यापक) है यही अर्थ प्रकरणानुकूल है। आचार्य सायण का यहाँ मायाविशिष्ट अर्थात् सोपाधिकचैतन्य अर्थ करना भी असंगत है, क्योंकि यह भेद मूल में प्रतिपादित नहीं है। उस एक परमेश्वर का इस आरण्यक में अनेक नामों से वर्णन किया गया

१—शुक्रेण ज्योतिषि समनुप्रविष्टः। तै० आ० १०।१।१, पृ० ७५३।

२—शुक्रेण यासकेन जीव चैतन्य रूपेण, ज्योतिषि निर्मलत्वेन यासकानि अन्तःकरणानि सम्यक् अनुप्रविष्टः। गर्भे ब्रह्माण्डरूपे अन्तः मध्ये प्रजापति विराट् रूपोभूत्वा चरति वर्तते।—वस्तुतः तथाविध एव सन् मायावशाद् देहेषु जीवरूपेण ब्रह्माण्डे च विराडरूपेणावस्थितः।।

तै० आ० सायण भाष्य, पृ० ७५४। कलकत्ता संस्करण, १८७१ ई०।

३—तदेव शुक्रममृतम् तदब्रह्म तदापः स प्रजापतिः। तै० आ० १०।१।२।

४—यदोषधीभिः पुरुषान् पशूंश्च विवेश भूतानिचराचराणि। तै० आ० १०।१।१।

५—यच्चैतन्य रूपं मायाविशिष्ट कारणम् (औषधीभिः) व्रीहि यवादिभिरूपलक्षितमन्नं भूत्वा मनुष्यान्, पशूंश्च, तदुपलक्षितस्थावर जंगमशरीराणि सर्वाण्यपि प्रविवेश वृक्षादिषु स्थावरेषु वृष्टिजलरूपेण प्रवेशः तै० आ० सायण भाष्य, पृ० ७५७।

है। अक्षर[1] (अविनाशी) पुरुष[2], ओम्[3], ब्रह्म[4], आत्मा[5], स्वयम्भूः[6], इन्द्र[7] आदि उसीके नाम बतलाये गये हैं। स्वयम्भूः शब्द का अर्थ यद्यपि सदा से स्वयं विद्यमान परमेश्वर हैं परन्तु पौराणिक प्रभाव से प्रभावित आचार्य सायण कूर्मावतार को ध्यान में लाकर कूर्मरूप परमेश्वर अर्थ करते हैं।[8] अस्तु इस आरण्यक में परमेश्वर का विस्तृत वर्णन मिलता है। उस ईश्वर को नित्य, अविनाशी, अनादि, चेतनस्वरूप सर्वव्यापक तथा अनन्त बतलाया गया है। ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर, परम स्वराट् आदि भी उसी के नाम हैं परन्तु आचार्य सायण इनका अर्थ भी पौराणिक प्रभाव से प्रभावित होकर कर रहे हैं।[9] परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में एकेश्वरवाद को मुख्यता देते हुए कहा है—एक ही परमेश्वर बाहर भीतर सब जगह व्यापक है।[10]

(ख) जीवात्मा

तैत्तरीयारण्यक में जीवात्मा का पुरुष और इन्द्र नाम से उल्लेख करके उसका शरीर में निवास स्थान हृदय को बतलाते हुए कहा है—यह जो भीतर हृदयाकाश है उसमें यह पुरुष ज्ञानमय अमृतस्वरूप तथा प्रकाशरूप होकर रह रहा है। भीतर तालु में जो स्तन की तरह लटक रहा है वह जीवात्मा का निवास स्थान है।[11] जीवात्मा को 'अमर' बतलाते हुए उसे अमृत जीव[12] भी कहा गया है। आचार्य सायण ने भी तै० आ० (६।१०।१४) के भाष्य में जीवात्मा को मरण रहित स्वीकार किया है।[13] एक स्थान पर[14] आचार्य सायण ने जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त 'अज' शब्द का अर्थ जन्म न

१—यदक्षरं भूतकृतम्।। वहीं १।६।६।

२—सहर्षशीर्षापुरुषः। वहीं ३।१२।१-२।

३—ओमिति ब्रह्म। वहीं ७।८।१।

४—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। वहीं।

५—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। वहीं

६—आपो ह यद्बृहतीगर्भमायन्। दक्षं दधाना जनयन्ती स्वयम्भूम्। वहीं १।२३।८।

७—इन्द्रो राजा जगतो य ईश। वहीं ३।११।६।

८ स्वयम्भूं कूर्म रूपं परमात्मानम्। तै० आ० सायण भाष्य, पृ० १४७।

९—स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। तै० आ० १०।११।२ ब्रह्म चतुर्मुखः। शिवः गौरीपति। इन्द्रः स्वर्गाधिपति। अक्षरः मायाविशिष्टो ईश्वरः। वहीं पर सायण भाष्य पृष्ठ ८२८।

१० अन्तर्बहिश्च तात्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।। तै० आ० १०।११।२।

११—स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सन्द्रयोनिः।। तै० आ० ७।६।१।

१२—अमृतो जीवः। वहीं १०।१४।१४।

१३—अमृतः मरणरहितः। जीवः चिदात्मा। वहीं पृ० ८३३।

१४—तै० आ० १०।१०।१।

लेने वाला जीव ही किया है।[१] जीव शब्द का बहुवचन में प्रयोग[२] ह सिद्ध करता है कि इस आरण्यक में पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। 'जीवो विश्वः' का अर्थ सायण ने भी शरीर भेद से अनेक जीवात्मा अर्थ किया है।[३] परन्तु आचार्य सायण परमेश्वर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप में जीवात्मा को नहीं मानते। वे उसे अद्वैतवाद के अनुसार व्यष्टि उपाधि से युक्त ब्रह्म को ही मानते है। परन्तु इन प्रकरणों में पुरुष, इन्द्र तथा अज नाम से अजन्मा, नित्य जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट वर्णन है।

(ग) प्रकृति

तैत्तिरीयारण्यक में प्रकृत्ति के अर्थ में 'अजा' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर कहा है—'एक अजा है जो त्रिगुणात्मक है और अपने हीं रूप वाली प्रजा को जन्म देती है। इसमें एक 'अज' प्रीति या परितृप्ति[४] के साथ शयन करती है और अन्य 'अज' इसमें भोगों को भोगकर इसे छोड़ देता है।[५] आचार्य सायण यहाँ अजा का अर्थ प्रकृति करते हुए लिखते हैं—'जो जन्म नहीं लेती ऐसी अजा मूल प्रकृति रूप माया है। उस अनादि का जन्म सम्भव नहीं है। वह माया एक है, अन्य सम्पूर्ण जगत् उसका कार्य है।[६] 'अजा' (प्रकृति को त्रिगुणात्मिका स्वीकार करते हुए आगे आचार्य सायण लिखते हैं—'लोहितादि शब्दों से रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण आदि गुण उपलक्षित होते हैं। इसमें माया त्रिगुणात्मिका वर्णित है।[७] शब्द कोष में भी 'अजा' शब्द का अर्थ प्रकृति किया गया है।[८] अजा शब्द से ही स्पष्ट है कि प्रकृति अनादि है। इस प्रकार की प्रकृति त्रिगुणात्मक शरीर वाले जगत् को उत्पन्न करती है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'असत्' शब्द प्रकृति के अर्थ में तथा सत् शब्द कार्य जगत् के रूप में प्रयुक्त हैं। एक स्थान पर कहा है—

१—न जायते इति अजः जीवः। वहीं, पृ० ८०५।

२—इमे जीवाः। तै आ० ६।१०।१२। इमं जीवेभ्यः। वहीं।

३—जीवः चिदात्मा शरीरभेदेनानेकविधः वहीं, पृ० ८३३।

४—जुष परितर्कणे। परितर्पण इत्यन्ये परितर्पणम् परितृप्तिक्रिया॥ सिद्धान्त कौमुदी, चुरादि गुण, पृ० ४८८।

५—अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां ह्वर्वीं प्रजा जनयन्ती सरूपाय। अजो ह्येकोऽजुषमाणोऽनुशेत जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्यः॥ तै० आ० १०।१०।१।

६—न जायते इति अजा मूलप्रकृतिरूपा माया। न ह्यनादेस्तस्या जन्म सम्भवति। सा च माया एका इतरस्पसर्वस्य जगतस्तत्कार्यंत्वत्। तै आ० सायण भाष्य, पृ० ८०५।

७—रजः सत्वतमोगुणा वा लोहितादि शब्दैरुपलक्ष्यते। गुणत्रयात्मिका मायेत्युक्तं भवति। वहीं तै० आ० सायण भाष्य, पृ० ८०५।

८—अजा—न + जन + ड + टाप। प्रकृति या माया। आप्टे संस्कृत हिन्दी कोष—पृ० १३।

'असत् ही पहले था उससे 'सत्' पैदा हुआ ।[1] अन्य स्थान पर कहा है—'जिन्होंने (ऋषियों ने) असत् से सत् उत्पन्न हुआ स्वीकार किया ।[2] आचार्य सायण यहाँ भाष्य करते हुए लिखते हैं—'असत्' शब्द से जगत् के कारण की अव्यक्तावस्था कही गई है तथा 'सत्' से व्यक्त अवस्था का वर्णन है ।[3] इस आरण्यक में 'आपः' शब्द का प्रयोग भी मूल उपादान प्रकृति के अर्थ में उपलब्ध है ।[4] एक स्थान पर प्रश्न किया है—'ये बादल, दिन, रात, महीने, पक्ष, मुहूर्त, पल, द्व्यणुक और जल ये सब किसमें रहते हैं' ? उत्तर दिया है—'ये सब 'आप' में रहते हैं ।[5] इस प्रकरण पर आचार्य सायण भाष्य करते हुए 'आप' को जगत् का मूल कारण स्वीकार करते हुए लिखते हैं—'प्रलयावस्था में आप ही सलिल था । इस प्रकार 'आप' को जगत् का कारण कहा जाने से वहीं पर कालों की स्थिति तथा वहीं से उत्पत्ति हुई है ।[6] वेद में भी 'आप' का अर्थ प्रकृति है ।[7]

(घ) निष्कर्ष

तैत्तिरीय आरण्यक में 'त्रैतवाद' सम्बन्धी दार्शनिक विचार अति स्पष्ट है । ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों को अनादि रूप में स्वीकार किया गया है । तीनों का ही स्वतन्त्र अस्तित्व विद्यमान है । तीनों को अजन्मा[8] कहकर अन्तर भी स्पष्ट किया गया है । प्रकृति को 'अजा' त्रिगुणात्मिका तथा परिणामिनी स्वीकार किया है । दूसरे 'अज' (ईश्वर) को परितृप्ति के रूप में इस प्रकृति में सोया हुआ कहा गया है तथा तीसरे अज (जीवात्मा) को भोगों को भोगने वाला तथा इससे मुक्त होने वाला कहा गया है ।

१—असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तै० आ० ८।७।७ ।

२—असतः सच्च ततक्षुः । तै० आ० १।११।१ ।

३—असच्छब्देन जगत्कारणमव्यक्तावस्थापन्नमुच्यते ।
सच्छब्देन व्यक्तदशापन्नं जगत् । वहीं सायण भाष्य, पृ० ८४ ।

४—आपो वा इदमासन्त्सलिलमेव । वहीं १।२३।१।

५—क्वेदमभ्रं निविशते । क्वायं सम्वत्सरो मिथः । क्वाहः क्वेयं देव रात्री । क्वमासा ऋतवः श्रिताः । अर्धमासा मुहूर्ताः । निमेषास्त्रुटिभिः सह । क्वेमा आपो निविशन्ते । यदीतोयान्ति सम्प्रति । काला अप्सु निविशन्ते । वहीं १।८।१ ।

६—आपजो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । इत्ययां जगत्कारणत्वेनाम्नातत्वात् । तत्रैव कालानामवस्थानमुत्पत्तिश्च । तै० आ० सायण भाष्य, पृ० ५१ ।

७—ऋ० १०।८३।६।
देखिये वहीं श्री जयदेव शर्मा भाष्य, पृ० १५८ ।

८—अजामेकाम्—तै० आ० १०।१०।१ ।

आचार्य सायण 'अजा' शब्द का अर्थ प्रकृति करके दो बार आये हुए 'अज' शब्द का अर्थ करते हुए एक का अर्थ करते हैं मुक्त जीव और दूसरे का अर्थ करते हैं बद्ध जीव ।[1] आचार्य सायण ने 'जुषमाण:' शब्द का अर्थ प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला लिखा है ।[2] उन्होंने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'जुषी प्रीतिसेवनयो:' इस तुदादिगण की धातु से मानी है ।[3] परन्तु इसकी व्युत्पत्ति चुरादिगण की 'जुष' धातु से भी हो सकती है जिसका अर्थ है परितृप्ति[4] । ईश्वर वस्तुतः इस जगत् में पूर्ण तृप्त होकर रहता है अतः ईश्वर अर्थ में प्रथम 'अज' का प्रयोग है द्वितीय 'अज' का प्रयोग जीवात्मा के अर्थ में है जो कर्मानुसार भोगों को भोगता है और बाद में भोगों की असारता को जानकर इस जगत् में वैराग्य धारण करके इससे मुक्त हो जाता है । इस प्रकार ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का एक स्थान पर ही वर्णन होने से त्रैतवाद सिद्धान्त की यहाँ पुष्टि हुई है । यद्यपि इस आरण्यक पर अद्वैतवादी भाष्य ही उपलब्ध है । त्रैतवादी भाष्य अभी तक मुझे उपलब्ध नहीं हो सका है फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इस आरण्यक का त्रैतवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । और निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वेदों से उद्भूत त्रैतवादी परम्परा यहाँ भी विद्यमान है ।

उपनिषद

१—उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

बलदेव उपाध्याय उपनिषदों के मुख्य तात्पर्य के विषय में लिखते हैं—'उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं । उपनिषदों में अद्वैत श्रुति तथा द्वैतश्रुतियों का सद्भाव है, इसे कोई विद्वान अस्वीकार नहीं कर सकता । आचार्यों ने स्व-सिद्धान्त प्रतिष्ठापक श्रुतियों का प्रधानत्वेन स्वीकार किया है तथा अन्य श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उत्पत्ति दिखलाई है । श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उसमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है । श्री रामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की, परन्तु अवान्तरकाल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखी हैं । श्री रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं । श्री माध्वाचार्य ने कतिपय

---

१ न जायते इति अजः । जीवः तस्यापि मायावदनादित्वादुत्पत्तिर्नास्ति । तादृशो जीवो द्विविधः । आसक्तो विरक्तश्चेति ।।

२—जुषमाणः प्रीतिपूर्वकं सेवमानः । सायण भाष्य, पृ० ८०६ ।

३—सिद्धान्त कौ० (तु० ग०) पृ० ४७३, अष्टाध्यायी सू० ६।४।४७ ।

४—परितर्पण इत्यन्ये । भट्टोजी दीक्षित, सिद्धान्त कौमुदी, पृ० ४८८ ।

प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में इन ग्रन्थ-रत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता (द्वैत) के प्रतिपादन में हैं। आधुनिक आलोचकों के मत में उपनिषदों में समस्त दर्शनों का बीज निहित है। इन्हीं सूक्ष्म सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया है।[1] डा० सुधीरकुमार गुप्त के मत में यहाँ अद्वैत, द्वैत और त्रैतवादों की सत्ता स्पष्ट लक्षित होती है।[2]

एम० हिरियन्ना उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय के विषय में लिखते हैं - व्याख्याओं की इतनी अधिक विषमता से स्वभावतः यह सन्देह उत्पन्न होता है कि एकवाक्यता पर परम्परा से जोर दिये जाने के बावजूद उपनिषदों में केवल एक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है और इन प्राचीन कृतियों के स्वतन्त्र अध्ययन से इस सन्देह की पुष्टि होती है। आज का जिज्ञासु वेदान्त के किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुसरण करने के लिये पहले से वचनबद्ध नहीं हैं और इसलिये उसे यह मानने को विवश होना पड़ता है कि उपनिषदों में दो या तीन नहीं बल्कि अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त है।[3]

उमेश मिश्र का मत है कि—उपनिषदों में बिना किसी एक विशेष क्रम के तत्वों का विचार है। ज्ञान की सभी बातें स्थूल तथा सूक्ष्म इन ग्रन्थों में मिलती हैं। बाद के दर्शन शास्त्रों के जितने रूप हैं उन सब का मूल तत्व उपनिषदों में है। किसी विशेष शास्त्र के समान तत्वों के विचारों का वर्गीकरण उपनिषद् में नहीं है इसलिये उपनिषद् का कोई भिन्न अपना दर्शन नहीं है।[4]

इन मन्तव्यों के आधार पर यह निश्चय से कहा जा सकता है कि जब इन्हीं उपनिषदों में अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि परस्पर विरोधी दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है; और वे दार्शनिक मान्यतायें अपना विशेष व्यक्तित्व लेकर आज भी खड़ी हैं। तब त्रैतवाद का अस्तित्व भी उपनिषदों में निःसन्देह विद्यमान है। डा० वेदप्रकाश गुप्त का कथन है कि स्वामी दयानन्द उपनिषदों में त्रैतवाद के पोषक हैं। उनके विचार में मुख्य ग्यारह उपनिषदों में ब्रह्म, जीव, प्रकृति, इन तीनों के अनादित्व का वर्णन है।[5] उपनिषदों पर त्रैतवाद समर्थक अनेकों भाष्य भी हो चुके हैं। अतः निःसन्देह उपनिषदों में त्रैतवाद दर्शन का एक विशिष्ट अस्तित्व मानना पड़ेगा। कठ, मुण्डक, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर में तो त्रैतवा० अतिस्पष्ट है।

१—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ३८-३९।

२—डा० सुधीरकुमार गुप्त—भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय पृ० १४।
वहीं डा० सुधीरकुमार लिखते हैं—सम्भवतः त्रैतवाद ही ऋषियों को अभिप्रेत है जिसकी दृष्टिभेद से द्वैत और अद्वैत से अभिव्यक्ति की गई है।

३—एच० एम०—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ५२।

४—भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र, पृ० ५०।

५—डा० वेदप्रकाश गुप्त, दयानन्द दर्शन, पृ० ३९।

२—कठोपनिषद

(क) ईश्वर

नचिकेता ने यम से जब यह प्रश्न किया है कि—धर्म से, अधर्म से, कृत से, अकृत से, भूत से, भव्य से—जो संसार की प्रत्येक वस्तु से भिन्न, जिसे आप देखते हैं उसका आप मुझे उपदेश कीजिए।[१] तब यमाचार्य ने ईश्वर को ही ऐसा तत्व मानकर उसके विषय में कहा है —'सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सब तप जिसको पुकारते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं संक्षेप में वह शब्द 'ओ३म्' यह है।[२] यही ओ३म वाचक, अविनाशी ब्रह्म सबसे बढ़कर है उसी अविनाशी ब्रह्म को पाने के बाद जो कोई जो चाहता है, उसे वह प्राप्त हो जाता है।[३] यहाँ ईश्वर को 'अक्षरम्' (अविनाशी) तथा 'परम्' (सर्वोपरिसत्ता) बतलाया गया है। उसीका सहारा सबसे श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा है —इसी का आलम्बन श्रेष्ठ है, इसीका सहारा सर्वोपरि है। इसी सहारे को जानकर (यह जीवात्मा) ब्रह्मलोक में महानता को प्राप्त करता है। अर्थात् मुक्ति की अवस्था में ब्रह्मलोक में रहता है।[४] उस ईश्वर से बढ़कर अन्य कोई नहीं है। वह महानता की पराकाष्ठा है। उसकी पहुँच सर्वाधिक है।[५] उसी ईश्वर के स्वरूप को बतलाते हुए कठोपनिषद् में लिखा है—वह ईश्वर आकाशादि के गुण शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित है। अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, ध्रुव और महत्तत्व से परे हैं।[६]

(ख) जीवात्मा

जब चेतन आत्मा (जीवात्मा) के विषय में नचिकेता ने जिज्ञासा व्यक्त की है[७] तब उसका उत्तर देते हुए आचार्य जीवात्मा के विषय में वर्णन करता है —' यह चेतन आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है। यह स्वतः सत्ता है। न यह कहीं से अथवा किसी से बना है। इसका कारण कोई भी नहीं है। इसी कारण से यह

१—अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ कठ० १।२।१४।

२—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठ० १।२।१५। मिलाइये गीता ८।११।

३—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्यतत् ॥ कठ० २।१६॥

४—एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोक महीयते ॥ कठ० १।२।१७।

५—पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः। कठ० १।३।११।

६—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ कठ० १।३।१५।

७—ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येकेनायमस्तीतिचैके। कठ० १।२०।

जीवात्मा, अजन्मा, नित्य अविनाशी और अनादि है। शरीर के हनन होने पर यह नहीं मरता।[1] यह जीवात्मा अमर है—मारने वाला यदि यह समझता है कि मैं इसे मार रहा हूँ या मरने वाला यह समझता है कि मेरा आत्मा मर रहा है तो वे दोनों आत्मा के विषय में नहीं जानते क्योंकि न यह मरता है और न मारा जाता है।[2] शरीर में इस जीवात्मा का महत्व है।—कोई भी मनुष्य न प्राण से जीता है, न अप्राण से। किन्तु सभी मनुष्य दूसरे से (जीवात्मा) से जीते हैं जिसमें ये प्राण और अपान दोनों आश्रित हैं।[3] इस शरीर में रहने वाले जीवात्मा के इस शरीर को छोड़ देने पर इस शरीर में क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी महत्व शेष नहीं रह जाता है।[4] नचिकेता ने मृत शरीर प्रसंग में जीवात्मा के अस्तित्व के विषय में प्रश्न पूछा था। उसी का उत्तर यहाँ दिया गया है और उसे 'देही' कहा गया है। यह जीवात्मा प्राणी के हृदये में रहता है[5] और अमृत है।[6] वही 'अन्तरात्मा' पुरुष शरीर, इन्द्रियों के समुदाय का रक्षक है।[7] जीवात्मा शरीररूपी रथ में रथी अर्थात् रथ के द्वारा यात्रा करने वाले के समान है।[8] इस प्रकार यहाँ जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व और नित्य तत्व स्पष्ट है।

(ग) ईश्वर और जीवात्मा की भिन्नता

कठोपनिषद् में जहाँ ईश्वर और जीवात्मा दोनों को अनादि, अजन्मा और नित्य कहा है वहाँ दोनों को बुद्धि की गुफा में एक स्थान पर ही धूप और छाया की तरह परस्पर भिन्न स्थिति में विद्यमान कहा है।[9] पं० भीमसेन इस

१—न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूवकश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ कठ० १।२।१८।
मिलाइये-गीता २।२०।

२—हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतोनायं हन्ति न हन्यते॥ कठ० १।३, १९। मिलाइये · गीता २।१९।

३—न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ कठ० २।५।५।

४—अस्य विस्रसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहादिमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्। कठ० २।५।४।

५—अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा। सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। कठ० २।६।१७।

६—तं विद्याच्छुक्रममृतम्। वहीं।

७—शरीरेन्द्रियसंघातस्य पालको जीवात्मा अस्ति।
देखिये कठोपनिषद्। २।६।१७। भीमसेन भाष्य, पृ० १८१।

८—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठ० १।२।३।

९—कठ० १।३।१।

कण्डिका पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'सत्य का सेवन करते हुए[1], बुद्धि की गुफा में प्रविष्ट[2] जीवात्मा और परमात्मा अल्पज्ञ और सर्वज्ञत्व गुण से अन्धकार और प्रकाश की तरह विलक्षण और भिन्न कहे गये हैं।[3] यहाँ दोनों को सत्य तथा एक ही समय में एक ही स्थान पर स्थित तथा परस्पर विलक्षण कह कर दोनों की परमार्थिक भिन्नता को व्यक्त किया गया है।

(घ) प्रकृति

कठोपनिषद् की कण्डिका[4] में 'अव्यक्त' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है। सांख्यदर्शन में जिस प्रकार 'प्रकृतेर्महान्[5] कह कर स्पष्ट किया है कि प्रकृति से महतत्व उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार यहाँ महतत्व से अव्यक्त (प्रकृति) को परे कहा है।[6] जो कि कथन समुचित ही है। पं० भीमसेन ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।[7] यहाँ 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने 'सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत' किया है[8] तथा कुमुद रंजन राय ने प्रकृति या माया किय है।[9] कुछ भी हो ये अद्वैतवादी भी 'अव्यक्त' को जगत् का बीज मूल उपादानस्वरूप स्वीकार कर रहे हैं। प्रो० कुन्दनलाल शर्मा ने उपनिषदों में सांख्य के तत्वों का विवेचन करते हुए कठोपनिषद् के इस 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ प्रकृति ही किया है।[10]

(ङ) तीनों तत्वों का एकत्र उल्लेख

तीनों तत्वों का एक ही कण्डिका[11] में वर्णन देखिये—'जो परमेश्वर, एक, सबका नियन्ता और सारे भूतों का साक्षी है, वही एक वस्तु प्रकृति को बहुत प्रकार में रचता है। उसकी स्वाभाविक इच्छा से प्रकृति में अनेक परिणाम

१—ऋतं पिबन्तौ। वहीं।

२—गुहा प्रविष्टौ। वहीं

३—छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति। देखिये वहीं भीमसेन भाष्य, पृ० ८९।

४—कठ० १।३।११।

५—सांख्य० १।६१।

६—महतः परमव्यक्तम्। १।३।११। (कठ०)

७—(अव्यक्तम्) प्रकृत्याख्यं जगतः कारणम्। कठ० भीमसेन भाष्य, पृ० १०४।

८—(अव्यक्तम्) सर्वस्य जगतो बीजभूतम्।

कठो० शांकर भाष्य, पृ० १२८।

९—अव्यक्तम्—अव्याकृता (प्रकृति वा माया) वहीं, पृ० १८४।

१०—देखिये—'उपनिषदों में सांख्य के तत्व' लेख विश्वज्योति पत्रिका उपनिषद्—अंक, भाग २, पृ० १७५, जून-जुलाई १९७३।

११—एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।

तमात्मस्थं ये नुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ कठ० २।५।१२।

होते हैं। जो धैर्य रखने वाले पुरुष अपनी जीवात्मा में भी व्याप्त उस परमेश्वर को देखते हैं उन्हीं को मुक्ति का सुख मिलता है दूसरों को नहीं।" इस कण्डिका में पं० भीमसेन,[1] स्वामी सत्यानन्द[2] तथा प्रो० सत्यव्रत[3] आदि विद्वानों ने भी त्रैतवादों का प्रतिपादन किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि ईश्वर तो नियन्ता है वह सृष्टि का निमित्त कारण है तथा एक प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर की इच्छा से यह अनेक कार्य रूप में परिणत होती है। परमात्मा को जीवात्मा में स्थित (आत्मस्थम्) कहकर जीवात्मा और परमात्मा का व्याप्य ओर व्यापक तथा द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध स्थापित किया है। तीनों तत्वों के विशिष्ट वर्णन से यहाँ त्रैतवाद स्पष्ट है।

इसी प्रकार अन्य कण्डिकाओं में तीनों तत्वों का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ कहा है – 'महतत्व से पर' 'अव्यक्त' प्रकृति है।[4] अव्यक्त (प्रकृति) से परे व्यापक पुरुष परमात्मा है। उस परमेश्वर को जानने वाला 'जन्तु' जीवात्मा है।[5]

३—मुण्डकोपनिषद्

(क) ईश्वर :—

इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही 'परा' और 'अपरा' दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। पराविद्या उसे कहा है जिससे उस 'अक्षर' अविनाशी (ईश्वर) का ज्ञान होता है।[6] उस ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है —'वह अदृश्य, ग्रहण न होने वाला, अजन्मा, रंगरूपरहित, आँख, कान, हाथ, पैर से रहित, नित्य, सत्तामय, सर्वत्र विद्यमान, अत्यन्त सूक्ष्म, अपरिवर्तनशील, सम्पूर्ण जगत् का कारण उसे है धीरजन जानते हैं।[7] वह दिव्य है, अमूर्त है, पुरुष है, वह संसार के बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा है। वह प्राण और मनोवृत्ति से रहित है, शुद्ध है। अविनाशी तत्व से भी उत्कृष्ट है।[8]

१—कठ० भीमसेन भाष्य, पृ० १५३।

२—एकादशोपनिद् संग्रह, पृ० ३९।

३—एदकादशोपनिषद् भाष्य, पृ० ९८।

४—महतोऽव्यक्तमुत्तमम्। कठ० १।२।६।

५—अव्यक्तातु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ वहीं १।२।७।

६—अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक० १।१।५।

७—यतदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतम् सुसूक्ष्मं तदव्ययम् तद्भूतयोनिं परिपश्यन्तिधीराः॥ मुण्डक १।१।६।

८—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ मुण्डक० २।१।२।

(ख) जीवात्मा

इस उपनिषद् में जीवात्मा के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करके ब्रह्म को उसका लक्ष्य बतलाया है।[1] यहाँ दोनों का एक ही स्थान पर उल्लेख है। जीवात्मा को साधक और ब्रह्म को साध्य बतलाया है। जीवात्मा को इस उपनिषद् में 'पश्य:' कहकर उसे देखने वाला कहा है, ईश्वर को दृश्य बतलाया है।[2] उस ईश्वर के दीख जाने पर इस जीवात्मा के हृदय की सब गाँठें टूट जाती हैं। सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, कर्म छूट जाते हैं।[3] दोनों की भिन्नता भी यहाँ स्पष्ट है।

(ग) प्रकृति

इस उपनिषद् में प्रकृति का 'वृक्ष' नाम से उल्लेख किया है।[4] 'वृक्ष' शब्द का अद्वैतवादियों ने शरीर अर्थ किया है[5] तथा त्रैतवादियों ने प्रकृति अर्थ किया है।[6]

(घ) एकत्र तीनों की सत्ता

इस उपनिषद् में दो कण्डिकाएँ ऐसी हैं जिनमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का उल्लेख तथा उनकी परस्पर भिन्नता का वर्णन है। कण्डिकाओं का भाव इस प्रकार है--'दो पक्षी हैं (जीवात्मा और ईश्वर) परस्पर मिले हुए सखा हैं, एक ही समान वृक्ष को आलिंगन किये हुए हैं। उनमें एक उस प्रकृतिरूपी वृक्ष के स्वादु फलों को खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है।[7] 'उसी एक पेड़ पर पुरुष-जीवात्मा भोगों में निमग्न कर्म में

१—तमेवैकं जानथ आत्मानम्। मुण्डक० २।२।५।

२—शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। वहीं २।२।४।

३—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशम्। वहीं ३।१।३।

४—भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। वहीं २।२।८।

५—वृक्षम्। मुण्डक० ३।१।१।
वृक्षे। वहीं ३।१।२।

६—वृक्षम्—वृक्ष तुल्यम् शरीरम् तथा वृक्षे-वृक्षतुल्ये शरीरे।
एकादशोपनिषद्:, अमरदास मणिप्रभा भाष्य, पृ० १३६-१३७।

७—वृक्षम्—प्रकृतिस्थानीयम् कार्यकारणरूपं भोग्यं जड़ं जगच्च।
भीमसेन शर्मा भाष्य मुण्डकोपनिषद्, पृ० ९४।
द्वासुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। मुण्डक० ३, १।१।

बन्धा जाकर, अपनी असमर्थता से मोह में पड़ा शोक करता है। जब अपने से भिन्न ईश्वर को और उसकी महिमा को देखता है तब शोक रहित हो जाता है।'[1]

वस्तुतः इन कण्डिकाओं में दो परस्पर विलक्षण चेतन सत्ताओं का स्पष्ट उल्लेख है। जिनमें एक जीवात्मा है जो भोक्ता है तथा दूसरा ईश्वर है जो जीवात्मा को फल भोगते हुए देखता है। दोनों इस प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। त्रैतवादी भाष्यकारों ने यहाँ ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति अर्थ स्वीकार किया है।[2]

४ — छान्दोग्योपनिषद्

(क) ईश्वर :—

छान्दोग्य उपनिषद् में ईश्वर का 'ओम्' नाम से उल्लेख करके[3] उसे आनन्दमय[4] बतलाया है।

(ख) जीवात्मा

जीवात्मा को कर्मशील पुरुष कहकर उसके विषय में कहा है कि यह जीवात्मा जैसे कर्म करता है वैसा ही फल अग्रिम जन्म में प्राप्त करता है।[5] जीवात्मा अणु है।[6] यह कभी नहीं मरता।[7] जब तक यह शरीर में रहता है तब तक व्यक्ति सबको पहचानता है।[8] जीवात्मा वृक्षों में भी है, जब इसकी एक शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है[9] इस उपनिषद् में आरुणि ने अनेक उदाहरण देकर श्वेतकेतु को 'जीवात्मा' का रहस्य विस्तार से समझाया है।[10]

---

१ – समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
वहीं ३।१।२।

२—देखिये —भीमसेन भाष्य मुण्डकोपनिषद्, पृ० ६४।

३—ओमित्येतदक्षरम्। छान्दोग्य० उ० १।१।१।

४—स एष रसानां रसतमः। वहीं १।१।२।

५—क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।
वही ३।१४।१।

६—एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा श्यामकाद्वाश्यामाकतण्डुलाद्वा। वहीं ३।१४।३।

७—न जीवो म्रीयते। वहीं ६।१२।३।

८—स यावदस्याच्छरीरादनुक्रान्तो भवति तावज्जानाति। वहीं छान्दोग्य ८।६।४

९—स एष जीवेनात्मानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।
अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति सा शुष्यति। वहीं ६।११।१,२।

१०—देखिये —वहीं, प्रपाठक ६।

(ग) प्रकृति

प्रकृति के विषय में कहा है कि यह जगत् पहले 'असत्' अर्थात् 'अव्यक्त' था परन्तु वह 'सत्' था अर्थात् उसका अभाव नहीं था।[1] क्योंकि असत् से अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] 'सत्' से अर्थात् भाव रूप तत्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव है।[3] भाव रूप तत्व ईश्वर भी है और प्रकृति भी दोनों के अस्तित्व से जगद्रचना सम्भव है। चेतन तत्व में ही जगत् को रचने की इच्छा पैदा हुई।[4] परन्तु केवल चेतन तत्व जगत् का उपादान कारण नहीं। ऐसा मानने पर चेतन उपादान से अचेतन कार्य कैसे उत्पन्न हुआ इसका कोई समाधान नहीं निकल सकता। अतः मूलकारण कोई अचेतन तत्व भी होना चाहिए उसे ही त्रिगुणात्मक प्रकृति के रूप में स्वीकार किय जाता है। यह अचेतन उपादान बिना चेतन की सहायता के सृजन नहीं कर सकता अतः जगद्रचना में चेतन तत्व की भी परमावश्यकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में इन दोनों तत्वों को 'असत्', अव्यक्त रूप में कहा है। साथ में यह भी कहा है कि ये दोनों 'सत्' अर्थात् सत्य हैं। 'सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेवमेवाद्वितीयम्'[5], इस वाक्य का अद्वैतवादी तो अर्थ करते हैं कि एक ब्रह्म ही था सजातीय या विजातीय अन्य कोई तत्व नहीं था।[6] त्रैतवादी इसका अर्थ करते हैं - कि वह ब्रह्म एक ही अनुपम था। उस जैसा दूसरा नहीं था, परन्तु विजातीय तत्व थे।[7] वस्तुतः अद्वैतवादी यह कैसे कह सकते हैं कि विजातीय तत्व नहीं था, क्योंकि माया को वे ब्रह्माश्रित, त्रिगुणात्मिका तथा भावतत्व स्वीकार करते हैं।[8] ब्रह्म गुणातीत है उसके अतिरिक्त चाहे उसे अव्यक्त अवस्था में स्वीकार करें या ब्रह्माश्रित अवस्था में वह माया है तो अवश्य और त्रिगुणात्मक तत्व होने से वह ब्रह्म से विजातीय ही सिद्ध होता है अतः अद्वैतवादियों का यह कथन समीचीन नहीं है कि ब्रह्म के अतिरिक्त विजातीय तत्व नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में भी अभाव से भाव की उत्पत्ति का निषेध है अतः सृष्टि प्रक्रिया में अचेतन तत्व प्रकृति की भी मान्यता उसे स्वीकार है। इस प्रकार त्रैतवादियों ने छान्दोग्य में त्रैतवाद का प्रतिपादन स्वीकार किया है।

१—असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। वहीं ३।१९।१।

२—कथमसतः सज्जायेत्। छान्दोग्य० ६।२।२।

३—सत्वेव सोम्येदमग्र आसीत्। वहीं।

४—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। वहीं ६।२।३।

५—छान्दोग्य ६।२।२।

६—सदेव सच्छब्दवाच्याव्याकृतात्मवमीश्वरभूतमेवआसीदित्यर्थः
तस्य लक्षणमाह—एकमेवाद्वितीयामिति। एतैः पदैः क्रमेण सजातीय स्वगतविजातीय भेदरहितम् आत्मतत्वमुक्तम्॥ श्री नित्यानन्दाश्रम मिताक्षरी टीका० छान्दोग्य, पृ० ३६१-३६२।

७—देखिये—प्रो० सत्यव्रतभाष्य एकादशोपनिषद्, पृष्ठ ५३७।

८—अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम्।
सदानन्द वेदान्तसार, पृ० १४।

(घ) छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्यों[1] की समीक्षा

१—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। तज्जलानिति शान्त उपासीत्।[2]

अद्वैतवादी इस वाक्य को सगुण ब्रह्म की उपासना का प्रकरण मानते हैं। वे इसका अर्थ करते हैं कि—उसी ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, उसी में लीन हो जाता है, उसी में चेष्टा करता है, स्थित रहता है। तीनों कालों में जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं। आत्मरूप में अवशिष्ट यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है।[3] त्रैतवादी कहते हैं इस वाक्य का अर्थ प्रकरणानुसार करना चाहिए। इस वाक्य से पहले सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म की ज्योति का वर्णन है।[4] उसके बाद यह वाक्य लिखा है, जिसका अर्थ होना चाहिए सबमें जो ज्योति है वह सब ब्रह्म है। अथवा सब कुछ यह ब्रह्म है यह कहकर इस वाक्य के अभिप्राय को आगे स्पष्ट किया है कि उसी ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है, उसी के द्वारा प्रलयकाल में लीन होता है और उसी द्वारा स्थित रहता है। जगत् की ये तीनों स्थितियाँ ब्रह्म सम्बन्धी हैं। यही इस वाक्य का अर्थ करना उचित है। दूसरी बात यह है कि इस वाक्य से न प्रकृति का निषेध है और न जीवात्मा का, क्योंकि यहीं पर 'तज्जलान्' पद स्पष्ट कर रहा है कि जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है। अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति माया के बिना नहीं कर सकता अतः उन्हें भी ब्रह्माश्रित माया को मानना ही पड़ता है। इसी वाक्य में 'उपासीत्' पद उपासक जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है। अतः यहाँ अद्वैत की सिद्धि स्पष्ट नहीं है।

२—तत्त्वमसि[5]

इस वाक्य का अद्वैतवादी तीन सम्बन्धों की क्लिष्ट कल्पना करके[6] अखण्डेकार्थ के आधार पर जीव और ब्रह्म में स्वरूप से अभेद स्थापित करते हैं। वे 'तत्' से 'वह ब्रह्म' और 'त्वम्' से 'तू है' अर्थात् तू ब्रह्म ही है यह अर्थ स्वीकार करते हैं हैं। परन्तु मूल कण्डिकाओं के सन्दर्भानुसार यदि इस वाक्य का अर्थ किया जाये तब इस वाक्य का जीवात्मा अर्थ अधिक सुस्पष्ट है। एक उदाहरण देखिये। उसमें कहा है—निश्चय से यह शरीर आत्मा रहित ही मरता है,

---

१—इन वाक्यों की महावाक्य संज्ञा अद्वैतवादियों की ही देन है।
देखिये वेदान्तसार, पृ० ५०।

२—छान्दोग्य, ३।१४।१।

३—तज्जलान् तस्मात् ब्रह्मणो जगत् जायते इतितज्जं तस्मिल्लीयते इति तल्लं तस्मिन्ननिति चेष्टते स्थितिकाल इति तदनम्॥ त्रिषुकालेषु ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतो निरूपणात् तदात्मत्वेनावाशिष्टं सर्वं खल्विदं जगत् ब्रह्मेति। एकादशोपनिषदः, श्री नित्यानन्दाश्रम टीका पृ० ३००।

४—देखिये छान्दोग्य, ३।१३।७।८।

५—छान्दोग्य० ६।८।७।

६—समानाधिकरण्यं च विशेषण विशेष्यता।
लक्ष्यलक्षण सम्बन्धः प्रत्यगात्मनाम्॥ वेदान्तसार, पृ० ५०।

आत्मा नहीं मरता । वह जो यह अविनाशी आत्मा है, वह परम सूक्ष्म हैं, यह आत्मभाव है, यह सब सत्य है, सत्तात्मक तत्व है, यही आत्मा श्वेतकेतु तू है[1] यहाँ स्पष्ट जीव 'शब्द' का उल्लेख करके और उसे अमर बतलाते हुए श्वेतकेतु से कहा है कि यही जीवात्मा तेरे भीतर है, यही तू है ।

इस प्रकार इन अभेदाभासित वाक्यों के आधार पर अद्वैतवादियों ने अपने 'अद्वैत' सम्प्रदाय की नींव डाली तथा इन्हीं वाक्यों के आधार पर द्वैतवादियों ने 'द्वैत' सम्प्रदाय का भवन खड़ा किया । वस्तुतः उपनिषद् का ज्ञान हमें भौतिक जगत् से आध्यात्मिकता की तरफ ले जाता है । आध्यात्मिक क्षेत्र में संसार को व्यवस्था तीन तत्वों के आधार पर ही हो सकती है । ईश्वर, जीव और प्रकृति इनमें से यदि एक भी न हो तो भी जगत् की उत्पत्ति की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती । उपनिषदें इन तीनों तत्वों की सम्यक् व्याख्या करती हैं । उपनिषदें क्योंकि एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं भिन्न-भिन्न ऋषियों की वर्णन शैली में थोड़ा बहुत अन्तर होना स्वभाविक है । परन्तु सभी ऋषि अधिकतर ईश्वर, जीवात्मा और अचेतन तत्व की ही व्याख्या करते हुए प्रतीत होते हैं ।

५—बृहदारण्यकोपनिषद्

(क) ईश्वर

ईश्वर को 'अक्षर' अविनाशी कहकर इस उपनिषद् में उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—वह अक्षर न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न अंगारे की तरह लाल है, न चिकना है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश, है, यह असंग है, अरस है, अगन्ध है, अचक्षु है, अश्रोत है, वाक् रहित, मन रहित, तेज रहित, प्राण रहित, मुख रहित, मात्रा रहित है । इसके न कुछ बाहर हैं, न कुछ भीतर है, वह कुछ नहीं खाता न उसे कोई खाता है ।[2] वह ईश्वर पूर्ण है,[3] अमृत है ।[4]

(ख) जीवात्मा

'जीवात्मा' का 'पुरुष' नाम से उल्लेख करके प्रथम उसके विषय में प्रश्न किया है कि जब जीवात्मा सो रहा

१—जीवापेतंवाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति । स य एषो णिमा । एतदात्म्यम् इदं सर्वं तत्सत्यम् स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो । छान्दोग्य० ६।११।३।

२—तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो वायुवनाकाशमसंगम-रसमगन्ध-मचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमभुखममात्रमनन्तरमबाह्यम् न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ।। बृहदा० उ० ३।८।८।

३—पूर्णमदः । वहीं ५।१।१।

४—अमृतः । वहीं ३।६।४।

था तब कहाँ था[1] उसके उत्तर में कहा कि यह विज्ञानमय पुरुष जब सो रहा था। तब इन इन्द्रियों के विज्ञान के चेतन भाव को—अपनी चेतन सत्ता से ग्रहण करके जो यह हृदय में आकाश है उसमें सोता है।[2]

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद में विस्तार से जीवात्मा का वर्णन है। याज्ञवल्क्य कहते हैं पति के लिए पति प्यारा नहीं होता अपितु पत्नी की आत्मा के लिये पति प्यारा होता है[3] अतः जीवात्मा देखने योग्यहै, सुनने योग्य है और मानने योग्य है।[4] यह जीवात्मा इस शरीर के अंगों को त्यागकर जाता है और फिर यथानियम जीवन के लिये जन्मान्तर को दौड़ता है अर्थात् कर्मानुसार पुनर्जन्म धारण करता है।[5]

(ग) प्रकृति

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'आपः' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके एक ब्राह्मण में कहा है—आप ही पहले थे।[6] इसका अर्थ यहाँ जल हो सकता क्योंकि यह प्रलयावस्था का वर्णन है। प्रलावस्था में भौतिक जल जो कि सृष्टिक्रम में बाद की रचना है वह नहीं हो सकता। यहाँ बहुवचन का प्रयोग है अतः 'आपः' शब्द का अर्थ ईश्वर भी नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ—व्यापक परमाणु प्रारम्भ में उपादान कारण रूप में थे। यह अर्थ समुचित है। आचार्य शंकर ने भी 'आपः' का अर्थ जगत् के बीजभूत परन्तु आत्मा के साथ अव्याकृत अवस्था में रहने वाले क्रिया है।[7] श्री नारायण स्वामी[8] तथा प्रो० सत्यव्रत[9] ने भी 'आप' का अर्थ प्रकृति किया है।

(घ) बृहदारण्यकोपनिषद् के अभेद सूचक वाक्यों की समीक्षा

इस उपनिषद् में अनेक स्थल ऐसे हैं जो दार्शनिकों के लिए द्वैत या अद्वैत के भाव उत्पन्न करते हैं। उन वाक्यों में प्रमुख वाक्य इस प्रकार हैं—

१—एतत्सुप्तोऽभूत एष विज्ञानमयः पुरुषः क्व एष तदाभूत।
बृहदा० उ० २।१।१६।

२—एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञामादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिंछेते॥
वहीं २।१।१७।

३—नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामायपतिः प्रियो भवति पवता॥
वहीं २।४।५।

४—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः—वहीं।

५—अयं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं। प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव॥ वहीं ४।३।३६।

६—आप एवेदमग्र आसुः। बृहदा० ५।५।१

७—ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनाऽवस्थिताः। शंकर भाष्य बृहदा० उ० पृ० ७०१।

८—वहीं नारायण स्वामी भाष्य, बृहदा० उ० पृ० ५११।

९—प्रो० सत्यव्रत एकादशोपनिषद्, पृ० ६१८।

(१: क्या उस ब्रह्म को किसी ने जाना जिससे यह सारा जगत् हुआ है ?[१] इसका उत्तर दिया है कि प्रलयावस्था में ब्रह्म था, उसने स्वयं को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। उसी से यह सृष्टि उत्पन्न हुई।[२] इसे अद्वैतवादी अनुभव वाक्य कहते हैं।[३] उनके अनुसार यह वाक्य ज्ञान की उच्चावस्था में 'जीवात्मा' कहता कि मैं ब्रह्म हूँ परन्तु त्रैतवादियों का कहना है कि यहाँ स्पष्ट प्रलयकालीन अवस्था में ब्रह्म ही स्वयं को जान रहा है 'कि मैं ब्रह्म हूँ' अतः अद्वैतवादियों का कथन प्रसंगानुकूल नहीं। इसी उपनिषद् में अन्य स्थल पर जीवात्मा का अनुभव वाक्य इस प्रकार है—'यदि जीवात्मा अपने 'पुरुष' (शरीर में रहने वाले) रूप को जान जावे तब किस कामना के लिए शरीर के साथ कष्ट पावे[४]। यहाँ जीवात्मा स्वयं को जाने कि मैं यह पुरुष हूँ। वस्तुतः ऊपर कहा हुआ (अहं ब्रह्मास्मि वाक्य परमेश्वर है और नीचे कहा है हुआ (अयमस्मीति पुरुषः) जीवात्मा का अनुभव वाक्य है।

(२ एक स्थल पर कहा है कि सृष्टि के आदि में विवाह आदि विधि प्रचार से पहले सबके भीतर केवल आत्म (जीवात्मा) भाव था उसके बाद नर में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरी पत्नी होवे।[५] यहाँ जातिपरक अद्वैत तो है अर्थात् आरम्भ में सभी चेतन जीवात्मा के रूप मे ही स्वयं को समझते थे, परन्तु ब्रह्म और जीवात्मा का अभेद प्रतिपादित नहीं है। फिर भी अद्वैतवादी भाष्यकार यहाँ प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द का अविद्या से युक्त (ब्रह्म) अर्थ करते हैं।[६] त्रैतवादियों के अनुसार यहाँ जीवात्मा का वर्णन है।

(३) याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद में जीवात्मा का विस्तार से वर्णन किया गया है वहीं पर निर्विकल्पक समाधि की अवस्था[७] का वर्णन करते हुए लिखा है—जब तक यह जीवात्मा समाधि की अवस्था में नहीं होता तब इसमें द्वैतभाव बना रहता है अर्थात् चित वृत्तियों के साथ वाह्य विषयों में फंसा रहता है। परन्तु जब यह स्वरूप भाव (आत्मभाव) में चला जाता है तब सूँघना, देखना, सुनना आदि भाव नहीं रहते। वहाँ ज्ञातृ ज्ञेयत्वमात्र नहीं होता।[८]

१—किमुतद् ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवत्। बृहदा० उ० १।४।६।

२—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति।
तस्मात्तत्सर्वमभवत्। वहीं १।४।१०।

३—देखिये वेदान्तसार (सदानन्द) पृ० ५८।

४—आत्मनं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामायशरीरमनुसंज्वरेत्॥ बृहदा० उ० ४।४।१२।

५—आत्मैवेदग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत जाया मे स्यात्॥ बृहदा० १।४।१७।

६ अत्र आत्म शब्देन स्वाभाकृयाऽविद्ययायुक्तः।
बृहदा०, नित्यानन्दाश्रम, टीका, पृ० ४७१।

७—स्मृति परिशुद्धौ स्वपशून्येवार्थमात्रनिर्भासार्वितर्का। योग० १।४३।

८—यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति।
यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्वेन कं जिघ्रेत्। बृहदा० २।५।१४।

इस प्रकार की अद्वैत श्रुतियों के विषय में सांख्यदर्शनकार कहता है—इन अद्वैत श्रुतियों में विरोध नहीं है क्योंकि ये श्रुतियाँ चेतन जाति परक हैं।[1]

(४) मधुविद्या के वर्णन में कहा है जो यह पृथ्वी में प्रकाशमय, अमृतमय, पुरुष परमात्मा है और शरीर में रहने वाला जो अमृतमय पुरुष जीवात्मा है यह आत्मतत्व ही वह है (जो हमारा ज्ञेय है) यह अमृत है, यह ब्रह्म (महान्) है, यह सब कुछ है।[2] ऐसे प्रसंगों में जीवात्मा और परमात्मा में अभेद प्रतीत होता है। इन्हीं प्रसंगों को देखकर डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं— प्रारम्भिक गद्य उपनिषदों में आत्मा वैयक्ति चेतना का तत्व है और ब्रह्म व्यवस्थित विश्व का अपुरुषविध। यह भेद शीघ्र ही कम होने लगता है और दोनों एकाकार हो जाते हैं।[3] यद्यपि राधाकृष्णन् का यह कथन समीचीन नहीं क्योंकि पद्यात्मक कथा वाद की रचना श्वेताश्वतर में द्वैत और अधिक स्पष्ट रूप में वर्णित है। अतः ऊपर के वाक्य को समाधि की अवस्था में आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप को समझाने का भाव ही समझना चाहिए।

(५) इन्द्र माया के द्वारा बहुरूप धारण करता है।[4] आचार्य शंकर यहाँ प्रयुक्त 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमेश्वर करते हैं[5] वह ईश्वर माया के द्वारा मिथ्या ही बहुरूप प्रतीत होता है[6] यह अद्वैतवादी अर्थ करते हैं। यहाँ त्रैतवादी स्पष्ट परमेश्वर की व्यापकता का वर्णन मानते हैं। परमेश्वर माया के द्वारा संसारी जीव बन जाता है यह अर्थ यहाँ नहीं है। 'इन्द्र' का अर्थ जीवात्मा भी होता है।[7] यह जीवात्मा माया (प्रकृति) के गुणों से प्रभावित होकर अनेक रूप धारणा करता है यह अर्थ भी सुसंगत है।

(६) वह अविनाशी परमेश्वर तेरी आत्मा के भी व्यापक है।[8]

(७) यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म (महान्) है।[9]

(८) ब्रह्म में अनेकपन नहीं है।[10]

१—नाद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात्। सांख्य० १।११२।

२—यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो।
यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा,
इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥ बृहदा० २।५।१।

३—देखिये डा० राधाकृष्णन्-उपनिषद् की भूमिका, पृ० ७८।

४—इन्द्रोमायाभि पुरुरूपईयत। बृहदा० २।६।१९।

५—इन्द्रपरमेश्वरः। बृहदा० शांकर भाष्य, पृ० १४२।

६—वहीं नित्यानन्दाश्रम मिताक्षरी टीका, पृ० ५२१।

७—इन्द्रियमिन्द्रलिंगमित्यादि। अष्टाध्यायी सूत्र ५।२।९३। इस सूत्र में इन्द्र का अर्थ जीवात्मा है। देखिये सिद्धान्त-कौमुदी, पृ० ३५६।

८—एषते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः। बृहदा ३।६।४।

९—अयमात्मा ब्रह्म। वहीं ४।४।५।

१०—नेहनानास्ति किंचन। वहीं ४।४।१९।

इत्यादि अनेक वाक्यों में द्वैतवादी द्वैत-सम्बन्धी व्याख्या करते हैं तथा अद्वैतवादी अद्वैतपरक परन्तु त्रैतवादी इन्हीं वाक्यों का त्रैतवाद के अनुकूल अर्थ करते हैं। वस्तुतः यदि देखा जाये तो इन वाक्यों का प्रसंगानुकूल अर्थ कहीं परमेश्वर है और कहीं जीवात्मा। ब्रह्म शब्द का अर्थ उपनिषदों में परमेश्वर भी है तथा 'महान्' अर्थ भी है। इस महान् अर्थ में जीवात्मा भी ब्रह्म अर्थात् महान् है परन्तु वह परमेश्वर का ही स्वरूप नहीं है। बृहदारण्यक के अनेक वाक्यों में अद्वैतवाद आभासित होता है, परन्तु कुछ उक्तियाँ तो समाधि अवस्था की हैं जिस अवस्था में पहुँचकर केवल ब्रह्म के दर्शन होते हैं और कुछ वाक्य चेतन जाति परक हैं। अस्तु ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का अस्तित्व इस उपनिषद में दिखाया ही जा चुका है अतः त्रैतवाद का अस्तित्व इस उपनिषद् में विद्यमान है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

(६) श्वेताश्वतरोपनिषद्

ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् की रचना त्रैतवाद सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही हुई है। इसमें त्रैतवाद अतिस्पष्ट है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ इन प्रश्नों से होता है—"सृष्टि का कारण क्या ब्रह्म है? या कुछ और है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? किससे जीते हैं? किसमें स्थित हैं? किसकी व्यवस्था में बन्धे हुए हम सुख दुःखों में बरतते हैं।[1] यहाँ सृष्टि का कारण क्या है? जीवात्मा कैसे प्रकाश में आये? ब्रह्म सृष्टि का कैसा कारण है? यहाँ अचेतन जगत्, जीवात्मा और ब्रह्म के विषय में प्रश्न किये गये हैं। इन्हीं का विवरण आगे किया गया है।

(क) ईश्वर

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए इस उपनिषद् में उसे अजन्मा[2], एक[3], अनुपम[4], अरूप[5], दुःख रहित, सर्वव्यापक[6], कल्याणकारी[7], अनादिप्रकाशरूप[8], इन्द्रियों के बन्धन से रहित[9], सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से

१—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥
श्वेता० १।१।

२—अजम्। श्वेता० २।१५

३—एकोहिरुद्रो न द्वितीयायतस्थुः। वही ३।२।
द्यावाभूमी जनयदेव एकः। वहीं ३।३।

४—यस्मात्परंनापरमस्ति किंचित्। वहीं ३।६।

५—अरूपमनामयम्। वहीं ३।१०।

६—सर्वव्यापी स भगवान्। वहीं ३।११।

७—शिवः। वहीं

८—ज्योतिरव्ययः वहीं ३।१२।

९—सेर्वन्दियविवर्जितम् वहीं ३।१७।

महान्[1], अजर, अनादि[2], जन्म रहित, नित्य[3], वर्ण रहित[4], प्राणियों का शासक[5], जगत् का स्रष्टा[6], जगत् का रक्षक[7], अविनाशी[8], निराकार[9], अनुमान्नुयुक[10], चक्षुओं से न देखने योग्य[11], संसार का अकेला अधिष्ठाता[12], न वह किसी का उपादान कारण, न उसका कोई कारण[13], चेतन, निर्गुण (सत्व, तम, रज से रहित)[14], सबका प्रकाशक[15], तथा अग्नि आदि अनेक नामवाला बतलाया गया है[16]। त्रैतवाद को जैसा ईश्वर अभीष्ट है वैसा ही उसका वर्णन यहाँ किया गया है।

(ख) जीवात्मा

शरीर में जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करते हुए इस उपनिषद् में कहा है—नौ दरवाजों वाले शरीर में रहता हुआ यह 'देही' जीवात्मा बाह्य संसार में प्रवृत रहता है।[17] यह स्वरूप से अणु है—'यदि बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जावें, फिर उन सौ में से एक एक के सौ हिस्से किये जावें उतना भाग जीवात्मा का समझना चाहिये।[18] यह

---

१ - अणोरणीयान् महतो महीयान् । वहीं ३।२० ।

२—अजरं पुराणम् । वहीं ३।२१ ।

३—जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् । श्वेता० ३।२१ ।

४ - अवर्णः । श्वेता० ४।१ ।

५—य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः । वहीं ।४।१३ ।

६—विश्वस्य स्रष्टारम् । वहीं ४।१४ ।

७—स एव काले भुवनस्य गोप्ता । वहीं ४।१५ ।

८—तदक्षरम् । वहीं ४।१८ ।

९—न तस्य प्रतिमा अस्ति । वहीं ४।१९ ।

१०—न संदृशेतिष्ठतिरूपमस्य वहीं ४।२० ।

११—न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । वहीं ४।२० ।

१२—अधितिष्ठत्येकः । वहीं ५।४ ।

१३—न तस्यकार्यं करणं च विद्यते । वहीं ६।८ ।

१४ - चेताकेवलोनिर्गुणश्च । वहीं ६।११ ।

१५—तस्यभासा सर्वमिदं विभाति । वहीं ६।१४ ।

१६ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ वहीं ४।२ ।

१७—नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः । श्वेता० ३।१८ ।

१८ - बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः । वहीं ५।९ ।

जीवात्मा लिंगरहित है'—न स्त्री लिंगी है, न पुल्लिंगी है, न नपुंसक लिंगी है। ये लिंग शरीर के हैं, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है, उस उसके लिंग के साथ संयुक्त हो जाता है।[1] यह जीवात्मा कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के शरीरों में जाता है।[2] अपने कर्मों से अनेक प्रकार के छोटे बड़े शरीरों को प्राप्त करता है।[3] यह जीवात्मा जैसे मिट्टी से लिपा हुआ सुवर्णपिण्ड भली प्रकार धोया हुआ, वह तेजोमय चमकता है वैसे ही अपने आत्म स्वरूप को देखकर यह 'अकेला कृतार्थ और शोक रहित हो जाता है।[4] यहाँ विशुद्ध रूप में जीवात्मा का वर्णन है। त्रैतवाद में भी जीवात्मा का यही स्वरूप स्वीकार है।

(ग) ईश्वर और जीवात्मा की भिन्नता

श्वेताश्वेतरोपनिषद् की कण्डिका में दीपक की उपमा के द्वारा जीवात्मा और ईश्वर का भेद स्पष्ट किया गया है। जब योगी समाधिस्थ होता है उस अवस्था में वह ब्रह्म नहीं बन जाता अपितु ब्रह्म को देखने वाला बनता है। जैसे दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है तथा अपने से भिन्न पदार्थ को भी प्रकाशित करता करता है, इसी प्रकार यह जीवात्मा समाधिस्थ होकर स्वयं को भी जानता है तथा अपने से भिन्न तत्व ईश्वर को भी जानता है।[5] इस उपनिषद् में जीवात्मा को देह में रहने वाला देही कहा गया है[6] तथा ईश्वर को सर्वव्यापक माना है।[7] जीवात्मा को इन्द्रियों से युक्त शरीर में आया हुआ माना गया है तो ईश्वर को इन्द्रियों से रहित कहा है।[8] जीवात्मा को कर्मफल के चक्र में आया हुआ बतलाया गया है।[9] परन्तु ईश्वर कर्मबन्धन में नहीं आता। इस प्रकार इस उपनिषद् में दोनों नित्य, अनादि और परस्पर भिन्न सत्तायें स्वीकार की गई है।

१—नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं न नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते। श्वेता० ५।१०।

२—कर्मानुगान्युनक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते। वहीं ५।११।

३—स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। वहीं ५।१२।

४—यद्येव विम्बं मृद्योपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधोन्तम्।
तद्वदात्मत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीत शोकः॥ वहीं २।१४।

५—यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। श्वेता० २।१५।

६—श्वेता० ३।१८।

७—सर्वभूतेषुगूढ़:सर्वव्यापी। श्वेता० ६।११।

८—सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।   वहीं ३।१।१७ (श्वेता०)

९—सर्वे। वहीं ५।११।

(घ) प्रकृति

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। उल्लेख ही नहीं किया अपितु प्रकृति और माया के स्वरूपैकत्व को भी स्पष्ट किया गया है। अद्वैतवादियों की तरह यहाँ माया को अनिर्वचनीय नहीं कहा, किन्तु कहा है "माया को प्रकृति जानो और इस प्रकृति का प्रेरक महेश्वर को जानो"[1]। इस उपनिषद् की कण्डिकाओं प्रकृति का अभिधान वृक्ष[2] नाम से भी किया है। एक उदाहरण से यह भी सिद्ध किया है कि ईश्वर इस जगत् का निमित्तकारण है तो प्रकृति उपादान कारण है। प्रकृति का 'प्रधान' शब्द से भी उल्लेख करके कहा गया है—"जैसे मकड़ी तन्तुओं से अपने को आच्छादित कर लेती है, इसी प्रकार देव अकेला प्रधान अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाले जन्तुरूप माया जाल से संयुक्त हो जाता है।[3] यहाँ मकड़ी का शरीर उपादान कारण है। उसी प्रकार ईश्वर इस सृष्टि का निमितकारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर प्रकृति से कार्य-जगत् को रखकर उसमें वह व्याप्त रखता है। इस प्रकार प्रकृति का स्पष्ट वर्णन यहाँ विद्यमान है।

(ङ) तीन तत्वों का एकत्र वर्णन

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऐसी अनेक कण्डिकाएँ हैं जिनमें एकत्र ही ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन है। यहीं नहीं अपितु तीन संख्या वाचक शब्द का प्रयोग करक तीनों का उल्लेख किया गया है तथा तीनों के विशेष अन्तर को स्पष्ट किया गया है—उन तीनों में जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है तथा ईश्वर प्रेरक है। ये तीनों ही ब्रह्म अर्थात् महान् कहे गये हैं।[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् के इसी सन्दर्भ की ओर संकेत करते हुए श्रीरामानुज लिखते हैं—'जड़ वस्तु (प्रकृति), चेतन वस्तु (जीवात्मा) तथा परमब्रह्म को कुछ श्रुतियाँ भोग्य, भोक्ता और प्रेरक के रूप में तीनों के स्वरूप को कहती हैं'[5]।

इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहते हैं—हमने जो कुछ गाया वह परमब्रह्म का गीत गाया। इसमें 'ईश्वर', जीव और प्रकृति ये तीन अक्षर (अविनाशी) सुप्रतिष्ठित हैं[6] इन कण्डिकाओं में त्रैतवाद के समर्थक तीन संख्या वाचक शब्द का प्रयोग अति स्पष्ट है।

---

१ – मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४।१०।

२—स वृक्षकालाकृतिभि परः। वहीं ६।६।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः। वहीं ४।७।

३—यस्तूर्णनाभइव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्॥ वही ६।१०।

४ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं विविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।१२।

५—अचिद्वस्तुनः चिदस्तुनः परस्य ब्रह्मणो भोक्तृत्वेन ईशितृत्वेन च स्वरूपविवेकमाहुः काश्चनश्रुतयः।

देखिये—श्रीरामानुज भाष्य गीता० १३।१।

६—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च। श्वेता० १।७।

एक अन्य कण्डिका में तीनों तत्वों का विशिष्ट वर्णन करते हुए लिखा है - प्रकृति क्षर अर्थात् विनाशी (परिणामिनी) है तथा अक्षर (नित्य) भी है। यह कार्यरूप में व्यक्त हो जाती है तथा मूल कारण रूप में अव्यक्त रहती है। इस सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वर पालता है, धारण करता है। परन्तु जो ईश्वर नहीं है ऐसा जीवात्मा इस प्रकृति में भोक्तृभाव से बन्ध जाता है परन्तु जब वह उस ईश्वर को जान लेता है तब यह जीवात्मा प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है।[1] यहाँ प्रकृति के दो रूप बतलाये हैं परिणामी तथा अविनाशी। कार्यरूप में यह परिणत होती है तथा स्वरूप से नित्य है। इसी भाव को व्यक्त और अव्यक्त शब्दों से प्रकट किया गया है।[2] इस अचेतन प्रकृति का ईश्वर को 'भरते' शब्द से स्वामी, अधिष्ठाता[3] कहा है। यह जीवात्मा न प्रकृति है न विकृति है[4] और न ईश्वर है[5]। यह कर्म करता है और फल रूप में प्रकृति के भोगों को भोगता है। यही प्रकृति के बन्धन में आता है, ईश्वर प्रकृति के बन्धन में नहीं आता। यह जीवात्मा ईश्वर को जानने के बाद और यह जानने के बाद कि यह प्रकृति मेरी नहीं है।[6] वह इस प्रकृति के अविद्या तथा ममता जन्य बन्धन से मुक्त हो जाता है। यहाँ स्पष्ट ही त्रैतवाद का वर्णन है।

ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति को एक ही कण्डिका में अजन्मा (अनादि) कहकर जहाँ तीनों का अनादित्व स्वीकार किया है जो कि त्रैतवाद का आधार है, वहीं तीनों के लिए त्रैतवाद पर्याय 'त्रयम्' शब्द का प्रयोग करके तीनों तत्वों का भेद प्रतिपादित किया गया है। कण्डिका का भाव देखिये—'ईश्वर अनीश्वर—परमात्मा जीवात्मा दोनों अजन्मा हैं, ईश्वर सर्वज्ञ है जीवात्मा अल्पज्ञ है। निश्चय से एक प्रकृति भी अजन्मा है तथा भोक्ता जीवात्मा के भोग्य अर्थ से युक्त है। अनन्तस्वरूप परमात्मा विश्वरूप है—विश्व में व्यापक है तथा पुण्यापुण्य कर्मों का अकर्ता है। अतः भोग्य अर्थ से भी युक्त नहीं है। साधक जब इन तीनों महान् तत्वों को जान लेता है तब स्वयं भी महान् हो जाता है।[7]

१—संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ श्वेता० १।८।

२ मिलाइये मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः। सां, का, ३।

३—मिलाइये—तत्संनिधानादधिष्ठातृत्व मणिवत्। सांख्य दर्शन १।६१।

४—देखिये—सांख्यकारिका ३।

५—अनीशः। श्वेता० १।८।
अनीशया शोचति। वहीं ४।७।
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। वहीं १।९।

६—ईशावास्यमिदं सर्वम्। यजु० ४०।१।

७ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्मनेतत्॥ श्वेता० १।९।

त्रैतवाद के स्वरूप को यह कण्डिका अति स्पष्ट कर रही है। उपनिषद्कार भी पीछे की कण्डिकाओं में भी जीवात्मा का भोक्ता और ईश्वर को प्रेरक बतलाता चला आ रहा है। उन्हीं विचारों की शृंखला में यह कण्डिका कही है अतः अजा का अर्थ प्रकृति और दोनों अजों का अर्थ जीवात्मा और ईश्वर करना अधिक समीचीन है। इन दोनों का इस अन्तर को आगे की कण्डिका में और अधिक स्पष्ट कर दिया है वहाँ दोनों को जीवात्मा और ईश्वर को एक ही वृक्ष (प्रकृति पर रहता हुआ बतलाकर एक को अनीश कहकर और दूसरे को ईश कहकर इस भेद को स्पष्ट किया गया है। और कहा गया है कि 'जब तक जीवात्मा प्रकृति में आसक्त रहता है तब शोकग्रस्त रहता है परन्तु जब वह अपने से प्रेरित करने वाले तथा अपने से भिन्न ईश को तथा उसकी महिमा को देख लेता है तब शोकरहित हो जाता है।[1] उपनिषद्कार का यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है। वह तीनों तत्वों की परस्पर भिन्न सत्ता स्वीकार करता है। अतः यहाँ अद्वैत स्पष्ट नहीं केवल 'त्रैत' ही अधिक स्पष्ट है।

तीनों तत्वों का एक और अन्य कण्डिका में वर्णन देखिये। वहाँ कहा है—'परिणामधर्म वाला क्षर, प्रधान, जगत् का उपादान कारण (प्रकृति), दूसरी अमृत अविनाशी आत्म तत्व (जीवात्मा) और तीसरा पापों को हरनेवाला 'हर', ईश्वर ये तीन रूप हैं। इनमें एक परमेश्वर देव ही प्रकृति और जीवात्मा पर शासन करता है।[2] यहाँ प्रकृति को परिणामी बतलाकर उससे जीवात्मा को अपरिणामी भिन्न तत्व स्वीकार किया गया है तथा प्रकृति और पुरुष का शासक बतलाकर इन दोनों से भिन्न ईश्वर को स्वीकार किया गया है। यहाँ त्रैतवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है। इन तीनों तत्वों को अजन्मा अनादि बतलाते हुए लिखा है—'लाल, सफेद, काले रंग की[3] एक अजा (प्रकृति) है जो अपने ही रंग रूप वाली अनेक प्रजाओं का सर्जन करती है।[4] एक अज (जीवात्मा) है जो उस अजा के साथ प्रीति करता है। तीसरा 'अज' ईश्वर जो जीवात्मा के द्वारा भोगी जाती हुई प्रकृति में नहीं फंसता है।[5] आचार्य सायण ने इस कण्डिका में 'अज' का अर्थ ब्रह्म न करके प्रथम अज का अर्थ बद्ध जीव तथा दूसरे अज का अर्थ मुक्त जीव किया है।[6] उनकी दृष्टि में वस्तुतः परमार्थ में तो यह बद्ध और मुक्त जीव भी दो नहीं एक ही चेतन तत्व हैं। इस प्रकार उन्होंने यहाँ अद्वैतसिद्धि करने का प्रयत्न किया है। परन्तु उस उपनिषद्कार की आकांक्षा को यदि ध्यान से देखा जाय तो वह तीनों तत्वों को अजन्मा अर्थात् अनादि कहना चाहता है। यदि वह बद्ध और मुक्त जीवात्माओं का वर्णन करना चाहता तो अन्य कोई

१—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ श्वेता० ४।७।

२—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः॥ श्वेता० १।१०।

३—मिलाइये—सत्व, रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्य, १।६१।

४—मिलाइये—कारण गुणात्मकत्वात् कार्यस्य। सांख्य कारिका, १४।

५—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः॥ श्वेता० ४।५

६—देखिए यहीं कण्डिका तैत्तिरीयआरण्यक ८।७।७, वहीं सायणभाष्य, पृ० ८०६।

भेद सूचक शब्दों को रखता, परन्तु पीछे से भी ईश्वर और जीवात्मा दोनों को ईश, अनीश कहकर उन्हें अज ही कहा है।[1] और इस कण्डिका से भी यह बात सिद्ध होती है कि उपनिषद्कार ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का ही वर्णन करना चाह रहा है। देखिये—'दो' 'सुपर्ण' दो गतिशील चेतन सत्ताएं जीवात्मा और ईश्वर हैं, दोनों मिले हुए सखा हैं और एक ही समान प्रकृति रूपी वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक जीवात्मा प्रकृति के स्वादुफलों को भोगता है तथा दूसरा ईश्वर भोगों को न भोगता हुआ केवल साक्षी रूप से देखता है।[2] ईश्वर को दार्शनिक ग्रन्थों में क्लेश, कर्म और उनके फल और वासना से रहित पुरुष जीवात्मा से विशेष, भिन्न कहा गया है[3] वही भाव यहां है।

एक और कण्डिका देखिये जिसमें तीनों तत्वों का सकेत हैं उसमें लिखा है 'एक ईश्वर प्रत्येक कारण का अधिष्ठाता है, जिसमें यह जगत् उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में जिसमें समा जाता है, उस वर देने वाले, स्तुति करने योग्य देव, ईश्वर को जानकर (यह जीवात्मा) अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।[4] 'यहां सम्पूर्ण जगत् का एक अधिष्ठाता ईश्वर बतलाया गया है। 'संच' और 'विचेति' शब्दों से प्रकृति के स्वरूप से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का भी उल्लेख है। ये शब्द यजुर्वेद के मन्त्र[5] में भी विद्यमान हैं। इन्हीं शब्दों की व्याख्या क्षेमेन्द्र ने सांख्यतत्व विवेचन में 'संचरः' और 'प्रतिसंचरः' के रूप में की है। 'संचरः' का अर्थ वहाँ उत्पत्ति[6] तथा प्रतिसंचरः का अर्थ अव्यक्त प्रकृति में कार्य जगत् का लीन होना[7] किया है। वस्तुतः प्रकृतिरूप उपादान से कार्य जगत् का उत्पन्न होना तथा प्रलयावस्था में प्रकृति में ही लीन होना ये दोनों अवस्थाएं उस कूटस्थ परमेश्वर में ही होती रहती हैं। परमेश्वर तो केवल निमित्त कारण बना रहता है[8] अतः उपनिषद् की उपर्युक्त कण्डिका में भी यही अर्थ लेना चाहिए 'यस्मिन्' जिस ईश्वर में 'इदम्'

१—श्वेता० १।६।

२—द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। वहीं ४।६।

३—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः॥ योग० १।२४।

४—यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ श्वेता० ४।११।

५—तस्मिन्निदं संचविचैति सर्वम्। यजु० ३२।८।

६—क्रमेणैवोत्पत्तिः संचरः परिकीर्तितः। सांख्य संग्रहे, पृ० १५

७—व्युत्क्रमेणैव लीयन्ते तन्मात्रे भूपंचकम्।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि अहंकारे विलीयते॥
अहंकारोऽथ बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्त संज्ञके।
अव्यक्तं न क्वचिल्लीनं प्रति संचरइति स्मृतः॥ वहीं।

८—देखिये —
यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्॥ श्वेता० ६।१०।

यह जड़ जगत् अपने मूल उपादान से उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। इस प्रकार के कारणों का वह एक ईश्वर अधिष्ठाता है। अत्यन्त शक्ति को प्राप्त करने वाले जीवात्मा का संकेत यहाँ स्पष्ट ही है अतः तीनों तत्व इस कण्डिका में विद्यमान हैं। इस कण्डिका का भाव इसी उपनिषद् की निम्नलिखित कण्डिका से और स्पष्ट हो जाता है।

जो सबको वश करने वाला एक अखण्ड-ईश्वर अनेक-अनेक निष्क्रिय जड़भूतों के प्रकृति रूप एक बीज-कारण को बहुत प्रकार का कर देता है। जो धीरजन अपनी-अपनी आत्मा में स्थिर उस ईश्वर को देखते हैं उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं।[1] यहाँ पर भी ईश्वर को एक कहा है और क स्वयं निमितकारण रूप से उपादान कारण रूप प्रकृति उत्पन्न करता है। 'उसे' आत्मस्थ शब्द से आत्मा में भी व्यापक बतलाया है। तीनों तत्वों का स्पष्ट वर्णन है।

वस्तुतः इस उपनिषत् में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की परस्पर भिन्नता तथा उनके स्वरूप का वर्णन है। एक स्थान पर तो स्पष्ट कह दिया है कि—प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इन दोनों का पति स्वामी ईश्वर है।[2] इससे अधिक त्रैतवाद का स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है ?

निष्कर्ष

मैक्समूलर की दृष्टि में समूचे संसार में कोई भी अध्ययन इतना लाभदायक और ऊँचा उठाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों का अध्ययन।[3] वस्तुतः उपनिषदों में जानने योग्य सभी तत्वों का ज्ञान विद्यमान है। उपनिषदों में ब्रह्म शब्द से भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के तत्वों का उल्लेख किया गया है।[4] भोक्ता (जीवात्मा) भोग्य (प्रकृति) पातेज्ह और प्रेरक (ईश्वर) तीनों का ब्रह्म शब्द से उल्लेख मिलता है। ब्रह्म का अर्थ है 'महान' ये तीनों तत्व महान् है। इन तीनों में कहीं पर जीवात्मा का रथी[5], शर (तीर)[6] आदि शब्दों से साधक के रूप में तथा शरीरादि[7] व भौतिक तत्वों का साधन के रूप में एवं ब्रह्म का साध्य रूप में वर्णन में।[8] इस प्रकार साधक, साधन और

१—एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ श्वेता० ६।१२।

२—स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसार मोक्ष स्थितिबन्धहेतुः॥ वहीं ६।१६।
देखिये -- इस पर स्वामी सत्यानन्द भाष्य, एकादशोपनिषत्संग्रह, पृ० ४४५।

३ – मैक्समूलर—हम भारत से क्या सीखें, पृ० २३०।

४—देखिये—पीछे पृ० १९

५—आत्मानं रथिकं विद्धि। कठ० १।३।३।

६—सरोह्यात्मा। मुण्डक २।४।

७—शरीरं रथमेव तु। कठ० १।३।३।

८—ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। मुण्डक २।४।

साध्य में जोव तथा, प्रकृति और ईश्वर का वर्णन उपनिषदों में विद्यमान है। जिससे त्रैतवाद का प्रतिपादन स्पष्ट हुआ है ? वस्तुत: ईश, केन, प्रश्न, एतरेय, तैतिरोय और माण्डुक्योपनिषद् में ईश्वर और जोवात्मा का तो स्पष्ट उल्लेख हैं परन्तु प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। तदपि वहाँ अचेतन तत्वों का अभाव नहीं। अचेतन तत्वों को विद्यमानता से मूल उपादान प्रकृति को सत्ता का संकेत मिल ही जाता है क्योंकि ये अचेतन तत्व अभाव से उत्पन्न नहीं हुए। भाव रूप में ये अपने मूल उपादान प्रकृति में अवश्य रहते हैं। कठ, माण्डुक्य, छन्दोग्य, वृहदारण्यक, और श्वेताश्वतर में ईश्वर और जोवात्मा के साथ प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है अतः इस आधार पर उपनिषदों में त्रैतवाद को सता से इन्कार नहीं किया जा सकता।



तृतीयाध्याय

इतिहास पुराण स्मृत्यादि ग्रन्थों में त्रैतवाद

१—महाभारत

(क) ईश्वर

महाभारत में ईश्वर का अनेक नामों से वर्णन किया गया है। उसके विषय में कहा है -'वह कूटस्थ, उदार, अव्यक्त, निर्लेप, व्यापक प्रभु है। वह प्रकृति से परे, नित्य तथा इन्द्रियों से न दिखने वाला है।[1]' 'वह चमकती हुई महान् ज्योति है, वह प्रकाशित महान् यज्ञ है, उसकी देवता उपासना करते हैं, उससे सूर्य चमक रहा है। उस सनातन भगवान् को योगी देखते हैं।[2] उसके समान कोई रूप नहीं। उसे कोई इन चक्षुओं से नहीं देख सकता। बुद्धि से, मन से, और हृदय से जो इसे जानते हैं वे अमृत अवस्था को प्राप्त करते हैं।[3] इसी प्रकार ईश्वर का वर्णन और भी कई अध्यायों में विस्तार से मिलता है।[4] त्रैतवाद में ईश्वर का स्वरूप अभीष्ट है।

(ख) जीवात्मा

महाभारत के शान्तिपर्व में जीवात्मा की स्वतन्त्र एवं नित्य सत्ता स्वीकार की गई है। वहाँ जीवात्मा के विषय में यह लिखा है –'न जीव का नाश होता है, न उसके द्वारा दिये हुए का और न उसके द्वारा किये हुए कर्म का

१—कूटस्थोऽक्षरअव्यक्तोनिर्लेपो व्यापकः प्रभुः।
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः॥ महाभारत, शान्तिपर्वणि, मोक्षधर्म पर्व, १८२

२ यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः।
तद्वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ वहीं उद्योग पर्व, ३८।६।

३—न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाऽथ मनसा हृदा च। य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ वहीं, सभापर्व, ३८।६।

४—देखिये महाभारत, शान्तिपर्वणि, मोक्ष धर्म पर्व, अ० २०६, २१६, २१७, २३३, ३१६॥

नाश होता है। शरीर यहाँ नष्ट हो जाता है और जीव दूसरा शरीर प्राप्त कर लेता है।[1] शरीराश्रित जीव नष्ट नहीं होता।[2] शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से पृथक् जीवात्मा की नित्य सत्ता बतलाते हुए लिखा है—'इन्द्रियों से परे अर्थ (विषय) है, विषयों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, और बुद्धि से परे आत्मा है।[3] अपने कर्मों के अनुसार ही यह जीवात्मा फलों को प्राप्त करता है। इस विषय को एक श्लोक में स्पष्ट करते हुए लिखा है—'कर्म के द्वारा निर्मित मार्ग पर बार-बार ले जाया जाता हुआ यह कर्म के फल को प्राप्त करता है और धर्म में प्रवृत्त होता है।[4] जीवात्मा का 'शरीरी' शब्द से महाभारत में बहुधा उल्लेख हुआ है। चन्द्रमा का उदाहरण देकर जीवात्मा के विषय में लिखा है—जैसे अमावस्या में सूर्य के सहवास के कारण चन्द्रमा नहीं दीखता, परन्तु दृष्टिगोचर न होने से जैसे चन्द्रमा के नाश की सम्भावना नहीं है उसी प्रकार शरीर में रहने वाले जीवात्मा का भी नाश नहीं होता है।[5] पुनर्जन्म को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है 'जैसे अमावस्या में चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता वैसे ही स्थूल शरीर से पृथक् हुआ जीवात्मा दिखाई नहीं देता है। जैसे आकाश के अन्दर चन्द्रमा फिर दिखाई दे जाता है उसी प्रकार पुनः शरीर में जाकर यह जीवात्मा फिर दिखाई देने लगता है।[6] परन्तु चन्द्रमा से अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—'चन्द्रमण्डल की तरह जन्म, वृद्धि और क्षय जो कि प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं वह शरीर का ही धर्म है जीवात्मा का नहीं।[7] इस प्रकरण के अन्य श्लोकों में भी जीवात्मा

१—न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्यव कृतस्य च।
यात्ति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते॥
महाभारत—शान्तिपर्वणि, मोक्षधर्मपर्व, अ० १८७।१।

२ न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति॥ वहीं १।८।७।२।

३—इन्द्रियेभ्य; पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः॥ वहीं शान्तिपर्व, २४८।२।

४—प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः॥
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान्॥ वहीं २०४। १५।

५—यथा चन्द्रो ह्यामावस्यामलिंगत्वान दृश्यते।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम्॥ महाभारत मा० शा० प० २०४।१५।

६—क्षीणकोशो ह्यामावस्यां चन्द्रमा न प्रकाशते।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते॥
यथाकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः।
तद्वल्लिंगान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः॥ वहीं २०४।१६,१७

७—जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः॥ वहीं २०४।१८

के लिए शरीरी शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] यह जीवात्मा ज्ञान के द्वारा क्लेशों से छूट जाता है इस विषय को एक श्लोक में स्पष्ट करते हुए लिखा है —जिस प्रकार अग्नि में जले हुए बीज फिर उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि से दग्ध क्लेशों से आत्मा फिर प्रभावित नहीं होता है।[2]

जीवात्मा जब तक मुक्त नहीं होता तब तक सत्व, रज और तम से प्रभावित रहता है।[3] यह जीवात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है —विषयों में प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा नहीं देखा जा सकता है। जब इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगामों को मन से अच्छी तरह पकड़ लिया जाता है तब जैसे दीपक से प्रकाशित आकृति दीखने लगती है उसी प्रकार साधक को आत्मदर्शन होता है।[4] यह जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग से अनेक प्रकार के कर्म करता है तथा अनेक प्रकार की योनियों में जन्म धारण करता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व इसके गुण हैं, इस विषय का महाभारत में विस्तार से वर्णन मिलता है।[5]

(ख) प्रकृति

महाभारत में प्रकृति को अव्यक्त बतलाते हुए लिखा है —जिस प्रकार पीपल के छोटे से बीज में महान् वृक्ष छिपा रहता है उसी प्रकार अव्यक्त (प्रकृति) से व्यक्त (कार्य जगत्) उत्पन्न होता है।[6] यहां पीपल के बीज के उदाहरण से सत्कार्यवाद की पुष्टि हुई है, जिस प्रकार महान् पीपल का वृक्ष अपने बीज में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह कार्य जगत् अपने मूल उपादान कारण प्रकृति में विद्यमान रहता है। प्रकृति को नित्य बतलाते हुए कहा है —यह व्यक्त (कार्यजगत्) मृत्यु से ग्रसित है और अव्यक्त (प्रकृति) अमृत (नित्य है।[7] यह प्रकृति अन्य किसी

---

१ —देखिये वहीं श्लोक, २०।२१।२२।

२ —बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥ वहीं २११।१७।

३ —सम्वृतोऽयं तथा देही सत्वराजसतामसैः। म० भा० शा० प० २१७।१।२।

४ —न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः।
तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ् नियच्छति॥
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाकृति॥ वहीं २४८।१४,१५।

५ देखिये वहीं अ० १०३।३०४।

६ —यथाऽश्वत्थ वणीकायामन्तर्मूतो महाद्रुमः।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात् सम्भवस्तथा॥
महाभारत शान्ति पर्व २११।२।

७ —व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम्। महा० भा० श० पर्व २१७।२।

उपादान कारण में लीन नहीं होती अत: इसे महाभारत में 'अलिंग' शब्द से अभिहित किया गया है।[१] प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए महाभारत में कहा है जब प्रलयावस्था जाती है उस समय जड़ और चेतन जगत् नष्ट हो जाता है और ब्रह्म आदि भी नष्ट हो जाते हैं। ये सभी महाभूत तथा महत्तत्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं उस समय नारायण प्रभु एक ही रहता है।[२] उसमें यह प्रकृति आदि रहती हैं। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि प्रलयावस्था में यह कार्यजगत् नहीं रहता, यह अपने कारण में लीन हो जाता है। उस समय जीवात्माओं के ये शरीर भी नहीं रहते। महाप्रलयावस्था में अचेतन प्रकृति तथा जीवात्माएं एक व्यापक प्रभु में प्रसुत से रहते हैं। प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाते हुए कहा है त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सेवन से यह जीवात्मा भी तीनों गुणों से प्रभावित हो जाता है।[३] महाभारत में सांख्यदर्शन के तत्वों का विस्तार से वर्णन किया गया है।[४] एक स्थान पर वशिष्ठ जनक से कहते हैं हे राजन्, तुम्हारे लिए यह सांख्यदर्शन का उपदेश दिया।[५] सांख्य प्रतिपादित पच्चीस तत्वों का वर्णन महाभारत में किया गया है,[६] जिनमें अचेतन चौबीस तत्व प्रकृति के ही विरूप और स्वरूप हैं। जब यह प्रकृति का त्रिरूप कार्य जगत् अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब एक प्रकृति ही मूल उत्पादन रूप में स्थित रहती है इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'जब सत्व, रज और तम गुणों वाला जगत् अपने तीनों गुणों में लीन हो जाता है उस समय एक प्रकृति रह जाती है।[७] यह प्रकृति त्रिगुण-स्वभाव वाली है[८] और अचेतन है।[९] इस प्रकार प्रकृति की नित्य सत्ता का वर्णन महाभारत में विस्तार से मिलता है।

१—अलिंगां प्रकृतिंत्वाहुः। । वहीं ३०३।४७।

२—पुराऽथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजंगमे।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टेलोके चराचरे।
आभूत सम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतो महान्।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः॥

वहीं वनपर्व, अ० २१२, पृ० ६७१।

३—प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत्॥ वहीं शा० प० ३०४।११

४—महा० भा० शा० पर्व० अध्याय ३०६, ३०७।

५—सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम॥ महा० भा० शा० प० ११७।१

६—वहीं, ३०७।२,८,६,१४।

७ गुणा गुणेषु लीयन्ते तदेका प्रकृतिर्भवेत्। वहीं ३०६।१६।

८—गुणस्वभावस्त्वव्यक्तः। वहीं ३१५।७।

९—अव्यक्तं स्यादचेतनम्। वहीं पर श्लोक ५।

(घ) निष्कर्ष

महाभारत के उक्त प्रकरणों से ईश्वर, जीव और प्रकृति का नित्यत्व सिद्ध है। इन प्रकरणों में ईश्वर को 'अक्षर' बतलाया गया है, जीवात्मा को विनाशरहित बतलाया गया है और प्रकृति को अमृत, अलिंग तथा अव्यक्त बतलाया गया है। तीनों को अविनाशी तत्व स्वीकार करके त्रैतवाद का पूर्ण समर्थन किया गया है। इन तीनों का एकत्र वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है—यह जीवात्मा जब सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों को समझ लेता है और यह जान लेता है कि ये गुण प्रकृति के हैं तब इन गुणों से प्रभावित न होकर परम तत्व (परमेश्वर) को देख लेता है।[1] इसी प्रकार एक स्थान पर कहा है—अचेतन, अव्यक्त सगुण ईश्वर (प्रकृति) को नित्य, अधिष्ठाता, निर्गुण ईश्वर को, तथा सांख्य प्रतिपादित पच्चीस तत्वों को परम तत्व (परमेश्वर) को चाहने वाले सांख्य और योग में कुशल ज्ञानी जानते हैं।[2] यहाँ ईश्वर, शब्द प्रकृति के अर्थ में तथा परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'ईश्वर' शब्द 'ईश ऐश्वर्ये'[3] धातु से बना है जिसका अर्थ है ऐश्वर्य से युक्त। प्रकृति भी ऐश्वर्य से युक्त है परन्तु परमेश्वर से भिन्नता प्रदर्शन के लिए उसके साथ अप्रबुद्ध (अचेतन) और सगुण (त्रिगुणसहित) विशेषण लगाये हुए हैं। चेतन ईश्वर भी परम ऐश्वर्यवान् है उसे त्रिगुण रहित, नित्य और प्रकृति का अधिष्ठाता बतलाया गया है। तीसरा तत्व जीवात्मा है जो कि अविद्या के कारण त्रिगुणात्मिक प्रकृति के बन्धन में पड़ जाता है, परन्तु ज्ञान के द्वारा जब उसे यह समझ में आ जाता है कि ये गुण मेरा स्वरूप नहीं हैं, प्रकृति के स्वरूप हैं, तब वह परमेश्वर को जान लेता है। यहाँ जीवात्मा को साधक और ज्ञाता बतलाया है। इस प्रकार तीनों तत्वों के विशिष्ट वर्णन से यहाँ त्रैतवाद विद्यमान है। समाधि की अवस्था का वर्णन करते हुए एक स्थान पर महाभारत में कहा है—'योगी अखिल इन्द्रियों के समूह को मन में, मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में, बुद्धि को प्रवृत्ति में स्थापित करके, केवल, निर्मल, समर्थ, नित्य, अनन्त, शुद्ध, व्रणरहित,[4]

१—यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।
तदा स गुणहान्ये तं परमेवानुपश्यति ॥ महा० भा० शा० प० ३०५।३०।

२—अप्रबुद्धमथाऽव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम् ।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥
प्रकृतेश्च गुणानाच पंचविंशतिकं बुधाः ।
सांख्य योगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥ वहीं ३०५,१२,३१।

३—अष्टाऽध्यायी (अदादिगण) सू० ७।२।७८।

४—मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप ।
अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिश्च प्रकृतावपि ॥
एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ॥ महा० भा० शा० प० ३१६।१५,१६।

चैतन्य, नित्य, अनन्त, अभेद्य, अजर, अमर, सदा रहने वाले, अव्यय, ऐश्वर्ययुक्त ब्रह्म का ध्यान करते हैं।[1] उस ध्यान की अवस्था में अपने से युक्त ब्रह्म को देखते हैं।[2] इस प्रकरण में भी जीवात्मा को द्रष्टा परमेश्वर को दृश्य तथा इन्द्रिय आदि कार्य जगत् को प्रकृति में लीन कर लेना लिखा है। इन तीनों तत्वों का एकत्र वर्णन त्रैतवाद की पुष्टि करता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति को अनादि तथा स्वरूप से परस्पर भिन्न स्वीकार किया गया है जिससे त्रैतदर्शन का अस्तित्व यहाँ अति स्पष्ट हो जाता है।

२ - गीता

(क) ईश्वर

गीता में ईश्वर शब्द का प्रयोग करके यह बतलाया है कि वही शक्ति संसार की संचालिका है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – अर्जुन! यन्त्र (मशीन) पर चढ़े हुए पदार्थों के समान माया (प्रकृति) के द्वारा सब प्राणियों को घुमाता हुआ वह ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में (व्यापक रूप से) रहता है।[3] आचार्य शंकर ने यहाँ 'ईश्वर' शब्द का अर्थ नारायण किया है।[4] परमेश्वर को अक्षर (अविनाशी) बतलाते हुए गीता में कहा है –कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं और वेद अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं।[5] यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने भी परमात्मा किया है।[6] उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन गीता के एक श्लोक में इस प्रकार किया है –क्रान्त दर्शी सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, अणु से भी सूक्ष्म, सब का धारणकर्ता, अचिन्त्यस्वरूप, नित्य चैतन्य स्वरूप अज्ञानमोहादि अन्धकार से भरे उस परमेश्वर का जो ध्यान करता है।[7] वह मृत्यु के समय अचल मन से भक्ति से युक्त होकर योगबल से भौहों के बीच में

---

१ – तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम्।
शश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्मचाव्ययम्॥ वहीं ३१६।१७॥

२ – स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परमव्ययम्। वहीं ३१६।२५॥

३—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता १८।६१।

४—ईश्वरः ईशनशीलो नारायणः। वहीं शांकरभाष्य, पृ० ८३६।

५—कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धिब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥ गीता ३।१५।

६—अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः॥
गीता शांकर भाष्य, पृ० १७२।

७—कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्॥ गीता० ८।९।

प्राणों को स्थापित करके उस (पुर्वोक्त) दिव्यपरमपुरुष की समीपता प्राप्त कर लेता है।[1] गीता में एकेश्वरवाद की मान्यता है उस एक ही परमेश्वर का ओम्, अक्षर, ब्रह्म[2] आदि नामों से स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[3] गीता के १३वें अध्याय में परमेश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है—चारों तरफ उसके हाथ, पाँव, आँख, सिर, मुख और कान हैं।[4] इसी १३वें अध्याय में लिखा है—सभी प्राणियों में समान रूप से व्यापक तथा नष्ट होने वाले पदार्थों में अविनाशी तत्व उस परमेश्वर को जो देखता है वही देखता है। उस सामान रूप से व्यापक ईश्वर को देखते हुए जो अपने द्वारा अपनी आत्मा का हनन नहीं करता, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।[5] इन श्लोकों में ईश्वर शब्द जग प्रसिद्ध परमपिता परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है उसे सर्वव्यापक, सूक्ष्म से सूक्ष्म, नित्य तथा सबका विधाता स्वीकार किया गया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म और ईश्वर में भेद माना गया है। उनके अनुसार ब्रह्म निरुपाधिक कूटस्थ चैतन्य है तथा ईश्वर ब्रह्म का सोपाधिक रूप है, अर्थात् समष्टि अज्ञानावृत चैतन्य। परन्तु गीता में स्पष्ट ही ईश्वर शब्द का प्रयोग उसी चैतन्य के लिए हुआ है जिसे वे निरुपाधिक चैतन्य कहते हैं। त्रैतवादीय ईश्वर और ब्रह्म में ऐसा कोई भेद नहीं मानते उसकी दृष्टि में ये सब एक ही ईश्वर के नाम हैं और वह ईश्वर कभी भी आज्ञानावृत्त नहीं होता।

(ख) जीवात्मा

गीता में जीवात्मा का अस्तित्व विस्तृतरूप में विद्यमान है। जिस समय अर्जुन युद्धभूमि में मोहग्रस्त होकर हथियार छोड़ देते हैं उस समय श्रीकृष्ण आत्मतत्व का रहस्य समझाते हुए कहते हैं —'इस शरीर में जैसे जीवात्मा को कुमार, युवा और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है वैसे देहान्तर (पुनर्जन्म में अन्य शरीर) की प्राप्ति होती है। इस बात को समझने वाला धैर्यवान पुरुष शोक नहीं करता।[6] यहाँ देही शब्द जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी श्लोक पर भाष्य

१—प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। गीता ८।१०।

२—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। गीता ८।१३।

३—देखिये गीता ११।१६,१८, ३८।

४—सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ गीता १३।१३।
मिलाइये—पृ० १०।१०।१।

५—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिम् ॥ गीता १३।२७, २८।

६—देहिनोस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ गीता २।१३।

करते हुए श्रीरामानुज आत्माओं को नित्य मानते हुए लिखते हैं—इसलिए आत्माओं के नित्य होने से आत्माएँ शोक का स्थान नहीं है।[1]

गीता में जीवात्मा को अविनाशी और नित्य स्वीकार करते हुए उसके लिए 'शरीरी' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक श्लोक में लिखा गया है -'अविनाशी, अमाप, नित्य जीवात्मा के ये शरीर नाशवान कहे गये हैं। हे भरत कुलोत्पन्न! अतएव तू युद्ध कर।[2] जीवात्मा की अमरता और नित्यता का वर्णन करते हुए गीता में लिखा है—'इस जीवात्मा) को जो मारने वाला जानना है, या जो इसे मरा हुआ जानता है वे दोनों इसके विषय में नहीं जानते। यह न मरता है और न मारा जाता है।[3] यह न कभी अजन्मा है और न मरता है तथा न यह होकर फिर न होने ही वाला है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के मारे जाने पर यह जीवात्मा नहीं मारा जाता[4] जो इस (जीवात्मा) को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किस को मरवाता है और कैसे किसको मारता है।[5] जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग करके दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा भी पुराने शरीरों का परित्याग करके अन्य शरीरों को प्राप्त होता है।[6] इस (जीवात्मा) को शस्त्र नहीं काटते, इसको आग नहीं जलाती, इसको पानी नहीं भिगोता और उसकी वायु नहीं सुखाती।[7] यह छेदा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता। यह भिगोया नहीं जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य सर्वस्थानों में गत (जानेवाला) स्थिर, अचल और सनातन है।[8] हे भरतकुल में उत्पन्न! सबके शरीर में रहनेवाला

---

१ —अत आत्मनां नित्यत्वाद् आत्मनो न शोकस्थानम्। देखिये वहीं श्रीरामानुज भाष्य।

२—अन्तवन्तह मे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारतः॥ गीता २।१८।

३ —य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ गीता २।१९।

४ न जायते म्रियतेवा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ गीता २।२०।

५ —वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ गीता २।२१।

६—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयातिनवानि देही॥ गीता २।२२।

७ - नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता २।२३।

८—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ गीता २।२४।

(जीवात्मा) और परमपुरुष परमात्मा का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। तीनों को अनादिरूप में स्वीकार किया गया है। अन्तर इतना है कि प्रकृति त्रिगुणात्मिकता है वह इस सृष्टि का मूल उपादान कारण है। जीवात्मा इसी के द्वारा अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है। जीवात्मा प्रकृति के गुणों से प्रभावित हो जाता। जिसके कारण वह जन्म-मृत्यु और सुख दुःख के चक्र में घूमता रहता है। परमात्मा प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता है वह द्रष्टा बनकर जीवात्मा के कर्मों को देखता है तथा तदनुसार उसे फल देता है। गीता के इस १३ वें अध्याय में श्री रामानुजाचार्य ने भी तीन तत्वों को स्वीकार किया है। वे इस प्रकरण में अपना मत उपस्थित करते हुए लिखते हैं सार यह है कि जड़ वस्तु (प्रकृति) चिद्वस्तु (जीवात्मा) और परमब्रह्म को क्रमशः कुछ श्रुतियों ने भोग्य, भोक्ता और शासक के रूप में कहा है।[१] श्री रामानुजाचार्य ने अपने मत की पुष्टि के लिए यहाँ पर श्वेताश्वतोरपनिषद्[२] तथा गीता[३] के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। अनेक प्रमाण देने के बाद वे लिखते हैं—'इस प्रकार चिद् (जीवात्मा), अचित् (प्रकृति) और ईश्वर के स्वरूप भेद और स्वभाव भेद को बतलाती हुई सभी श्रुतियों में अविरोध है।[४] प्रो० सत्यव्रत ने भी इस अध्याय में त्रैतवाद स्वीकार किया है।[५]

(ङ) गीता का १५वाँ अध्याय

गीता के १५ वें अध्याय में त्रैतवाद स्पष्ट है। वहाँ भी तीनों तत्वों का वर्णन किया गया है। यहाँ लिखा है—'इस संसार में दो पुरुष हैं एक क्षर (परिणामी) है, तथा दूसरा अक्षर (अपरिणामी) है। सब भौतिक तत्वों को क्षर कहते हैं कूटस्थ (जीवात्मा) को अक्षर कहते हैं।'[६] 'परन्तु इन दोनों से भिन्न एक अन्य उत्तम पुरुष है जिसे परमात्मा

१—अत्र इदं तत्वम्-अचिद्वस्तुनः चिद्वस्तुनः परस्य ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन ईशितृत्वेन च स्वरूपविवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः ॥ श्री रामानुजभाष्य गीता १३।१।

२—श्वेता० उ० १।१० ॥
श्वेता० उ० १।१२ ॥
श्वेता० उ० ४।५ ॥

३—गीता ७।४ ॥ गीता ७।५ ॥
गीता ९।१० ॥ गीता १३।२०

४—एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदं स्वभाव भेदं च वदन्तीनां सर्वासांश्रुतीनामविरोधः ॥
—श्री रामानुजभाष्य, गीता अ० १३।

५—देखिये—प्रो० सत्यव्रत गीता भाष्य, गीता १३।२१,२२। पृ० ६।

६—द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षरएव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ गीता १५।१६।

कहा जाता है, वह अव्यय है, ईश्वर है, वह तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण पोषण करता है।'[1] इन श्लोकों पर श्री मधुसूदन ने अद्वैतवादी अर्थ किया है। वे लिखते हैं स्वयं भगवान क्षर अर्थात् समस्त कार्य जगत् भी है और कूटस्थ भगवान् मायाशक्तिरूप से संसार के बीज रूप में अक्षर भी कहलाता है।'[2] परन्तु वे यह भी कहते है कि 'कुछ आचार्य कूटस्थ का अक्षर, जीव भी अर्थ करते है।'[3] आचार्य शंकर ने यहाँ अद्वैतवाद से सम्बन्धित अर्थ किया है वे लिखते हैं—उसी ईश्वर के क्षर और अक्षर इन दो रूपों में विभक्त होने के कारण उपाधिरहित केवल स्वस्वरूप के निर्धारण के लिए ये श्लोक लिखे गये हैं।'[4] त्रैतवादियों का कहना है कि यहाँ प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है। प्रो० सत्यव्रत के मत में यहाँ त्रैतवाद है। वे लिखते हैं—हमारे मत में गीता में यहाँ स्पष्ट तौर र त्रैतवाद का वर्णन है।'[5] वे लिखते हैं कि यह बात अगले श्लोक से भी स्पष्ट है। वहां कहा है 'क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर से उत्तम हूँ इसलिए इस संसार में और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ।[6] वस्तुत यहाँ क्षर का अर्थ प्रकृति, उदार का अर्थ जोवात्मा करना उचित जान पड़ता है। परमात्मा का परमपुरुष शब्द से स्पष्ट उल्लेख है ही।

(व) निष्कर्ष

गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। भीष्म पर्व में २५ से ४२ तक जो १८ अध्याय हैं वे ही गीता कहलाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि गीता की रचना महाभारत के पश्चात् हुई और बाद को महाभारत में उसे जोड़ दिया गया। गीता का उपदेश बहुत संक्षेप में थे बाद को उनका विस्तार किया गया।[7] गीता के प्रतिपाद्य विषय

१—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ गीता १५।१७।

२—स्वयमेव भगवान् क्षरः सर्वाणि भूतानि समस्तं कार्यजातमित्यर्थः कूटस्थः भगवान् माया शक्तिरूपः कारणोपाधिः संसार बीजत्वेनानन्त्यादक्षर उच्यते॥ गीता मधुसूदन टीका पृ० ६६२।

३—केचिदु क्षरशब्देनाचेतनवर्गंकत्वा कूटस्थोऽक्षर उच्यत इत्यनेन जीवमाहुः॥ वहीं।

४—तस्यैव क्षराक्षरोपाधिप्रविभक्तया निरुपधिकस्य केवलस्य स्वरूप निर्दिधारयिषयोत्तरश्लोका आरम्यन्ते॥
गीता १५।१६ शांकर भाष्य, पृ०६८६।

५—गीता भाष्यकार प्रो० सत्यव्रत, ४६४।

६—यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे चप्रथितः पुरुषोत्तमः॥ गीता १५।१२।

मिलाइए—क्षरंप्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। श्वेता० उ० १।१०।

७—श्रीमद्भगवद् गीता, सत्यव्रत भाष्य, पृ० १७।

८—भारतीय दर्शन, (उमेश मिश्र), पृ० ६७।

में उमेश मिश्र का मत है कि इसमें किसी एकमत का प्रतिपादन नहीं। या किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन करना इसका उद्देश्य नहीं।[1] वस्तुत: बात कुछ ऐसी ही है गीता में सांख्य के सिद्धान्त भी पाये जाते हैं।[2] तथा योग के भी।[3] गीता में त्रैतवाद भी है[4] और अद्वैतवाद भी है[5] और अवतारवाद भी है[6] तथा अवतार का विरोध भी।[7] उमेशमिश्र लिखते है—'अद्वैत का जो रूप गीता में है, वह एक स्वतन्त्र है और शांकर वेदान्त से भिन्न है। अस्तु गीता विभिन्न प्रकार के विचारों का संग्रह होने के कारण इसे किसी एक विचारधारा में बांधना कठिन काम है। प्रस्थनात्रयी में गीता का दूसरा स्थान हैं। इस पर अनेक दार्शनिक आचार्यों ने भाष्य किये हैं। गीता को आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद का आधार बनाया है तो श्री रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का आधार बनाया है तथा माध्व ने इसी से द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। ये परस्पर विरोधी विचारधारायें गीता को आधार मान कर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए है।

त्रैतवाद का अस्तित्व भी गीता में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। त्रैतवाद समर्थक भाष्य भी गीता पर हो चुके हैं।[8] गीता से पूर्ववर्ती साहित्य में जब 'त्रैतवाद' विद्यमान है तब उस विचारधारा का भी प्रभाव गीता पर पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि इस ग्रन्थ ने अपने से पूर्व प्रचलित सभी आस्तिक विचारों को अपने अंक में आश्रय दिया है। तत्कालीन उपलब्ध दार्शनिक मान्यताओं के समन्वय का श्रेय गीता को है।[9] इसी कारण से गीता की दुर्विज्ञता शंकर को भी माननी पड़ी है।[10] अस्तु उपर्युक्त विवेचन से गीता में त्रैतवाद का प्रतिपादन भी स्पष्ट है। क्योंकि ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति की परस्पर भिन्न तथा स्वतन्त्र सत्ता यहाँ स्पष्ट वर्णित है।

३ – पुराण

सभी पुराणों में अन्य विषयों के साथ सृष्टि की उत्पति और प्रलय का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।[11] दार्शनिक साहित्य में पुराणों का भी विशेष महत्व है। ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप में 'त्रैतदर्शन' इस साहित्य

---

१ वहीं, पृ० ८१।

२ गीता ७।१२। गीता १४।५। गीता ३।२७।

३—गीता १२।६। गीता १०।१५।

४—गीता ११।२२,२३ तथा वहीं १५।१६,१७।

५ वहीं २।७२ तथा वहीं ५।२४ तथा वहीं १५।७।

६—गीता ४।७।

७—वहीं ९।११।

८—देखिये—गीता पर प्रो० सत्यव्रत का भाष्य। तथा गीता विवेचन डा० श्रीराम शर्मा आर्य। एवं वैदिक गीता, भाष्यकार स्वामी आत्मानन्द सरस्वती।

९—देखिये कृष्णकान्त चतुर्वेदी-द्वैतवेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० १७।

१०—तदिदं गीता शास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयेयार्थम्।। शंकराचार्य गीताभाष्य भूमिका, पृ० २।

११—सर्गश्चप्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्। कूर्म पु० १।१२।

में भी उपलब्ध है। यद्यपि त्रैतवादियों ने पुराण साहित्य को हेय दृष्टि से ही देखा है। इसी कारण से उन पर दार्शनिक दृष्टि से त्रैतवादियों का भाष्य प्रायः अनुपलब्ध ही है। परन्तु त्रैतवाद की अविच्छिन्न परम्परा में पुराणों में भी त्रैत-दर्शन स्पष्ट उपलब्ध है। त्रैतवाद के विकासक्रम के अन्तर्गत पुराण साहित्य में इसका दिग्दर्शन मात्र ही कराना यहां अभिप्रेत है।

(क) वायु पुराण

वायुपुराण में योग के द्वारा देखने योग्य उस ईश्वर के विषय में लिखा है—'उस पुरुष को जो कवि, पुराण और अनुशासिता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है, प्रकाश स्वरूप है, उसे चक्षु से नहीं देखा जा सकता है, योग के द्वारा ही देखा जा सकता है।[1] वह निर्गुण और चेतन है।

वह परमेश्वर नित्य तथा व्यापक है, हाथ, पैर, उदर, पार्श्व और जिह्वा से रहित है,[2] वह अतीन्द्रिय, सूक्ष्म से सूक्ष्म, एक, चक्षुओं के बिना देखने वाला तथा बुद्धि के बिना सब कुछ जानने वाला है। उसे ही महान्, चेतन और सर्वव्यापक पुरुष कहते हैं।[3] इस प्रकार त्रैतदर्शन में मान्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन विस्तृतरूप में यहाँ विद्यमान है।

जीवात्मा को वायु पुराण में शरीर में रहने वाला नित्य तत्व स्वीकार किया है।[4] इस पुराण में जीवात्मा के लिए 'देही' शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध है।[5] जीवात्मा के लिए 'शरीरी' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषय में कहा है—वैराग्य को प्राप्त करके यह जीवात्मा ममतारहित हो जाता है।[6] इस जीवात्मा को कौन देखते हैं इस विषय में कहा है—'सिद्ध पुरुष ही दिव्य चक्षु से जीवात्मा को देखते हैं।[7]

१—कवि पुराणमनुशासितारं सूक्ष्माच्चसूक्ष्मं महतो महान्तम्।
योगेन पश्यन्ति न चक्षुषा तं निरिन्द्रियं पुरुषं रुक्मवर्णम्॥ वायु पु० १४।७।८॥

२—निर्गुणं चेतनं च। वायु पु० १४।८।

३ नित्यं सदा सर्वगतम् अपाणिपादोदरपार्श्व जिह्वः॥ वायु० पु० १४।९।

४—अतीन्द्रियोऽथापि सुसूक्ष्म एकः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
नास्यास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरस्ति स वेद सर्वं न च वेद वेद्यः॥
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् सचेतनम् सर्वगतं सुसूक्ष्मम्॥ वायु पु० १४।१०।११।

५—आत्मनं मन्यते नित्यम्॥ वायु पु० १२।२१।

६—वायु पु० १२।१५।

७—एवं वैराग्यमास्थाय शरीरी निर्ममो भवेत्॥ वहीं १०२।८४।

८—पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा। वायु पु० १०२।१००।

यह जीवात्मा हमेशा अवध्य है तथा सभी प्राणियों के जीवात्माएं अवध्य हैं इसलिए उनके विषय में तू शोक करने योग्य नहीं है।[1] गीता में 'देही' शब्द जीवात्मा के अर्थ में अन्य स्थलों पर भी प्रयुक्त हुआ है।[2] जीवात्मा एक है या अनेक है इस विषय में भाष्यकारों का मतभेद है। अद्वैत-वादी भाष्यकारों ने आत्मा का एकत्व प्रतिपादन किया है। विशिष्टा-द्वैतवादी तथा द्वैतवादी भाष्यकारों ने आत्मा का अनेकत्व स्वीकार किया है। इस विषय में गीता के निम्नलिखित श्लोक पर भाष्य भेद द्रष्टव्य है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥[3]

इस श्लोक का सामान्य अर्थ श्री यामुनाचार्य इस प्रकार करते हैं—'मैं पहले कभी न था ऐसी बात नही है किन्तु था, तू पहले कभी नहीं था ऐसी भी बात नहीं है ये भी पहले थे। भविष्य में भी हम नही रहेंगे ऐसी बात नहीं है अपितु रहूँगा ही।[4] इसका भावार्थ लिखते हुए श्रीयामुनाचार्य लिखते हैं—जैसे मैं नित्य हूँ वैसे सभी आत्मायें नित्य ही हैं।[5] श्री यामुनाचार्य अपने भाष्य में 'आत्मायें नित्य हैं' वह कहकर जीवात्मा के अनेकत्व सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। श्री रामानुजाचार्य ने तो इस श्लोक के माध्यम में स्पष्ट लिख दिया है – जैसे मैं सर्वेश्वर परमात्मा नित्य हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं है उसी प्रकार आप जीवात्मायें भी नित्य ही हैं।[6] आगे वे लिखते हैं —'इस प्रकार भगवान् से आत्माओं का तथा परस्पर जीवात्माओं का भेद वास्तविक है।'[7] यहाँ श्री रामानुज ने जहाँ परमेश्वर और

१—देही नित्यमवध्यो यं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ गीता २।३०।

२—देखिये – गीता २।५९।
गीता ३।४०।
गीता २।११।
गीता १४।१७।
गीता १४।८।

३—गीता २।१२।

४—श्री यामुनाचार्य भाष्य गीता, पृ० १४।

५—यथा ह्यन्नित्यस्तथासर्वेप्यात्मानो नित्या एव॥ वहीं

६—यथा अहं सर्वेश्वरः परमात्मा नित्य इति न अत्र संशयः, तथैव भवन्तः क्षेत्रज्ञा आत्मनः अपि नित्य एव इति मन्तव्याः॥
देखिये गीता २।१२। श्री रामानुज भाष्य।

७—एवं भगवतः सर्वेश्वराद् आत्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिकः। वहीं॥

जीवात्माओं का पारमार्थिक भेद माना है वहाँ 'आत्मनाम्' पद से जीवात्माओं को अनेक भी माना है। इसी श्लोक पर अद्वैतवादियों ने आत्मैकत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्री मधुसूदन लिखते हैं —'एक जीवात्मा के ही व्यापक होने से उसका सब देहों से सम्बन्ध है। प्रतिदेह में आत्माएं भिन्न हैं इस विषय में प्रमाण नहीं है यह सूचित करने के लिए एक-वचन तथा 'सभी हम' यह बहुवचन पूर्व जन्म के शरीरों के भेद के कारण है न कि आत्मा के भेद के अभिप्राय से ऐसा लिखा है।[1] 'श्री मधुसूदन और आचार्य शंकर दोनों ही अद्वैतवादी हैं। दोनों ने इस श्लोक पर एक जैसा भाष्य किया है। आचार्य शंकर ने भी लिख दिया है 'यहाँ देहों के भेद की अनुवृत्ति से बहुवचन का प्रयोग है आत्मभेद के अभिप्राय से नहीं।[2] इस प्रकरण में श्री मधुसूदन की यह गर्वोक्ति कि "प्रतिदेह में आत्मभेद का कोई प्रमाण नहीं है' यह उनकी अन-भिज्ञता का सूचक है क्योंकि पुरुष बहुत्व का सिद्धान्त दार्शनिक साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध है।[3] वेद में जीवात्माओं के लिये बहुवचन का प्रयोग अनेक स्थलों पर विद्यमान है।[4] गीता में ही 'सर्वदेहिनाम्'[5] शब्द शरीरों में जीवात्माओं की भिन्नता तथा उनका बहुत्व सिद्ध कर रहा है। एक शरीर में रहने वाले जोवात्मा के लिए "देही" शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु देहीनाम्' का अर्थ है – देह (शरीरों) में रहने वाले जोवात्मायें। ऊपर श्री यामुनाचार्य तथा श्री रामानुज ने भी गीता में बहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस प्रकार गीता में जीवात्मा को त्रैतवादानुकूल नित्य, अनादि, अजन्मा, अमर और अनेक स्वीकार किया गया है।

(ग) प्रकृति

गीता में प्रकृति से उत्पन्न कार्य जगत् को आठ प्रकार का बतलाते हुए कहा है—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, मन, बुद्धि और अहंकार ये परमेश्वर की प्रकृति के आठ भेद हैं।'[6] गीता के इस (७।४) श्लोक पर भाष्य करते

१—देही एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेक वचनं, सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वदेहभेदानुवृत्त्या नत्वात्मभेदाभिप्रायेणेति ॥

मधुसूदन टीका, गीता, पृ० १३।

२—देहभेदानुवृत्त्या बहुवचन नात्मभेदो भिप्रायेण ॥ शांकरभाष्य गीता, पृ० ५३ ॥

३—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। सांख्य १।१४९।

व्यवस्थातो नाना। वैशे० ३।२।२०।

४—इमे जीवा—। ऋ० १०।१८।३।

जीवेभ्यः । ऋ० १०।१८।४।

वयं जीवाः । ऋ० १०।३७।८।

५—गीता १४।८।

६—भूमिरापोऽनलो वायुः खमनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गीता ७।४।

हुए श्री रामानुजाचार्य लिखते हैं—'इस विचित्र अनन्तभोग्य, भोगों के साधनों और भोग-स्थानों के रूप में स्थित जगत् की कारण-रूपा यह प्रकृति, गन्ध आदि गुणों वाले पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश के रूप में तथा मन आदि इन्द्रियों के रूप में और महत्व एवं अहंकार के रूप में विभक्त है यह मेरी (परमेश्वर) की है। यहाँ पर[1] श्री रामानुज ने परमेश्वर को प्रकृति का स्वामी माना है तथा प्रकृति को सृष्टि का कारण रूप स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन की तरह गीता में भी प्रकृति के चौबीस तत्त्व स्वीकार किये गये हैं।[2] प्रकृति इस कार्य जगत् का उपादान कारण है और ईश्वर निमितकारण है इस विषय को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है—हे कुन्ती पुत्र, मेरी (ईश्वर) अध्यक्षता से यह प्रकृति जड़ चेतन जगत को जन्म देती है। इसी कारण से जगत परिवर्तित होता है।[3] गीता में 'अव्यक्त' शब्द भी प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस उपादान रूप अव्यक्त (प्रकृति) से यह सृष्टि उत्पन्न होती है तथा प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाती है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए गीता में लिखा है—' ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त प्रकृति से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रि के प्रारम्भ में उसी अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाते हैं।'[4] श्री पं० दामोदर सातवलेकर ने उस श्लोक में प्रयुक्त 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ प्रकृति किया है[5] तथा श्री यामुनाचार्य ने भी इस श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ प्रकृति ही किया है।[6]

गीता में 'माया' शब्द भी प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है। इस माया (प्रकृति) को गुणवती बतलाते हुए गीता में कहा है 'मेरी (ईश्वर की) यह दैवी माया (प्रकृति) दुस्तर है। जो मुझ (ईश्वर) को ही प्राप्त करते हैं वे इस माया को पार हो जाते हैं।'[7] श्री रामानुज लिखते हैं 'यहाँ प्रयुक्त माया शब्द मिथ्या अर्थ का वाचक नहीं है अपितु भगवान

१—अस्य विचित्रानन्दभोग्यभोगोपकरण भोगस्थानरूपेण अवस्थितस्य जगतः प्रकृतिरियं गन्धादिगुणकपृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशादि रूपेण मनः प्रभृतीन्द्रियरूपेण च महदहंकाररूपेण च अष्टधाभिन्ना मदीया ॥ श्री रामानुज भाष्य, गीता ७।४।

२ महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेवच।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ गीता १३।४

३ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ गीता ९।१०।

४—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥ गीता ८।१८।

५—देखिये पं० श्री दामोदर सातवलेकर की टीका पुरुषार्थबोधिनी, गीता, पृ० ११८।

६—अव्यक्तात्—प्रकृतेः। भाष्य श्री रामानुजाचार्य, गीता, पृ० ७८।

७—दैवीह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया।
मामैव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ गीता ७।१४।

की यह वास्तविक सत्यरूपा माया है।[1] यहाँ माया (प्रकृति) को गुणमयी अर्थात् त्रिगुणात्मिक स्वीकार किया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिकता है इस विषय को गीता में स्पष्ट करते हुए कहा है —' प्रकृति के गुणों के द्वारा कर्म सब प्रकार से किये हुए होते हैं, परन्तु अहंकार से विमूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' ऐसा मान लेता है।[2] प्रकृति गुणस्वरूप है इसी बात को गीता के अन्य श्लोकों में भी कहा गया है।[3]

(घ) गीता का १३ वां अध्याय—

गीता के १३ वें अध्याय में त्रैतवाद अति स्पष्ट है। वहाँ पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति इन दोनों को अनादि बतलाकर दोनों में से एक (प्रकृति) भोग्य तथा जीवात्मा को भोक्ता कहा गया है तथा परमात्मा को द्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकरण के श्लोकों का भाव इस प्रकार है —"प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि समझ। विकार तथा गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, यह भी ध्यान में रख।'[4] प्रकृति ही कार्य तथा कारण का हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोग का हेतु माना जाता है।[5] पुरुष प्रकृति में रहकर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है। यही गुणों का संग इसके उत्तम अथवा अधम योनि में जन्म का कारण है।[6] 'देखने वाला, अनुमोदन करने वाला, पोषण करने वाला, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा भी इस शरीर में (अपने व्यापकत्व से) विद्यमान है उसे परम पुरुष कहते हैं।[7] इस प्रकरण में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों का विशेष वर्णन है। प्रकृति, पुरुष और

१—माया शब्दो न मिथ्यार्थवाची। एषा गुणमयी पारमार्थिको भगवन्माया एव ॥ वहीं श्री रामानुज भाष्य। तथा देखिये —माया और प्रकृति एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं —मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेता० उ० ४।१०।

२—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

३—गीता ३।२९।

४—प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान् ॥ गीता १३।१९।

५—कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ गीता १३।२०।

६—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ गीता १३।२१।

७—उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ गीता १३।२२।

वायु पुराण में प्रकृति को अव्यक्त तथा नित्य स्वीकार किया है। उसे प्रधान और प्रकृति नाम से अभिहित करते हुए कहा है—सदसदात्मक जो अव्यक्त कारण है वह नित्य है, जिसे तत्व-चिन्तक प्रधान और प्रकृति भी कहते हैं[1] उसी प्रकृति को' परा [2] भी कहते हैं।

इस प्रकृति का अधिष्ठाता और प्रेरक ईश्वर को बतलाते हुए कहा है— 'ईश्वर से अधिष्ठित यह प्रकृति उसी से प्रेरणा पाकर सृजन में प्रवृत्त होती है[3] गुणों की साम्यावस्था में यह अपने स्वरूप में अवस्थित रहती है परन्तु 'सृजन' की अवस्था में गुण वैषम्य से यह प्रवृत्त होती है[4] वायु पुराण में प्रकृति को 'अजा' कहा है। तथा जीवात्मा और परमेश्वर को 'अज' कहा जाता है[5]। इसी प्रकरण में प्रकृति को अनादि बतलाते हुए कहा है—जो अनादि, अजन्मा, तथा अपने स्वरूप के समान सृष्टि को बनाने वाली है उस प्रकृति को जो ज्ञानी जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। जो विद्वान 'ओ३म्' को जान लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं[6]। यहां प्रकृति और परमेश्वर को ज्ञेय और जीवात्मा को ज्ञाता माना जाता है। इन तीनों तत्वों के अनादित्व तथा विशिष्ट वर्णन से त्रैतवाद का अस्तित्व इस पुराण में विद्यमान है।

(ख) विष्णु पुराण

विष्णु पुराण में सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरण में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों की नित्य सत्ता स्वीकार की गई है। प्रलय काल का वर्णन करते हुए कहा है—'उस समय न दिन था, न रात्रि थी, न भूमि थी और न प्रकाश था, न अन्य कार्य जगत् था। श्रोत्रादि इन्द्रियों से तथा बुद्धि से न जानने योग्य केवल प्रधान, ब्रह्म और पुरुष उन तीनों का एक समूह था[7] इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए विष्णु पुराण के टीकाकार श्रीधरस्वामी ने लिखा है—प्रधान

१—अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं चैव यमाहुस्तत्वचिन्तकाः ॥ वायु पु० ४।७. ८।

२—प्रकृतिश्च परा स्मृता। वायु पु० ४।२०।

३—अधिष्ठतोऽसौ हि महेश्वरेण प्रवर्तते। चोद्यमानः समन्तात्। वायु पु० ४।२१।

४—प्रधानं गुण वैषम्यात् सर्गकाले प्रवर्तते। वहीं पर श्लोक २२।

५—अजामेकाम्॥ वायु० पु० २०।२८। मिलाइये - - श्वेता० ४।५।

६—आद्यामजां विश्वसृजां स्वरूपां ज्ञात्वा बुधास्त्वमृतत्वं व्रजन्ति।
ये ब्राह्मणाः प्रणवं वेदयन्ति न ते पुनः संसरतीह भूयः ॥
वायु पु० २०।२९॥

७—नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभूच्चनान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्धया नुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥
विष्णु पु० २।२३।

(प्रकृति) ब्रह्म और जीवात्मा ये तीनों ही प्रलय में थे[1] यहाँ स्पष्ट तीनों तत्वों का प्रलयकाल में अस्तित्व स्वीकार किया गया है और इस स्वीकृति से तीनों का नित्यत्व भी सिद्ध है। इस भाव को और स्पष्ट करने के लिए उससे आगे वाले श्लोक में लिख दिया है—प्रधान और पुरुष (जीवात्मा) उस विष्णु के स्वरूप से भिन्न हैं[2] । प्रलयावस्था से जब सृष्टि का रचनाकाल उपस्थित होता है, उस समय प्रकृति और पुरुष में व्यापकरूप से परमेश्वर दोनों को प्रेरित करता है। प्रलयावस्था में तीनों की सत्ता का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में कहा है— प्रलयकाल के बाद उस परब्रह्म, परमात्मा, विश्वरूप, सर्वव्यापी, सर्वभूतेश्वर और सर्वात्मा परमेश्वर ने अपनी इच्छा से अधिकारी पुरुष (जीवात्मा) में तथा विकारी प्रधान (प्रकृति) में प्रविष्ट होकर इनको क्षोभित (प्रेरित) किया[3] । आगे लिखा है- जिस प्रकार क्रियाशील न होने पर भी गन्ध अपनी सन्निधिमात्र से मन को क्षोभित कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रधान और पुरुष को प्रेरित करता है[4] । त्रैतवादानुकूल तीनों की नित्यसत्ता का वर्णन विष्णु पुराण में अन्यत्र भी उपलब्ध है[5] ।

(ग) स्कन्द पुराण

स्कन्द पुराण में चेतन और अचेतन दोनों तत्वों को नित्य और पृथक् पृथक् माना है। अचेतन प्रकृति स्वयं कुछ नहीं कर सकती जब तक कि उसे प्रेरित करने वाली शक्ति परमात्मा न हो। इस विषय का वर्णन स्कन्दपुराण में इस प्रकार किया है—'प्रलयावस्था में प्रधान (प्रकृति) और पुरुष (परमात्मा और जीवात्मा) ये दो अचेतन और चेतन तत्व एकत्र थे और नित्य थे[6] ; (परमेश्वर के) ईक्षण से प्रकृति से महतत्वादि उत्पन्न हुए[7] । इसी प्रकरण में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—इस ब्रह्माण्ड की आत्मा परमात्मा है। उसी ने जीवात्माओं को तीन भागों में विभक्त किया। ऊर्ध्व सृष्टि देवों की, मध्यसृष्टि मनुष्यों की तथा पाताल में नाग और दैत्यों की

१—प्राधानिकं - प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च, पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलये आसीत ॥
विष्णु पु० श्रीधर टीका, पृ० १५ ।

२—विष्णोः स्वपारस्परतो हि ते द्वे रुपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र ॥ वहीं २।२४ ॥

३—ततस्तु तत्परं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः ।
सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥
प्रधान पुरुषो वापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ॥
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ विष्णु पु० २।२८,२६।

४—यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते ।
मनसो नोपकर्तृत्वा तथाऽसौ परमेश्वरः ॥ विष्णु पु० २।३० ।

५—देखिये विष्णु पु० ४।३४,३५,३६ ।

६—अव्यक्तऽस्मिन्निरालोके प्रधान पुरुषा वुभौ ।
अजौ समागतावेकौ केवले शृगुमो वयम् ॥ स्कन्द पु० माहेश्वर खण्ड, ३७।६

७—ईक्षणेनेव प्रकृतोर्महतत्वमजायत ॥ वहीं पर श्लोक ७ ॥

सृष्टि की।[1] इस प्रकरण में जगत् की आत्मा ब्रह्म को बतलाया गया है, जिसका तात्पर्य है इस ब्रह्माण्ड का उपादान कारण प्रकृति है तथा निमित्त कारण परमेश्वर है। उसने जीवात्माओं को कर्मानुसार तीन भागों में विभक्त किया। देवों की सृष्टि सत्वविशाल है। मनुष्यों की सृष्टि रजो विशाल है और नाग, दैत्यों की सृष्टि तमो विशाल है।[2] इस प्रकरण में तीनों तत्वों की तरफ लेखक का संकेत है। स्कन्द पुराण के 'प्रभास' खण्ड में त्रैतवाद का बहुत स्पष्ट वर्णन है। वहाँ सांख्य के पच्चीस तत्वों के साथ छब्बीसवें तत्व परमेश्वर का पृथक् उल्लेख करते हुए लिखा है—"प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार उससे शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ, उसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन और पाँच महाभूत यह सोलह का समूह पैदा हुआ। ये चौबीस तत्व हैं। पच्चीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है। इसे देही कहते हैं। यह जीवात्मा स्वयं को भी देखता है तथा छब्बीसवें तत्व परमेश्वर को भी देखता है।[3] यह वर्णन सांख्यानुकूल है। इस प्रकरण में त्रैतवाद बहुत स्पष्ट है। यहाँ प्रकृति को मूल उपादान कारण माना है जिससे सम्पूर्ण कार्य जगत उत्पन्न हुआ है। ये अचेतन तत्व चौबीस हैं। पच्चीसवां तत्व पुरुष (जीवात्मा) को स्वीकार किया गया है और छब्बीसवाँ तत्व परमात्मा को माना है। यह जीवात्मा जिसे शरीर में रहने के कारण यहाँ भी 'देही' कहा है। यह इस शरीर में स्वयं को भी देखता है और परमात्मा को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों की नित्य सत्ता यहाँ विद्यमान है।

१—आत्मास्य कथितो ब्रह्मा व्यभजत्स त्रिधात्विदम्।
ऊर्ध्वं तत्र स्थिता देवा मध्ये चैव च मानवाः॥
नागादैत्यादच पाताले त्रिधैतत्परिकिल्पितम्॥
स्कन्द० पु० मा० ख० ३७।१३,१४।

२—मिलाइये—ऊर्ध्वं सत्वविशाला॥ सांख्य ३।४८।
तमोविशाला मूलतः॥ वहीं ३।४९।
मध्ये रजोविशाल॥ वहीं ३।५०

३—प्रकृतिश्च ततो बुद्धिरहंकारस्ततौ भवत्।
तन्मात्र पंचकं तस्मादेषा प्रकृतिरष्टधा॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
एकादशं मनो विद्धि महाभूतानि पंच च॥
गणः षोडशकः सांख्ये विस्तरेण प्रकीर्तितः।
चतुर्विंशति तत्वानि पुरुषः पंचविशंकः।
देहीति प्रोच्यते स देहे वात्मानं च पश्यति॥
विन्दन्ति परमात्मानं षष्ठं तं विंशतेः परम्॥
स्कन्द पुराण। प्रभास खण्ड, वस्त्रा पथ (गिरनार) क्षेत्र महात्म्य, १८।११-१६

अग्नि पुराण

सांख्यानुसार यहाँ भी तत्वों की गणना की गई है।[1] ईश्वर 'जीवात्मा और प्रकृति का एकत्र वर्णन करते हुए यहाँ लिखा है—आत्मा और अव्यक्त (प्रकृति) जो चौबीस तत्वों से युक्त है, तथा पर पुरुष (परमेश्वर) ये चेतन और अचेतन दोनों तत्व जल और मछली की तरह संयुक्त और वियुक्त हैं।[2] यहाँ आत्मा से तात्पर्य जीवात्मा है, अव्यक्त से तात्पर्य प्रकृति है। 'पर' विशेषण लगाकर पुरुष का अर्थ परमेश्वर व्यक्त किया गया है। ये तीनों आपस में संयुक्त भी हैं और वियुक्त भी हैं। इस विषय को अग्रिम श्लोक में और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है —रज, सत्व और तम ये तीनों गुण अव्यक्त (प्रकृति) के आश्रय में रहते हैं। शरीर में रहने वाला जो पुरुष है वह जीव है और परमब्रह्म इस सृष्टि का निमित्त कारण है।[3] यहाँ तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है।

योग प्रकरण में भी त्रैतवाद का अस्तित्व है। ब्रह्मज्ञान प्रकरण में कहा है 'आत्मा प्रकृति के संग से अहंकार भाव से युक्त हो जाता है और वह प्रकृति के धर्मों को अपना लेता है परन्तु उन प्रकृति के धर्मों से नित्य आत्मा पृथक् है। विसयासक्ति उसके बन्धन का कारण है। मन को विषयों से हटा कर तथा उसे निर्विषय बनाकर ब्रह्मभूत हरि को याद करे। मन की गति का जब ब्रह्म में संयोग हो जावे उसे ही योग कहते हैं। योगी मन की निष्पन्दावस्था में समाधिस्थ होकर परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[4] यहाँ पर जीवात्मा को अव्यय (नित्य) कहा है और उसे प्रकृत से भिन्न बतलाया गया है। यह जीवात्मा समाधि की अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है यह कह कर जीवात्मा और ब्रह्म का उपासक और उपास्य का ध्याता और ध्येय का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ये सम्बन्ध दोनों की भिन्नता व्यक्त कर रहे हैं। तीनों तत्वों का यहां एकत्र अस्तित्व विद्यमान है। अग्निपुराण के गीतासार प्रकरण में भी त्रैदवाद की सत्ता विद्यमान है। वहाँ पर प्रथम जीवात्मा के विषय में कहा है शरीर से प्राण निकल जाने पर या न निकलने पर अजन्मा जीवात्मा शोक करने योग्य नहीं। आत्मा अजर, अमर, और अभेद्य है। इस कारण से

१—अग्निपुराण, ३७०। १-५।

२—आत्मा व्यक्तश्चतुर्विंशतत्वानि पुरुषः परः।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च यथा मत्स्योदके उभे ॥ अग्नि, पु० ३७०।४ ॥

३—अव्यक्तमाश्रितानीह रजः सत्वतमांसि च।
आन्तरः पुरुषो जीवः स परं ब्रह्मकारणम् ॥ वहीं ३७०।५।

४—तथात्मा प्रकृता संगादहमानादि भूषितः।
भजते प्राकृतान् धर्मान् अन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ॥
बन्धाय विषयासंग मनो निर्विषयं धियेत् ॥
विषयात् तत् समाकृष्य ब्रह्मभूतं हरिं स्मरेत्।
निष्पन्दः समाधिस्थः परब्रह्माधिगच्छति ॥

वहीं ३७६।२१,२२,२३,२४ ॥

शोकादि को छोड़ देवे।[1] उसके बाद प्रकृति के विषय में तथा उससे उत्पन्न कार्य जगत् का भी उल्लेख करतेहुए कहा है 'प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ (हैं)[2] तदन्तर ब्रह्म को जीवात्मा के लिये ज्ञेय बतलाकर उसके विषय में यह कहा है —अब उस ज्ञेय के विषय में कहता हूँ, जिसे जानकर (यह जीवात्मा) अमृत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उसे अनादि परम ब्रह्म कहते हैं[3] इस प्रकरण में विस्तार के साथ ब्रह्म का वर्णन किया गया है[4]। इस प्रकरण में जीवात्मा को अज (अनादि) कह कर इस जगत का मूल उपादान कारण प्रकृति को स्वीकार किया गया है। ब्रह्म का भी स्पष्ट अनादि शब्द से उल्लेख किया गया है। तीनों का पृथक्-पृथक् विशिष्ट वर्णन करना तथा तीनों को अनादि रूप में स्वीकार करना त्रैतवाद का समर्थन करता है। इसी प्रकार अग्नि पुराण में के 'यमगीता, प्रकरण में भी त्रैतवाद का स्पष्ट वर्णन है[5]।

(ङ) लिंग पुराण

लिंग पुराण में सृष्टि उत्पति के प्रकरण में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृत इन तीनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हुए लिखा है...हे मुनीश्वरो! महाऐश्वर्यशाली, महान् देव परमात्मा, पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति से परे हैं[6] एक स्थान पर प्रलयावस्था से सृष्टि रचना का वर्णन करते हुए जीवात्मा और प्रकृति के साथ परमेश्वर का व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध स्थापित कर के लिखा है—उस परमेश्वर ने प्रकृत और पुरुष में प्रविष्ट रूप से उन्हें प्रेरित किया है[7]।

१—गतासुरगतासुर्वा न शौच्यौ देहवानजः।
आत्माऽजरोऽमरोऽमेयस्तस्माच्छोकादिकं त्यजेत्॥
अग्नि पु०। गीतासार ३८१।२।

२—महाभूतान्यहंकारोबुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकंच पंचवेन्द्रियगोचराः॥ वहीं ३८१।२१।

३—ज्ञेयंयत् तत् प्रवक्ष्यामि यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिपरमंब्रह्म सत्वं नाम तदुच्यते॥ वहीं ३८१।२८।

४—वहीं ३८१।२९,३०।

५—अग्नि पु० यमगीता, ३८२।२-१३०।
मिलाइये—कठोपनिषद् तृतीय वल्लो, ३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२,१३।

६—महेश्वरो महादेवः प्रकृतेः पुरुषस्य च।
परत्वे संस्थितो देवः परमात्मा मुनीश्वराः॥
लिंग पु० २।२।

७—शोभयायास योगेन परेण पमेश्वरः।
प्रधानं पुरुषं चैव पविश्य स महेश्वरः॥ वहीं २।७६॥

प्रलयावस्था से जगत् की रचना का जब समय आता है उस समय प्रकृति तो अचेतन होती है और जीवात्मा सीमित शक्ति वाला होता है। उन दोनों को निमित्त कारण से परमेश्वर प्रेरित करता है। यहाँ भी तीनों का स्वतन्त्र उल्लेख विद्यमान है। इस पुराण में भी सांख्य के पुरुष सहित पच्चीस तत्वों के अतिरिक्त शिव को छब्बीसवां तत्व बतलाते हुए कहा है—"पच्चीस पदार्थों से शिव तत्व को पृथक् समझो।[1] पच्चीस तत्वों में प्रकृति और उससे उत्पन्न कार्य जगत् तथा जीवात्मा की गिनती की गई है। शिव (कल्याणकारी परमेश्वर) को छब्बीसवां तत्व बतलाकर यहाँ भी तीनों तत्वों को स्वीकार किया गया है। एक स्थान पर कहा है प्रधान (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा) के शासक (परमात्मा) को साधक यथार्थ रूप में प्राप्त कर लेता है।[2] यहाँ पर भी तीनों का उल्लेख है। लिंगपुराण के द्वितीय खण्ड में शिवार्चन तत्वसंख्या प्रकरण में त्रैतवाद का समर्थन है।[3] तथा प्रथम भाग के अट्ठाईसवें अध्याय में भी त्रैतवाद का प्रतिपादन है।[4]

(च) गरुड़ पुराण

गरुड़ पुराण में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों तत्वों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व विद्यमान है। परमात्मा की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा है—कोई पदार्थ जगत् में ऐसा नहीं जिसमें परमात्मा व्यापक न हो।[5] वहीं पर आगे लिखा है—"उस ओंकार परम ब्रह्म का योगी ध्यान करे।[6] "उस परमात्मा को आत्मा में व्यापक रूप से स्थित बतलाते हुए कहा है—'जब आत्मस्थ परमात्मा का ध्यान करते हुए योगी का मन तन्मय हो जाता है तब योगी समाधिस्थ कहलाता है।[7] यहाँ आत्मस्थ पद का अर्थ है आत्मा में स्थित। व्यापक रूप से परमात्मा आत्मा में भी व्यापक है। यहाँ पर जहाँ जीवात्मा और परमात्मा का ध्याता और ध्येय सम्बन्ध वर्णित है वहाँ दोनों का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध भी स्पष्ट है। जीवात्मा के विषय में लिखा है कि वह त्रिगुणात्मक कारण शरीर के भीतर रहता है। उस कारण शरीर के तीन मण्डल बतलाते हुए लिखा है—'प्रथम तमोगुण, द्वितीय रजोगुण और तृतीय सतोगुण का मण्डल है।[8] इन तीनों गुणों के रूप बतलाते हुए लिखा है—तमोगुण कृष्ण वर्ण का है, रजोगुण, रक्तवर्ण का है और सतोगुण श्वेतवर्ण का है। वहीं पर लिखा है—'इस प्रकार के त्रिगुणा-

---

१—पंचविंश पदार्थेभ्यः शिवतत्वं-परं विदुः ॥ लिंग पु० २,१६।२१।

२—प्रधान पुरुषेशानं याथातथ्यं प्रपद्यते। वहीं शिवार्चन तत्व संख्या २।६॥

३—देखिये वहीं २।४-६।

४—देखिये वहीं २८।७,८॥

५—न बिना परमात्मानं किंचिज्जगति विद्यते ॥ गरुड़ पु० २२७।३४॥

६—ओंकारं परमं ब्रह्म ध्यायेत्। वहीं २२७।३५।

७—ध्यायतः परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिनः।
मनस्तन्मयतां याति समाधिस्थः स कीर्तितः ॥ वहीं २२७।३१।

८—तमोरजस्तथासत्वं मण्डलं तृतीयं क्रमात् ॥ गरुड़ पु० २२७।३१।

त्मक मण्डल में जीवात्मा नामक पुरुष रहता है।[1] वह जीवात्मा मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर लेता है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'हृदय में जीवात्मा के साथ मिले हुए, मुक्ति के साधक, ओंकार का हृदय में ध्यान करे[2] इस प्रकार ध्यान करते हुए जो प्राणों का छोड़ता है वह ब्रह्म की सन्निधि (समीपता) को प्राप्त कर लेता है[3] यहाँ सन्निधि शब्द का अर्थ है 'समीपता' जिससे यह स्पष्ट है कि यह जीवात्मा मुक्ति की अवस्था में 'ब्रह्म' नहीं बनता अपितु ब्रह्म की समीपता प्राप्त करता है। दोनों की भिन्नता उस समय भी बनी रहती है। गरुड़ पुराण में प्रकृति का भी स्पष्ट उल्लेख है। प्रकृति के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—'गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है[4]। एक श्लोक में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों तत्वों का वर्णन करते हुए लिखा है—'योगी अहंकार को बुद्धि में' बुद्धि को प्रकृति में, प्रकृति को पुरुष (जीवात्मा में स्थिर करके, जीवात्मा को ब्रह्म में स्थापित करे[5]। यहाँ तीनों तत्वों का उल्लेख त्रैतवाद का समर्थक है। इन सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि गरुड़ पुराण में त्रैतवाद का अस्तित्व स्पष्ट रूप में विद्यमान है।

(घ) कूर्म पुराण

कूर्म पुराण में दार्शनिक विचारधारा विस्तृत रूप में मिलती है[6]। ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का उसमें स्पष्ट वर्णन है। ईश्वर को सब जगत् का आधार बतलाते हुए तथा उसे प्रकृति से परे बतलाते हुए कहा है—'(वह ईश्वर) सब का आधार, अनादि, अनन्त और प्रकृति से परे है[7]। उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—वह नित्य, आनन्दमय और परम ज्योति है, वह अविनाशी और प्रकृति से परे है, उसका ऐश्वर्य नित्य है और वह व्यापक है[8]। जीवत्मा को परमात्मा से भिन्न बतलाते हुए कूर्म पुराण में कहा है— जीवात्मा मुक्त (परमात्मा)

१—कृष्णरक्तसितं तस्मिन् पुरुषं जीवसंज्ञितम् ॥ वहीं २२७।३७।

२—ध्यायेदुरसि संयुक्तमोंकारं मुक्तसाधकम् ॥ वहीं २२७।३९।

३—ध्यायत् यदि त्यजेत्प्राणान्याति ब्रह्मस्य सन्निधिम् ॥
गरुड़ पु० २२७।४०।

४—साम्यावस्था गुणकृता प्रकृति। वहीं २२७।०६।
मिलाइये—'सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥ सांख्य १।६१।

५—अहंकार तथा बुद्धौ बुद्धिश्च प्रकृतावपि।
प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत् ॥ वहीं २२९।१०

६—देखिये—कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय ४।७, ८ तथा उत्तरार्ध, अध्याय १,८,९, ११।

७—सर्वस्याधारमव्यक्तमनन्त तमसः परम् ॥ कूर्म० पु०, पृ० १।७८।

८—नित्यानन्दपरंज्योतिरक्षरं तमसः परम्।
ऐश्वर्यं तस्य यन्नित्यं विभूरिति गीयते ॥ वहीं १।९४। (कूर्म पु० पू०)

से पृथक् शक्ति है, सांसारिक प्रवृत्तियाँ जीव से ही सम्बन्धित है [1]। प्रकृति के विषय में कूर्मपुराण में लिखा है—सम्पूर्ण कार्य जगत् को जन्म देने वाली यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति है [2]। प्रकृति को जगत् का नित्य उपादान कारण मानते हुए उसके विषय में कहा है—जो अव्यक्त नित्यकारण है, जिसे सदसदात्मक कहते हैं, तत्वचिन्तक उसे ही प्रधान और प्रकृति के नाम से कहते हैं। [3] यहाँ प्रकृति को अनादि और नित्य माना है तथा उसे ही उपादान कारण स्वीकार किया है।

ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का कूर्म पुराण में एकत्र भी वर्णन उपलब्ध है। परमेश्वर को प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) का प्रेरक बतलाते हुए कहा है—'परमेश्वर ने परम समीपता से प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट रूप से दोनों को प्रेरित किया [4]। यहाँ प्रलयकाल से सर्गकाल की अवस्था का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रलयकाल में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति ये तीनों तत्व रहते हैं। परमेश्वर इन दोनों को प्रेरित करता है तब सृष्टि की रचना प्रारम्भ होती है। प्रलय काल में तीनों की विद्यमानता तीनों को ही नित्य सिद्ध करती है।

(ज) पद्म पुराण

पद्म पुराण में ईश्वर का अनेक नामों मे उल्लेख किया गया है। वहाँ लिखा है वह ईश्वर, भगवान, विष्णु परमात्मा, जगत् का सुहृद्, प्राणी तथा अप्राणी जगत् का शासक एवं यतियों का परम उद्देश्य है [5]। नारायण नाम से उस ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है 'प्रलयकाल में जो सम्पूर्ण जगत को अपने में लीन कर के धारण करता है और फिर जगत् को रच देता है उसे नारायण कहते हैं [6]। ईश्वर के स्वरुप का वर्णन करते हुए लिखा है —'वह ज्ञानस्वरूप होने से सर्वज्ञ, अनन्त, अजन्मा, अनादि अविनाशी, सदानिर्मल, अच्युत, व्यापक और महान् है [7] वही ईश्वर

१—आत्मा च मत्परो जीवोगतः सर्वाः प्रवृत्तयः। वहीं ४। १६।

२—सैषा सर्व जगत्सूतिः प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका। वहीं १।.८।

३—अव्यक्तं कारणं यन्नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृति श्चेति यमाहुस्तत्वचिन्तकाः ॥ कूर्म पु० पू० ३।६।

४—प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशुमहेश्वरः।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥ वहीं ४।१३ ॥

५—ईश्वरो भगवान् विष्णुःपरमात्मा जगत्सुहृत्।
शास्ता चराचरस्यैको यतीनां परमा गतिः ॥ पु० २५४।६७॥

६—कल्पान्तेऽपि जगत् कृत्स्नं ग्रसित्वा येन धार्यते ॥
पुनः संसृज्यते येन स वै नारायणःस्मृतः ॥ वहीं २४।५४,५५।

७—सर्वज्ञं ज्ञानरूपत्वादनन्त मजमव्ययम्।
अविनाशी सदास्वच्छमच्युतं व्यापकं महत् ॥वहीं २।४ ॥

जगत् का कर्ता, भर्ता और लोकों का बन्धु है[1]। प्रकृति और जीवात्मा से ईश्वर की भिन्नता बतलाते हुए उसे प्रकृति से परे[2] तथा पर पुरुष[3] कहा गया है। ओ३म् शब्द की व्याख्या में जीवात्मा को विष्णु और प्रकृति का दास बतलाते हुए कहा है 'अकार का अर्थ विष्णु है उकार का अर्थ श्री (प्रकृति) है तथा मकार का अर्थ जीव है जो इन दोनों का दास है इसे (सांख्य में) पच्चीसवां तत्व कहते हैं[4]। मकार से जीवात्मा का उल्लेख करके उसे अक्षर अर्थात् नित्य भी स्वीकार किया गया है[5]। इन सब जीवात्माओं की प्रेरक शक्ति ईश्वर को बतलाते हुए कहा है—जो सब के व्यापक होकर स्थित है उसे नारायण कहते हैं। नारा का अर्थ है जीवात्माओं का समूह, उनको प्रेरित करने के कारण तथा उनका सहारा होने के कारण वह नारायण है[6] 'यहाँ' पुसा समुहः, पद से पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इस पुराण में प्रकृति का भी विस्तृत वर्णन है। प्रकृति के विषय में कहा है—प्रलयावस्था में यह प्रकृति परमात्मा में लीन रहती है और यह विकृत (कार्यजगत्) प्रकृति में लीन रहता है। परमात्मा अपने में लीन इस जगत् को सर्गकाल में रचना करता है। वह प्रधान (प्रकृति) को प्रकाश में लाता है अर्थात उसे प्रेरित करता है। उस प्रधान से महत्तत्व (बुद्धि) पैदा होती है[7] यहाँ प्रलयकाल में भी प्रकृति का सर्वथा अभाव नहीं माना गया है। आगे कहा है—'यह त्रिविध (त्रिगुणात्मक) अहंकार महत्तत्व से उत्पन्न होता है। जैसे प्रधान (प्रकृति) से महत्तत्व आवृत रहता है उसी प्रकार महतत्व से अहंकार आवृत रहता है[8]। इस प्रकृति के उपादान कारणत्व से तथा ईश्वर के निमितकारणत्व से सृजन होता है इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'पुरुष (ईश्वर) के अधिष्ठातृत्व से तथा प्रकृति के अस्तित्व से (सृष्टि) बनती है।[9] 'प्रकृति से ईश्वर परे है[10] इस प्रकार के कथन से यह भी सिद्ध है कि ईश्वर से प्रकृति भिन्न अस्तित्व रखती है।

१—जगत् कर्ता जगद् भर्ता, ईश्वरो लोकबान्धवः॥ वहीं २५४।३१।

२—प्रकृतेः परः॥ वहीं २५४।३४।

३—परः पुमान्॥ वहीं २५४।३१।

४—अकारेणोच्यते विष्णुः श्रीरुकारेण उच्यते। मकारस्तु तयोर्दासः पंचविंशः प्रकीर्तितः। पद्म, पु० २५४।२३।

५—मकारेणोच्यते जीवः पंचविंशाक्षरः पुमान्॥ वहीं २५४।२५।

६—योऽसौ व्याप्य स्थितो नित्यं स वै नारायणः स्मृतः। नारास्त्विति स त्रै पुंसां समूहः परिकीर्तितः॥ वहीं २५४।५२
गतिरालम्बनं तेषां तस्मान्नारायणः स्मृतः॥ वहीं २५४।५२,५३। मिलाइये—मनु० १।१०।

७—आत्मलीनं विकारं च तत्सुष्टुमुपचक्रमे॥ वहीं २१५॥ पद्म पु०
तस्मात्प्रधानमुद्भूतं ततश्चापि महानभूत्॥ वहीं २१६॥

८—त्रिविधो यमहंकारो महत्तत्वादजायत। यथा प्रधानेन महान् महता स तथावृतः॥ वहीं २१८॥

९—पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च॥ पद्म पु० २।२५।

१०—प्रवृते परः। वहीं २५४।३४।

प्रलयकाल में प्रकृति की विद्यमानता उसे अनादि सिद्ध कर रही है पद्म पुराण में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग चेतन स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के लिए हुआ है न कि अद्वैतवादियों के मतानुसार कारणोपाधि[1] (समष्टि अज्ञानावृत) ईश्वर के लिए। इस पुराण में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों तत्वों को अनादि स्वीकार किया गया है जिससे त्रैतवाद का समर्थन स्पष्ट है।

(झ) मत्स्य पुराण

मत्स्य पुराण में सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरण में 'त्रैतवाद' स्पष्ट रूप से मिलता है। ईश्वर और जीवात्मा का एक ही श्लोक में उल्लेख करते हुए लिखा है—जो ईश्वर की इच्छा के वश में रहता है बुद्धिमान उसे जीवात्मा कहते हैं[2] यहां जीवात्मा को ईश्वर की इच्छा के वश में कह कर दोनों की भिन्नता स्वीकार की गई है। जीवात्मा को प्रकृति का भोक्ता स्वीकार करते हुए कहा है—'प्रकृति के द्वारा सम्पादित भोगों को यह पुरुष भोगता है[3] प्रकृति के विषय में कहा है—'सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इनकी साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। इसे कुछ ग्रन्थकार प्रधान कहते हैं और कुछ इसे अव्यक्त कहते हैं[4] इस प्रकार इस पुराण में तीनों तत्वों का अस्तित्व विद्यमान है।

(ञ) ब्रह्म पुराण

ब्रह्म पुराण मे प्रथम अध्याय में एक श्लोक ऐसा है जिसमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का अस्तित्व विद्यमान है। उसमें कहा है—'एक अव्यक्त (अनादि) कारण (प्रकृति) है जो कि नित्य है, उसे सदसदात्मक और प्रधान भी कहते हैं। उसका भोक्ता पुरुष जीवात्मा है। उस प्रकृति से इस जगत् को ईश्वर रचता है[5] यहाँ प्रकृति को नित्य तथा उपादान कारण बतलाया है। ईश्वर को निमित्तकारण स्वीकार किया है एवं पुरुष जीवात्मा का भोक्ता रूप में उल्लेख किया है।

१—कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः॥ सांख्यसंग्रहे, (सांख्यपरिभाषा) पृ० २१४॥

२—ईश्वरेच्छावशः सोऽपि जीवात्मा कथ्यते बुधैः। मत्स्य पु० ३।२८।

३—एभिः सम्पादितं भुङ्क्ते पुरुषः पंचविंशकः॥ मत्स्य पु० ३।२७।

४—सत्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम्। साम्यावस्थितिरेतेषां प्रकृतिः परिकीर्तिता॥
केचित् प्रधानमित्याहुरव्यक्तमपरे जगुः॥ वहीं ३,१४,१५।
मिलाइये—सांख्यदर्शन, १।६१। तथा गरुड़ पु० २२७।१६।

५—अव्यक्तं कारण यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्। प्रधानं पुरुषः तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः॥ ब्रह्म पु० १३३।
मिलाईये—मनु० १।११॥ विष्णु पु० १।२।१९-२०। कूर्म पु० ४।६॥

(ट) मार्कण्डेय पुराण

इस पुराण में ईश्वर का जगत् पति और परमेश्वर नाम से उल्लेख करके उसे प्रकृति और जीवात्मा का प्रेरक बतलाया है। इस प्रकार एक ही श्लोक में तीनों का वर्णन करते हुए लिखा है—(प्रलयावस्था में) वह जगत्-पति परमेश्वर, प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट हुआ इन दोनों को (सर्गकाल में) प्रेरित करता है। [1] यहाँ प्रलय-काल में तीनों की विद्यमानता तीनों को ही अनादि सिद्ध कर रही है। परमेश्वर व्यापक और सृष्टि का निमित्त-कारण है। प्रकृति और जीवात्मा दोनों व्याप्त हैं। जब प्रलयावस्था होती है उस समय का वर्णन करते हुए लिखा है—जब यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति में लीन हो जाता है, प्रकृति की उस अवस्था को विद्वान् प्रतिसंचर कहते हैं। [2] प्रकृति से जब कार्य जगत् की उत्पत्ति होती है उस अवस्था को 'संचर' कहा जाता है और जब यह कार्य जगत् प्रलयकाल में अपने मूल उपादान का कारण प्रकृति में लीन हो जाता है उस अवस्था को 'प्रतिसंचर' माना जाता है।[3] प्रलयकाल में तीनों की समता का वर्णन करते हुए लिखा है—'तम और सत्व समता में व्यवस्थित रहते हैं तथा रजोगुण भी इन दोनों में मिलकर रहता है।[4] वहीं लिखा है—उस प्रलयावस्था में प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा और ईश्वर) तत्व दोनों साधर्म्य से रहते हैं।[5] साधर्म्य से तात्पर्य है नित्यावस्था में रहना क्योंकि नित्यत्व में ही तीनों का साधर्म्य है। प्रकृति जड़ है, जीवात्मा चेतन और भोक्ता है, परमेश्वर इन दोनों को प्रेरित करने वाली सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चेतनशक्ति है। इस प्रकार इन तीनों में वैधर्म्य भी है। इन तीनों तत्वों से ही विश्व की पूर्णता है। इन प्रमाणों से इस पुराण में भी त्रैतवाद सिद्ध होता है।

(ठ) नारदीय पुराण

इस पुराण में सृष्टि-उत्पत्ति के प्रकरण में परमेश्वर के विषय में कहा है—वह परमेश्वर अन्तर्यामी, जगद्व्यापी सबका द्रष्टा, निराकार और इस संसार में भिन्न-भिन्न रूप में अवस्थित है।[6] ईश्वर जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का एक ही श्लोक में वर्णन करते हुए आगे लिखा है—'जब आदि सर्ग में वह परमेश्वर इस विश्व को और लोकों को बनाने में उद्यत हुआ उस समय तीनों तत्व विद्यमान थे, प्रकृति, पुरुष (जीवात्मा) और काल (परमेश्वर)[7]। 'काल' शब्द का महेश्वर अर्थ स्पष्ट करते हुए उसी प्रकरण में लिखा है—'वह महेश्वर, शुद्ध,

---

१—प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु जगत्पतिः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥ मार्कण्डय पु० ४६।६।
मिलाईये विष्णु पु० २।२६। लिंग पु० २।७६। कूर्म पु० ४।१३॥

२—यदा तु प्रकृतो यातिलयं विश्वमिदंजगत्। तदोच्यते प्राकृतो यं विद्वद्भिः प्रतिसंचरेः॥ वहीं ४६।३।

३—देखिये संचरः॥ प्रतिसंचरः॥ सांख्यसंग्रहे, (क्षेमेन्द्रविरचित सांख्यतत्वविवेचन) पृ० १५।

४—यदा तमश्च सत्वं च समत्वेन व्यवस्थितो। तथा तमसि सत्वे च रजोऽप्यनुसृतं स्थितम्॥ मार्कण्डेय पु० ६६,५,६।

५—प्रकृतिः पुरुषश्चैव साधर्म्येणावतिष्ठतः॥ वहीं ४६।४।

६—अन्तर्यामी जगद्रूपो सर्वसाक्षी निरंजनः। भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः॥ नारदीय पु० २।२६।

७—आदिसर्ग महाविश्वमुलोकान्कर्तुमुद्यतः। प्रकृतिः पुरुषश्चेति कालश्चेति त्रिधा भवेत्॥ वहीं २।२८।

अनादि, अनन्त और कालरूप है।[1] सृष्टि-रचना के प्रकरण में ही प्रकृति का वर्णन करते लिखा है—पुरुष नामक जगत् के गुरु परमेश्वर के द्वारा प्रकृति में क्षोभ (प्रेरणा) उत्पन्न करने पर महत्तत्व बुद्धि उत्पन्न हुई, उससे अहंकार उत्पन्न हुआ।[2] इस प्रकृति को परमेश्वर की शक्ति महामाया बतलाते हुए कहा है—'उस परमेश्वर की महाशक्ति के रूप में माया विद्यमान है, जो कार्य जगत् को अपने में लीन करके धारण करती है। वही विश्व की उत्पत्ति का कारण है। विद्वान् लोग उसे प्रकृति कहते हैं।[3] यहाँ प्रकृति का प्रलय काल में अस्तित्व बतलाया गया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका, अचेतन और परिणामिनी है तथा परमात्मा त्रिगुनातीत, चेतन तथा अपरिणामी है अतः परमेश्वर प्रकृति से भिन्न है। सर्व व्यापक होने वह अभिन्न भी है। इसीलिए परमेश्वर के लिए इस प्रकरण में 'भिन्न-भिन्न' पद का प्रयोग हुआ है। प्रलयकाल में जीवात्मा भी रहता है। 'काल' (परमेश्वर) पद से अतिरिक्त 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीवात्मा के लिए ही हुआ है। वहाँ त्रिधा पद से भी यही सिद्ध होता है कि वहाँ ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों तत्वों को स्वीकार किया गया है जिससे यहाँ त्रैतवाद प्रमाणित होता है।

(ड) वामन पुराण

इस पुराण में प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए ईश्वर के विषय में कहा है—जब यह प्रकृति तर्क के अयोग्य और न जानने योग्य भाव तथा अभाव से रहित हो जाती है और उसमें तृण, लता आदि कार्य जगत् लीन हो जाता है तथा चारों तरफ अन्धकार सा छा जाता है उस समय भगवान् सहस्रनिशापर्यन्त सोते हैं।[4] यहाँ प्रकृति को 'भावाभाव' से रहित कहने का तात्पर्य वह है—प्रलयावस्था में कार्य रूप जगत् का अपने कारण में लीन हो जाने के कारण स्थूल रूप में उसका अभाव रहता है। इसीलिए कहा भाव से रहित और प्रलयावस्था में मूलकारण का भाव रहता है इसलिए उसे अभाव से रहित कहा है।[5] उस अवस्था में प्रकृति में भगवान् व्यापक रूप से विद्यमान रहता है। यहाँ 'तमोभूतम्' शब्द में 'तमस्' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है।[6] उस प्रकृति के तीनों गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है—'रजोगुण की प्रधानता से सृष्टि होती है। सतोगुण की प्रधानता से स्थिति होती है और तमोगुण की प्रधानता से प्रलय होती है।[7] परन्तु वह भगवान् गुणातीत और सर्वव्यापक

१—एष शुद्धोऽक्षरोऽनन्त : कालरूपी महेश्वरः। नारदीय पु० २।३०।

२—प्रकृतो क्षोभमापन्ने पुरुषाख्ये जगत्गुरो। महान् प्रादुरभूद्‌ दुबुद्धिस्ततोऽहं समवतर्त ॥ वहीं पु० २।३१।

३—यस्य शक्ति र्महामाया जगद्विश्रम्भधारिणी। विश्वोत्पतेर्निदानत्वात्प्रकृतिः प्रोच्यते बुधैः ॥ वहीं २।२७॥

४—अप्रतर्क्यमविज्ञेयं भावाभावविवर्जितम्। निमग्नवीरुत्सतृगं तमोभूतं सुदुर्दिनम् ॥
तस्मिन् स शेते भगवान् निशावर्षं सहस्रकीम् ॥ वामन पुराण, २।२२।२३॥

५—मिलाइये—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ॥ ऋ० १०।१२९।१।

६—मिलाइये—ऋ० १०।१२९।३ ॥ मनु० १।५।

७—रजः सृष्टिगुणं प्रोक्तं सत्वं स्थिति गुणं विदुः। उपसंहार काले च प्रवर्तते तमोगुणः ॥
गुणातीतः स भगवान् व्यापकः पुरुषः स्मृतः ॥ तेनेदं सकलं व्याप्तं यत् किंचिज्जीवसंज्ञितम्। । वामन पु० ४३।२०,२१ ॥

है। इस विषय का वर्णन करते हुए जीवात्माओं का भी उल्लेख किया है। अग्रिम श्लोक में कहा है—'वह भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों से रहित है तथा व्यापक है और वह व्यापक पुरुष परमात्मा जीवात्माओं में भी व्यापक है।[1] यहाँ भगवान् को गुणातीत कहकर प्रकृति से उसे भिन्न बतलाया गया है तथा जीवात्माओं में उसे व्यापक बतलाकर दोनों का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध स्थापित किया है। जिससे ईश्वर और जीवात्मा की भिन्नता भी स्पष्ट है। तीनों तत्वों की भिन्नता तथा विशिष्ट वर्णन से यहाँ त्रैतवाद स्पष्ट है।

(ढ़) ब्रह्म वंवर्त पुराण

इस पुराण में ब्रह्म और प्रकृति को नित्य बतलाते हुए कहा है—'वह परम ब्रह्म नित्य है और प्रकृति भी नित्य है। दोनों की समान प्रधानता है ऐसा कुछ (दार्शनिक) कहते हैं।[2] जीवात्मा को इस पुराण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बतलाते हुए कहा है—'जीव उस (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब है और कर्मों के फलों का भोक्ता है। जीवात्मा ब्रह्म का ऐसा ही प्रतिबिम्ब है जैसा जल से पूर्ण घटों में सूर्य और चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।[3] आगे लिखा है—उन घड़ों के टूटने पर जैसे उनका प्रतिबिम्ब सूर्य और चन्द्र में ही लीन हो जाता है वैसे ही सृष्टि के भग्न होने पर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब 'जीव', ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।[4] यह प्रतिबिम्बवाद इस पुराण को अन्य पुराणों की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध कर रहा है। किसी द्वैतमतावलम्बी ने ही इस पुराण की रचना की है। प्रतिबिम्बवाद शंकराचार्य तथा उनके परवर्ती युग की देन है उनसे पूर्व प्राचीन साहित्य में इसके दर्शन नहीं होते। अतः इस पुराण को वैदिक दार्शनिक परम्परा का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता इसे शंकराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैतवादी दार्शनिक परम्परा का ग्रन्थ स्वीकार करना ही समुचित प्रतीत होता है। इस पुराण का नाम ब्रह्मवैवर्त्त' भी इस मान्यता को सिद्ध करता है कि यह पुराण अद्वैतवादी कृति है। अद्वैतवादियों के 'विवर्त शब्द से स्वार्थ में अण प्रत्यय और आदि वृद्धि होकर 'वैर्वत' शब्द बना है ब्रह्म के विवर्त का भाव ब्रह्मवैवर्त है। 'विवर्त का लक्षण है—जब कोई वस्तु मिथ्याप्रतीतिवश दूसरी जान पड़ती है तब वह विवर्त कहलाती है।[5] तदनुसार —'ब्रह्म वैवर्त का अर्थ होगा ब्रह्म की जीवरूप में अन्यथा प्रतीति। यह पुराण अद्वैतवादी कृति होने के कारण इसमें त्रैतवाद नहीं है। क्योंकि इस में ब्रह्म से अतिरिक्त जीवात्मा की स्वतंत्र और नित्य सत्ता स्वीकार नहीं की गई है।

१—देखिये पीछे—पृष्ठ की पाद टिप्पणी ४ श्लोक -२१

२—नित्यं तत् परमं ब्रह्म नित्या च प्रकृति स्मृता। द्वयोः समंत्र प्राधान्यमिति के चिद्वदन्ति हि॥
(ब्रह्म वैवर्त पु० २८।३०)

३—जीवस्तत्प्रतिबिम्बश्च स च भोगी च कर्मणाम। यथार्थ चन्द्रोर्बिम्बोर्जलपूर्ण घटेषु च॥ वहीं २८।१५।

४—बिम्बयोर्घटेषु भग्नेषु प्रलीनश्चन्द सूर्ययोः। तथा सृष्टौ च भग्नायां जीवो ब्रह्मणि लीयते॥ ब्रह्म वैवर्त २८।१६

५—अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥ सदानन्द, वेदान्तसार, पृ० ४७।

(ण) श्री मद्भागवत पुराण

इस पुराण में ईश्वर को जगत् का कर्ता [1] बतलाते हुए उसे पृथ्वी आदि पांच तत्वों और जीवात्मा का आधार भी बतलाया है। सात तत्व मानने वालों के मत की व्याख्या करते हुए लिखा है 'सात हीं तत्व हैं। इसका अर्थ है पांच आकाशादि छटा जीवात्मा और इन दोनों का आधार (परमेश्वर) सातवां उन पांच तत्वों से देह, ईन्द्रिय और प्राण बनते हैं।[2] जीवात्मा के लिये इस पुराण में 'पुमान्' शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है।[3] एक स्थान पर 'श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं —'पूर्वजों के द्वारा निश्चित किये गये उस सांख्य का वर्णन करुँगा जिसे जानकर पुमान् (जीवात्मा) भ्रम को छोड़ देवे।[4] जीवात्मा को अमर बतलाते हुए कहा है —'यह जीवात्मा अपने कर्मों से न जन्म लेता है न मरता है यह सब भ्रान्तिवश व्यवहार है। जीवात्मा अमर है —'लकड़ी के संयोग से जैसे अग्नि जन्म लेती हुई और समाप्त होती हुई प्रतीत होती है उसी प्रकार जीवात्मा शरीर के साथ जन्मता और मरता प्रतीत होता है।[5] प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाते हुए इस पुराण में कहा है —'सत्व रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं।[6] प्रकृति को कारण और कार्यरूपा भी बतलाया गया है तथा एक स्थान पर गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है।[7] तीनों तत्वों के एकत्र वर्णन से इस पुराण में त्रैतवाद की पुष्टि हुई है। एक स्थान पर कहा है 'प्रकृति इस जगत् का उपादान कारण है। इससे पृथक पुरुष (जीवात्मा) है। इस कार्यजगत् को उत्पन्न करने वाला काल ब्रह्म नामक परमेश्वर है। ये तीन (तत्व) हैं।[8] यहाँ त्रितयम् शब्द का स्पष्ट प्रयोग ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के लिए हुआ है।

सांख्य के तत्वों के विषय में पूछते हुए उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं—कुछ आचार्य छब्बीस तत्व बतलाते हैं [9] उन्हें हमें बतलाइये। तब श्रीकृष्ण कहते हैं—"जो लोग छब्बीस तत्व स्वीकार करते हैं वे ऐसा कहते हैं"—जीव अनादिकाल से अविद्या से ग्रस्त होता आया है अतः उसे आत्मज्ञान स्वतः न होने से उसे आत्मज्ञान कराने के लिए तत्वों को जानने वाले (सर्वज्ञ परमेश्वर) की आवश्यकता होती है वह उसे ज्ञान देता है। [9] छब्बीस तत्वों के विषय में जो

१—हरतीश्वरः ॥ श्री मद्भागवत् , ११।२८।६ ।

२—सप्तैवधातव इति तत्रार्थाः पंचखादयः। ज्ञानमात्मोभया धारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥ श्री मद्भागवत, २२।११।१६

३—वहीं ११।२४।१३ ।

४—अथ ते संप्रक्ष्यामि सांख्यंपूर्वैविनिश्चितम्। यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद्वैकल्पिकंभ्रमम् ॥ वहीं ११।२४।१।

५—मा स्वस्य कर्मवीजेन जायते सोऽप्यं पुमान् ॥ म्रियते वाऽपरो भ्रान्त्या ....यथाऽग्निदारुसंयोगः ॥ वहीं २२।११।४५

६—तमो रजः सत्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः । वहीं ११ २४।५।

७—प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै ॥ भागवत् २२।११।१२ ।

८—प्रकृतिर्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यंजकः कालोब्रह्म तस्त्रितयं त्वहम् ॥ वहीं ११।२४।१६ ।

९—केचित् षड्विंशतिं प्राहुः ॥ वहीं २२।११।२ ।

प्रश्न उद्धव ने किया है उसके उत्तर में इस श्लोक में छब्बीस तत्व श्रीकृष्ण ने इस प्रकार गिनाये हैं—कारण-कार्यरूप प्रकृति के चौबीस तत्व, पच्चीसवां जीवात्मा और छब्बीसवां ईश्वर इस प्रकार छब्बीस तत्व स्वीकार करना चाहिए। ये तत्व सॉख्यानुसार वर्णित किये गये हैं। सांख्य को सेश्वर मानने वाले भी प्रकृति के चौबीस तत्व तथा पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमेश्वर ये दो तत्व कुल मिलाकर छब्बीस तत्वों का समावेश मानते है। इस सांख्य के मत को देकर इस प्रकरण के अन्त में कहा है—"ऋषियों ने इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार से तत्वों की गणना की है। सब का कहना उचित ही है। विद्वानों के लिए कुछ बुरा नहीं है [1]।" इस कथन से प्रतीत हो रहा है कि सांख्य के छब्बीस तत्वों का अस्तित्व भी इस ग्रन्थ में स्वीकार कर लिया गया है। ये छब्बीस तत्व ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों से ही सम्बन्धित है अतः यहां त्रैतवाद की विद्यमानता है। तीनों तत्वों का एकत्र वर्णन करते हुए एक श्लोक में कहा है—"सत्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं। इस प्रकृति को जीवात्मा के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार परमेश्वर ने क्षुब्ध (प्रेरित) किया। [2] ऐसा वर्णन अन्य पुराणों में भी आया है। [3] जिनमें यह बतलाया गया है कि प्रलयावस्था से सृजन की अवस्था में वह परमेश्वर प्रकृति और पुरुष को व्यापक रूप से क्षोभित करता है।

ऋग्वेद का त्रैतवाद समर्थक प्रसिद्ध मन्त्र [4] भागवत् में भी थोड़े से परिवर्तन के साथ लिखा हुआ है। [5] जिसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का उल्लेख है। [6] इस प्रकार के प्रकरण ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का अनादि सिद्ध करते है। इन तीनों के अनादित्व से इस पुराण में भी त्रैतवाद की सिद्धि है।

(त) निष्कर्ष

पुराणों में 'त्रैतवाद' की समीक्षा से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है—

पुराणों में परमेश्वर को सर्वोपरि सता के रूप में स्वीकार किया गया है। वह एक है। प्रलयावस्था में सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् उसी में रहता है। सृष्टि निर्माण के समय वही प्रकृति में गति उत्पन्न करता है, अतः जगत् का वह निमित्त कारण है। प्रकृति और जीवात्माओं में भी वह व्यापक बनकर रहता है। वह नित्य और अनादि है।

१—अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्॥ स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥ श्रीमद्भागवत, २४।१।६।

२—इति नाना प्रसंख्यानं तत्वानामृषिभिः कृतम्। सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्वाद् विदुषां विमर्शोमनम्॥
श्रीमदभागवत २२।१'।२५।

३—तमोरजः सत्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः। मया प्रक्षोभयमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥ वहीं ११।२४।५।

४—देखिये मार्कण्डेय पु० ४६।६। विष्णु पु० २।२९। कूर्म पु० ४।१३। लिंग पु० २।७६।

५—ऋ० १।१६४।२०।

६—सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतोकृतनीडो व वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नं स पिप्पलादो न तु पिप्पलादः॥
भागवत भा० ११।११।६।

७—देखिये—प्रो० उमाशंकर शर्मा, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २२।

पुराणों में जीवात्मा का अस्तित्व प्रलयावस्था में भी स्वीकार किया गया है, अतः यह अनादि तत्व है। प्रकृति का यह भोक्ता है। कर्मों का स्वतन्त्र कर्त्ता तथा तदनुसार फल पाने वाला है। यह परमेश्वर के शासन में रहता है।

पुराणों में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका माना है। यह प्रकृति कार्य जगत् का उपादान कारण है। यह परिणामी तत्व है। कारण रूप में यह कार्यरूप में परिणत होती रहती है। प्रलयावस्था में इसका सर्वथा अभाव नहीं होता अतः यह नित्य है। यह स्वयं सृजन में समर्थ नहीं है, परमेश्वर इसका सर्गकाल में प्रेरित करता है।

पुराणों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। अधिकांश पुराणों की दृष्टि में ये तीनों परस्पर विलक्षण तथा नित्य सत्ताएं हैं। पुराणों में सांख्य और योग के तत्वों को भी स्वीकार किया गया है। अतः त्रैतवाद दर्शन की सत्ता पुराणों में व्यापक रूप से विद्यमान है।

४—मनुस्मृति

(क) ईश्वर

मनुस्मृति में ब्रह्म के विषय में कहा है कि वह परम् ब्रह्म एकाक्षर है[१] अर्थात् 'ओम्' नाम से अभिहित होता है। उस ब्रह्म का स्वयंभू, भगवान् और अव्यक्त नामों से वर्णन करते हुए कहा है—वह इस सृष्टि को प्रकाशित करता है, उसका ओज पृथ्वी, जल तेज आदि महाभूतों में विद्यमान है, वही प्रकृति को प्रेरित करता है[२] वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, सूक्ष्म, अव्यक्त तथा सनातन है, सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त अचिन्त्य और स्वयम्भू है[३] वही अपने शरीर (प्रकृति) से विविध प्रजाओं को बनाता है[४] इन प्रसंगों में एक परमात्मा के अनेक नाम और गुण बतलाए हैं। वही इस सृष्टि का निमितकारण है। तथा प्रकृति को प्रेरणा देने वाला भी वही है। वह नित्य परमब्रह्म है।

(ख) जीवात्मा

देही शब्द बहुवचन में जीवात्माओं के लिए मनुस्मृति में भी प्रयुक्त हुआ है। एक स्थान पर कहा है 'ये जीवात्माएं पूर्व कल्प के कर्मों को नये सर्ग में भी प्राप्त कर लेते हैं।[५] इन जीवात्माओं को ब्रह्म ने धर्म और अधर्म के कर्मों के अनुसार सुख और दुःख से युक्त किया है[६] यहां स्पष्ट है कि ब्रह्म कर्मफल का प्रदाता है और जीवात्मा

१—एकाक्षरं परं ब्रह्म।। मनु० २।८३

२—ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्। महाभूतादिवृत्तोजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ मनु १।६।

३—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो ऽव्यक्तः सनातनः। सर्व भूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥मनु० १।७। पृ० ४३।

४—सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सि सृक्षुर्विविधाः प्रजाः। मनु० १।८।

५—स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥ मनु० १३०

६—कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्। द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ मनु० १२६।

अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता है। ब्रह्म धर्म और अधर्म के कर्मों से परे है। ये जीवात्माएं अपने कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों में आते हैं। इस विषय का मनुस्मृति में विस्तार से वर्णन किया है।[1] इस प्रकार मनुस्मृति में जीवात्मा को नित्य, कर्मफल का भोक्ता, सुख-दुःख के बन्धन में पड़ा हुआ शरीर के बन्धन से बद्ध ब्रह्म से भिन्न शक्ति माना है। यह जीवात्मा साधना से उस परम्ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[2]

(ग) प्रकृति :

प्रलय के समय में प्रकृति की अवस्था का वर्णन करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—'यह जगत् (प्रलय की अवस्था में) तमस् (प्रकृति) के रूप में लक्षणों से रहित, तर्क के अयोग्य, अविज्ञेय, और सोया हुआ सा था।[3] कुल्लूक भट्ट ने यहाँ 'तमस्' शब्द प्रकृति के अर्थ में स्वीकार किया है। मनुस्मृति में एक शब्द परमात्मा के लिए 'तमोनुदः'[4] प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द में दो शब्द है 'तमस्+नुदः' 'नुद' शब्द तुदादिगण की 'नुद' प्रेरणे धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रेरणा करने वाला। 'तमोनुदः' का अर्थ हुआ जगत् की उत्पत्ति के समय प्रकृति को प्रेरित करने वाला। कुल्लूक भट्ट ने भी इसका यही अर्थ स्वीकार किया है अतः यहाँ भी 'तमस्' शब्द का अर्थ प्रकृति ही लेना उचित है।[5] हरगोविन्द शास्त्री ने भी यहाँ तमस् का अर्थ प्रकृति किया है।[6] एक स्थान पर कहा है कि वह ब्रह्म अपने शरीर से विविध प्रजाओं को बनाता है।[7] यहाँ पर ब्रह्म के शरीर से तात्पर्य प्रकृति ही है क्योंकि वह प्रलय के समय में इसमें व्यापक रूप में रहता है। यदि ब्रह्म अपने चेतन रूप से सृष्टि बनायेगा तब वह परिणामी सिद्ध होगा परन्तु ब्रह्म अपरिणामी है। परिणाम धर्म प्रकृति का है अतः यही मानना चाहिए कि ब्रह्म प्रकृति से जगत् रचता है। इस विषय को मनु एक श्लोक में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—जो अव्यक्त कारण (प्रकृति) है

१—मनु० १।३७-४० तथा ४३-४६।

२—स ब्रह्म परमभ्येति ।। मनु० २।८२।

३—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। मनु० १।५।

मिलाईये—तमआसीत्तमसागूढ़मग्रे .... । ऋ० १०।१२९।३।

४—इदंजगत् तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत्। तमः शब्देन गुणत्रया प्रकृतिर्निदिश्यते ।।

कुल्लूकभट्टभाष्य, मनु०—पृ० ४।

५—मनु० १।६।

६—तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः। वहीं कुल्लूकभट्टभाष्य, पृ० ६।

७—देखिये—मणिप्रभा हिन्दी भाष्य, पृ० ३। (वहीं)

जिसे नित्य और सदसदात्मक कहते हैं[1] उस (प्रकृति) से इस सृष्टि को बनाने वाला पुरुष ब्रह्म कहलाता है।[2] यहां प्रकृति को जगत् का मूल उत्पादान कारण माना है और ब्रह्म को निमित्त कारण। इस प्रकार प्रकृति की यहां स्पष्ट विद्यमानता है।

(घ) निष्कर्ष

मनुस्मृति में ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों की स्पष्ट विद्यमानता है। तीनों तत्व एक न होकर भिन्न-भिन्न तथा अनादि वर्णित है अतः मनुस्मृति में भी "त्रैतवाद" सिद्धान्त की मान्यता स्पष्ट उल्लिखित है। त्रैतवादियों ने भी मनुस्मृति पर त्रैत समर्थक भाष्य किये हैं।

१—देखिये—मनु० १।८।

२—यत्कारणमव्यक्तम् नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मनेति कीर्त्यते॥ मनु० १।११।
मिलाइये—ब्रह्म पुराण १।३३। विष्णु पुराण १।२।१९-२०। कूर्म पुराण, पूर्वार्द्ध ४।६।

चतुर्थाध्याय

आस्तिक दर्शनों में त्रैतवाद

१) सांख्यदर्शन

(१) ईश्वर

निरीश्वरसांख्यवादियों ने सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी सिद्ध करने के लिए जिस सूत्र का सहारा लिया है वह सूत्र है—"ईश्वरासिद्धेः।[1] निरीश्वरवादी इसका अर्थ करते हैं'—ईश्वर की असिद्धि होने से (ईश्वर नहीं मानना चाहिए) परन्तु इस सूत्र के पूर्व सूत्रों को यदि ध्यान से देखें और प्रसंगानुकूल अर्थ करें तभी इस सूत्र के सही अर्थ तक पहुँचा जा सकता है। सांख्यदर्शन के प्रथमाध्याय में प्रकृति का प्रसंग उठाया गया है और उससे सम्बन्धित विषयों पर ही प्रकाश डाला गया है।[2] वहां पर त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही मूल उपादान कारण माना है। इसी प्रसंग में इस अचेतन कार्य जगत् का कारण भी अचेतन ही माना है। इस अचेतन जगत् का उपादान कोई चेतन नहीं हो सकता क्योंकि किसी प्रमाण से ऐसा सिद्ध नहीं है कि चेतन किसी अचेतन कार्य का मूल उपादान हो। ईश्वर भी इस अचेतन कार्य जगत् का मूल उपादान कारण नहीं बन सकता। इस उपादान रूप में ईश्वर की असिद्धि है। ईश्वर का इस उपादान रूप में निषेध है परन्तु इस कथन से सांख्य अनीश्वरवादी नहीं बन जाता क्योंकि सांख्य दर्शन में अधिष्ठाता और निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि—"जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) अपनी समीपता से लोहे में गति पैदा कर देती है उसी प्रकार इस प्रकृति का कोई अधिष्ठाता है जो कि इसमें अपने सामीप्य से गति प्रदान करता है।[3] वही चेतना शक्ति ईश्वर है। विशेष कार्यों में जीवात्माओं को भी अधिष्ठातृ रूप से यह ईश्वर प्रेरित करता।[4] ईश्वर प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों के भीतर व्यापक होने से दोनों का प्रेरक है। इस प्रकार के उदाहरण पुराण साहित्य में पर्याप्त मिलते हैं। जहां पर कहा है कि प्रकृति और पुरुष में व्यापक रूप से प्रविष्ट हुआ ईश्वर दोनों को प्रेरित करता है।[5] इसी प्रकार ईश्वर को वेद[6] और पुराण साहित्य[7] में भी अधिष्ठाता स्वीकार किया गया है।

१—सांख्यदर्शन, १।५७।

२—देखिये—सांख्य १।२६-६१।

३—तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥ सांख्य० १।६१।

४—विशेष कार्येष्वपि जीवानाम्॥ सांख्य० १।६२।

५—देखिये—विष्णु पुराण, १।२।२८,२९। लिंग पुराण, २।७६। कूर्म पुराण, पूर्वार्द्ध ४।१३। मार्कण्डेय पुराण ४६।६

६—यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति॥ अथर्व० १०।८।१॥

७—देखिये वायु पुराण ४।२१,२२, २३।

अधिष्ठातृ शब्द अधिपूर्वक स्था धातु से तृच् प्रत्यय होकर तथा ध् को ठ् और स् को ष होकर बना है। यहां पर अधि उपर्ग सप्तमी विभक्ति के अर्थ में विद्यमान है। और विभक्ति अर्थ में अष्टाध्यायी के सूत्र (२।१।६) से यहां अव्ययीभाव समास हुआ है। जिसका अर्थ होगा—'में स्थित' तदनुसार ईश्वर प्रकृति और पुरुष में स्थित (व्यापक) होने के कारण ही अधिष्ठाता कहा गया है। सांख्य दर्शन के सूत्र (१।६१) में भी इसी अर्थ में "अधिष्ठातृत्व" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह सृष्टि अचेतन और चेतन के योग से बनती है।[1] क्योंकि अचेतन प्रकृति में स्वतः गति नहीं हो सकती अतः चेतन तत्व की आवश्यकता है और वह चेतन तत्व जो कि प्रकृति में गति पैदा करने वाला है वह ईश्वर ही हो सकता है। उसका वर्णन करते हुए सांख्य में सूत्रकार लिखता है—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।[2] अर्थात् वह (ईश्वर) सर्वज्ञ और सबका कर्त्ता है। इससे अग्रिम सूत्र में स्पष्ट घोषणा कर दी है कि जो सृष्टि का अधिष्ठाता, निमित्तकारण और सर्वज्ञ है। इस प्रकार का ईश्वर सिद्ध है।[3]

(ख) सांख्य दर्शन में सेश्वरता की समीक्षा

सांख्य दर्शन में चौबीस तत्वों के अतिरिक्त २५ वां पुरुष तत्व माना गया है। निरीश्वरवादियों का तो यह कहना है पुरुष का अर्थ केवल जीवात्मा है अतः सांख्य में 'ईश्वर' को एक पृथक् तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है परन्तु सांख्य को सेश्वर मानने वालों ने यह कहा है कि 'पुरुष' शब्द के दोनों अर्थ हैं। शरीर रूपी पुरी में सोने[4] के कारण पुरुष का एक अर्थ जीवात्मा है और जगत रूपी पुरी में सोने के कारण 'पुरुष' का दूसरा अर्थ ईश्वर भी है। दोनों चेतन तत्व होने के कारण उनके लिए यहां एक वचन का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में पच्चीसवां तत्व जीवात्मा और छब्बीसवां तत्व ईश्वर सिद्ध होता है। इस प्रकार का वर्णन पुराण साहित्य में सांख्य सम्बन्धी प्रसंगों में कई स्थानों पर आया है।[6] पुराणें में प्रधान (प्रकृति) और पुरुष को शोभित करने वाला परमेश्वर तत्व पृथक स्वीकार किया गया है।[5] ये प्रसंग सांख्य को सेश्वरवादी सिद्ध करते हैं। अद्वैतवाद सिद्धान्त को मानने वालों में भी सांख्य के विषय में दो प्रकार की धारनाएं बनीं। कुछ अद्वैतवादियों ने तो जिनमें आचार्य शंकर भी सम्मिलित हैं, सांख्य को निरीश्वर सिद्ध किया। क्योंकि सांख्य की प्रकृति परिणाम धर्म वाली है और जगत का मूल उपादान है तथा उसका निर्वान भी हो सकता है। सत्कार्यवाद सिद्धान्त के कारण कार्य जगत् का यही मूल उपादान तत्व है। यदि अद्वैतवादी इस प्रकार की प्रकृति को मान लेते हैं तो उनके अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है। क्योंकि वे अनिर्वचनीय

१—रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ सांख्य २।९।

२—वहीं ३।५६।

३—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ वहीं ३।५७।

४—पुरिशयनात्। सांख्य संग्रहे, पृ० १०।

५—पंचविंशपदार्थेभ्यः शिवतत्वं परं विदुः। शिवपुराण, २।१६।१७। तथा— महेश्वरो महादेवः प्रकृतेः पुरुषस्य च। परत्वे सस्थितो देवः परमात्मा मुनीश्वरः ॥ लिंग पुराण, २।२ ॥

तथा—आत्माऽव्यक्तश्चतुर्विंशतवानि पुरुषः परः। अग्निपुराण ३७०।४।

६—देखिये- विष्णुपुराण १।२।१६। लिंग पुराण २।७।६। कुर्मपुराण पूर्वार्द्ध, ४।१६। मार्कण्डे पुराण ४६।६।

अज्ञान को स्वकार करते हैं। और सांख्य दर्शन में अनिवर्चनीय तत्व का खण्डन करते हुए लिखा है—जो न सत् हो और न असत् हो अनिर्वचनीय हो, ऐसे तत्व का संसार में अभाव है[1] पुरुष (जीवात्मा) को जिस रूप में सांख्य में माना गया है उस रूप में अद्वैतवादी नहीं मानते। सांख्य में जीवात्माओं को अनेक तथा नित्य माना है। जब कि अद्वैतवादी मानते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् स्वतंत्र शक्ति नहीं है। ब्रह्म ही व्यष्टि अज्ञान के रूप में जीव बन जाता है। इन सब कारणों से अद्वैतवादियों ने सांख्य की आलोचना की है और उसे निरीश्वरवादी सिद्ध करने का साहस किया है। परन्तु अद्वैतवादियों में एक समूह ऐसा भी हुआ जिसने सांख्य के 'पुरुष' शब्द का अर्थ एक अद्वितीय ब्रह्म किया है। उन्होंने सांख्य को सेश्वरवादी मानते हुए उसकी अद्वैतवाद परक व्याख्या की है। सांख्य परिभाषाकार का मत है कि अनादि वस्तु चैतन्य आत्मा था। माया अविवेक होने के कारण अन्धी थी, दोनों के एकीभूत होने से तथा जीव और ईश्वर के बहाने से मिथ्या सृष्टि बनी[2]। वही आगे लिखा है—कारणोपाधि से युक्त चैतन्य ईश्वर कहाता है।[3]

अद्वैतवादी विज्ञान भिक्षु ने भी सांख्य को सेश्वर सिद्ध किया है। एक स्थान पर वे लिंग शरीर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—'स्वयम्भू ने अपने लिंग शरीर के सूक्ष्म अवयवों को अपने अंशभूत चेतन आत्माओं में मिलाकर सब प्राणी बनाये।[4] यहाँ उन्होंने अद्वैतवादानुसार जीवात्माओं को स्वयम्भू का अंश बतलाया है। एक स्थान पर उन्होंने ब्रह्म को उपादान कारण कहा है जो कि सांख्यदर्शनकार के अभिप्राय के बिलकुल प्रतिकूल है।[5] यद्यपि इस प्रकार की अद्वैतपरक सांख्यदर्शन की व्याख्या सांख्य सिद्धान्त के प्रतिकूल है तथापि इन्होंने सांख्य को निरीश्वर नहीं माना है यह तो सिद्ध ही है। सांख्य में ईश्वरवाद को स्वीकार करते हुए श्री सोमचैतन्य अपने लेख में लिखते हैं—'आधुनिक विद्वानों का मत है कि सांख्य अपने मूलरूप में सेश्वरवादी था। उपनिषद्, गीता, महाभारत और पुराणों के काल तक सांख्य ईश्वरवाद का समर्थक है। इसके बाद जब बौद्धों और जैनियों का बोलबाला हुआ और नास्तिकता की लहर प्रबल हुई तब सांख्य में से ईश्वर को निकाल कर केवल प्रकृत और पुरुष दो ही के आधार पर इसके सिद्धान्तों की दृढ़ भित्ति को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।[6] हमारे मत में भी सांख्य की प्राचीन परम्परा सेश्वर ही थी। इस बात का प्रमाण प्राचीन साहित्य ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद में सांख्य और योग को

१—नानिर्वचनीयस्य तदभावात्। सांख्य० ५।५४॥

२—मिथ्याजीवेश्वरव्याजेनापि ब्रह्माण्डयोः सृष्टिनिर्मिताः सांख्यसंग्रहे (सांख्य परिभाषा) पृ० २१३।

३—कारणोपाधि चैतन्यम् ईश्वरशब्द वाच्यम्॥ वहीं, पृ० २१४।

४—स्वयम्भूः स्वलिंग शरीरावयवान् सूक्ष्मान् अल्पान् आत्मात्रासु स्वांश चेतनेषु सयोज्य सर्वप्राणिनिः ससर्जेत्यर्थः॥
सांख्यसार पूर्वभाग, तृतीय परिच्छेद, पृ० १७।

५—अतो जगदुपादानमपि ब्रह्माविकारतः। विज्ञानभिक्षुः - सांख्यसार उत्तरभाग २।५ पृ० २२।

६—वैदिक धर्म पत्रिका अंक ४, १६५०, पृ० २००।

सेश्वर माना है। वहाँ लिखा है सांख्य और योग से जानने योग्य देव (ईश्वर) को जानकर (जीवात्मा) सब बन्धनों से छूट जाता है।[१] इसी प्रकार गीता में कहा है—सांख्य और योग को बालक (मन्द बुद्धि) ही पृथक् बतलाते हैं बुद्धिमान नहीं। जो सांख्य से स्थान प्राप्त होता है वही योग से।[२] भाव स्पष्ट है कि योग में पुरुष विशेष ईश्वर माना गया है जो कि क्लेश, कर्म, कर्मफल और कर्मफल की वासनाओं से असम्बद्ध है।[३] सांख्य में भी इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि मानी है जो सर्वज्ञ और सृष्टि का कर्त्ता है।[४] दोनों के सिद्धान्तों में इस समानता के कारण सांख्य और योग का एक साथ प्रयोग होने लगा। श्वेताश्वतर में तो यहां तक कहा है कि कपिल ऋषि को ब्रह्म ने ही ज्ञान दिया। वहाँ लिखा है—जो ब्रह्म सब कारणों का और सम्पूर्ण विश्व का एक ही अधिष्ठाता है जो प्रारम्भ में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान से भर देता है उपासक उसे देखें।[५] इन सब प्रमाणों से सांख्य सेश्वरवादी सिद्ध होता है। इस विषय में उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—परमात्मा का जो स्वरूप वेदादि सत्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है, सांख्य का उससे कोई विरोध नहीं, प्रत्युत् अधिष्ठाता, सर्वकर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, ईश्वर आदि पदों से सांख्य में उसका उल्लेख किया गया है। यह एक सर्वथा-अशुद्ध धारणा है कि कपिल सांख्य निरीश्वरवादी है।[६]

(ग) जीवात्मा

पुरुष शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए प्राचीन शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। उसी प्रकार सांख्य में भी पुरुष शब्द से दो चेतन सत्ताओं का ग्रहण हुआ है। जीवात्मा का और ईश्वर का। ईश्वर तत्व का विवेचन किया जा चुका है, यहाँ अब जीवात्मा के अर्थ में पुरुष शब्द का विवेचन इस प्रकार किया है। श्रीषिमानन्द ने पुराण शब्द का विवेचन इस प्रकार किया है शरीर रूपी पुरी में सोने के कारण शरीर में प्रमाणित होने के कारण, शरीर को पूर्ण बनाने के कारण और शरीर से व्यवहार करने के कारण यह जीवात्मा पुरुष कहलाता है। आगे उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—वह जीवात्मा अनादि सब प्राणियों में विद्यमान, चेतन, निर्गुण, अपर, द्रष्टा, भोक्ता, क्षेत्र (शरीर) में जानने

१—तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः श्वेता० ६।१३।

२—सांख्य योगौ पृथक्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। गीता ५।४।

तथा-यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। वहीं ५।५।

३—क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः ॥ योग १।२४।

४—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ सांख्य ३।५७।

५—यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ श्वेता० ५।२।

६—सांख्य सिद्धान्त, पृ० ३६८।

जोग्य, अमल, प्रसवधर्म से रहित, सूक्ष्म, नित्य और अमर है।[1] श्रीपिमानन्द आगे लिखते हैं कि इसी सांख्य पुरुष को पूर्व विद्वानों ने अनेक नामों से वर्णित किया है इसे जीव, जन्तु, पुमान्, आत्मा, पुरुष, पूजक, नर, क्षेत्रज्ञ, अक्षर, प्राण, कोय, एष, स, ज्ञ, और अज कहा गया है।[2]

सांख्य दर्शन में जीवात्मा सम्बन्धी जो सूत्र आये हैं उनका भाव इस प्रकार है—

जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है।[3] अचेतन तत्वों का समूह दूसरे के लिए होने के कारण (इनका भोक्ता जीवात्मा) है।[4] तीनों गुण अचेतन हैं इनसे विपरीत कोई चेतन तत्व भी है वही जीवात्मा है।[5] इस अचेतन शरीर का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए और वह जीवात्मा है।[6] त्रिगुणात्मक जगत् में स्वयं भोगने की शक्ति नहीं है अतः इसका भोक्ता होना चाहिए। वह भोक्ता जीवात्मा है।[7] कैवल्य (मोक्ष) के लिए प्रवृत्ति होने से जीवात्मा है।[8] अचेतन में किसी को प्रकाशित (गतियुक्त) करने की शक्ति नहीं है अतः चेतन तत्व माना जाना चाहिए और वह चेतन जीवात्मा है[9] वह चेतन तत्व जीवात्मा निर्गुण होने के कारण चेतन स्वरूप है चेतन धर्मवाला नहीं है।[10] सुषुप्ति आदि अवस्था का कोई साक्षी होना चाहिए और वह साक्षी जीवात्मा है।[11] जन्म आदि की व्यवस्था से पुरुष (जीवात्मा) बहुत है।[12] उपाधि (देह) के नाश होने पर जीवात्मा बना रहता है और उसका अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के शरीरों से योग होता रहता है जैसे एक आकाश का अनेक घटों से सम्बन्ध हो जाता है।[13] शरीर नष्ट होता है परन्तु शरीरवाला जीवात्मा नष्ट नहीं होता।[14] सबकी आत्मा एक नहीं है—यदि एक

१—पुरिशयानात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुवृत्तितः। स चानादि सर्वगतश्चेतनो निर्गुणो परः॥
द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलो प्रसवधर्मकः। सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि सः॥ सांख्य संग्रह (सांख्यतत्वविवेचनम् में पुरुषः तत्व)। पृ० १०।

२—एवं सांख्ये स पुरुषो व्याख्यातः पूर्वसूरिभिः। जीवो जन्तुः पुमानात्मा पुरुषः पूजको नरः॥
क्षेत्रज्ञश्चाक्षरः प्राणः कोय एषः स ज्ञस्तथा। अज एतानि नामानि सांख्ये पुरुसञ्ज्ञिते॥ वहीं, पृ० ११।

३—शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान्॥ सांख्य० १।१०४।

४—संहतपरार्थ त्वात्॥ वहीं १।१०५।

५—त्रिगुणादि विपर्यात्॥ वहीं १।१०६।

६—अधिष्ठानाच्चेति॥ सांख्य १।१०७।

७—भोक्तृभावात्। वहीं १।१०८।

८—कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च॥ वहीं १।१०९।

९—जड़प्रकाशायोगात् प्रकाशः॥ वहीं १।११०।

१०—निर्गुणत्वान्नचिद्धर्मा॥ वहीं १।१११।

११—सुषुप्त्याद्याक्षित्वम्॥ वहीं १।११३।

१२—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्॥ वहीं १।११४।

१३—उपाधिभेदेऽप्येकस्यनानायोग आकाशस्येव घटादिभिः। वहीं १।११५

१४—उपाधिर्मिथते न तु तद्वान्॥ वहीं १।११६।

ही माना जाय तो उन में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। परन्तु सुखःदुःखादि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होती है अतः जीवात्मा अलग-अलग हैं।[1] सुखदुःख आदि का कारण अन्तःकरण को मानने पर और आत्मा में उनका आरोप मानने पर भी व्यवस्था नहीं बनेगी क्योंकि एक आत्मा एक समय ही सुखी दुःखी नहीं हो सकता। अतः जीवात्मा अनेक हैं।[2] आत्मा को एक मानने वाली श्रुतियों से विरोध उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि वहाँ चेतन जातिपरक अर्थ है।[3] वामदेवादि की मुक्ति से सिद्ध है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं। (यदि एक होती तो एक के मुक्त होने से सबकी मुक्ति होनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता)।[4] आत्मा प्रकृति से नित्य मुक्त रहता है।[5] यह प्रकृति का कर्ता न होने से उस कर्तापन के प्रति उदासीन है।[6] बुद्धि में (कर्म) कर्तृत्व चेतन के सन्निध्य से है वही जीवात्मा है।[7] इस प्रकार अन्य स्थलों पर भी जीवात्मा का वर्णन है।[8] एक सूत्र में जीवात्मा को 'असंग' (स्वरूप से त्रिगुण रहित) कहा है।[9] इस नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव जीवात्मा का बन्धन प्रकृति के बिना नहीं होता।[10] इस प्रकार जीवात्मा के विषय में सांख्य का मत है कि जीवात्मा, नित्य, चेतन, कर्मफल भोक्ता, अविद्या के कारण प्रकृति के बन्धन में आने वाला, और मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहने वाला है। जीवात्मा एक नहीं अपितु बहुत हैं। यह सूक्ष्म, अमर और अपरिणामी है। चेतन जातिपरक दृष्टि से इनमें एकत्व है वस्तुतः ये जीवात्मा पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं। न ये किसी उपादान से उत्पन्न हुए हैं और न किस उपादान का कारण हैं। मुक्ति के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति करके आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति प्राप्त कर लेना उनका पुरुषार्थ है।[11]

(घ) सांख्य के पुरुष तत्व के विषय में भाष्यकारों का दृष्टिकोण

सांख्य दर्शन पर अनेक भाष्य हुए हैं पुरुष तत्व का उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से विवेचन किया है। इन

१—स्वमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्ध धर्माध्यासः॥ सांख्य १।११७

२—अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्॥ सांख्य० ।१।११८

३—नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्॥ वहीं १।११६।

४—वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्॥ वहीं १।१२२।

५—नित्यमुक्तत्वम्॥ वहीं १।१२७।

६—औदासीन्यं चेति ॥ वही १।१२८।

७—उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात्॥ वहीं १।१२६।

८—देखिये—सांख्य १।७-२२।

६—असंगोऽयं पुरुष इति। वहीं १।१५।

१०—न नित्यशुद्ध बुद्धमुक्त स्वभावस्यद्योगस्तद्योगादृते॥ सांख्य १।१६।

११—त्रिविधदुःखात्यन्तनीविवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः॥ वहीं १।१।

भाष्यकारों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

१—एक वे भाष्यकार जिन्होंने तटस्थ वृत्ति से अन्य भाष्यकारों के मत भी व्यक्त किये हैं।

२—एक वे जो निरीश्वरवादी है। ३—एक वे जो अद्वैतवादी हैं। ४—एक वे जो त्रैतवादी हैं।

क्रमशः चारों के भाष्यों को समीक्षात्मक दृष्टि से देखते हैं:—

१. श्री षिमानन्द ने सांख्यतत्व विवेचन लिखा है जिसमें उन्होंने पुरुष तत्व के विषय में विस्तार से लिखा है[1] पुरुष एक है या अनेक इस विषय में उन्होंने अनेक मानने वालों का मत तथा एक मानने वाले अद्वैतवादियों का मत निर्देश किया है।[2] इससे सिद्ध है कि इन भाष्यकारों के समय में भी ये दो विचारधारायें चल रही थीं। इन्होंने जीवात्मा को 'अपरः'[3] कहा है। इसका तात्पर्य है कि 'पर' रूप में ईश्वर को भी इन्होंने स्वीकार किया है, क्योंकि यह विशेषण (परमात्मा, परब्रह्म) ईश्वर के साथ ही लगते हैं। इससे सिद्ध है कि यह भाष्यकार सेश्वर सांख्य को मानता है तथा जीवात्मा को पृथक् और बहुत रूप में भी स्वीकार करता है।

श्रीभावागणेश ने सांख्य दर्शन पर 'तत्वयाथार्थ्यदीपनम्' नाम से भाष्य किया है। इन्होंने पुरुष के विषय में लिखा है —'पुरुष अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता, क्षेत्रवित् अमर तथा अप्रसवधर्मा है।[4] इन्होंने इस पुरुष के पर्यायवाची ये नाम गिनाए हैं, पुरुष, आत्मा, पुमान्, पुद्गलजन्तु, जीव, क्षेत्रज्ञ, नर, कवि, ब्रह्म, अक्षर, प्राण, ज्ञ, य, क, स, एक[5] पुरुषबहुत्व के विषय में इन्होंने भी दो मतों का निर्देश किया है। लिखते हैं—सांख्याचार्य कपिल, आसुरि, पंचशिख, पतंजलि और न्यायवैशेषिक आचार्य अनेक पुरुषों को मानते हैं तथा औपनिषद् आचार्य हरिहरहिरण्यगर्भ, व्यासादि एक ही नित्य ईश्वर को सबकी आत्मा कहते हैं।[6]

तत्वसमाससूत्रवृत्तिकार का पुरुष सम्बन्धी विचार श्री षिमानन्द से मिलता है[7] सांख्यतत्वप्रदीपिकाकार पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को मानता है। अद्वैतश्रुतियों का उत्तर देते हुए लिखता है कि 'एक ही अद्वितीय है' इत्यादि एकत्व वर्णन

१—सांख्यतत्व विवेचन सांख्य संग्रहे, पृ० १०।

२—सांख्याचार्याः कपिलासुरिपंचशिख पतंजलिप्रभृतयः पुरुष बहुत्वं वर्णयन्ति। वेदवादिनः आचार्याः हरिहरहिरण्यगर्भ व्यासादय एकमात्मानम्॥ सांख्य संग्रहे पृ० १३।

नोट:—षिमानन्द का यहाँ कपिल और पतंजलि को त्रैतवादी आचार्यों से पृथक् रखना एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा, है क्योंकि ये त्रैतवादी ऋषि थे।

३—अनादिः सूक्ष्मश्चेतनः सर्वगतः निगुर्णः कूटस्थो नित्यो द्रष्टा भोक्ताक्षेत्रवित् अमनो प्रसवधर्मा चेति स्वरूपम्॥ सांख्य संग्रह, पृ० ६०।

४—अथ पर्यायः पुरुष आत्मा पुमान् पुद्गलजन्तुः जीवः क्षेत्रज्ञः कविः ब्रह्म अक्षरः प्राणः ज्ञः यः कः स एक इति॥ वहीं

५—देखिये—वहीं पृ० ६१।

६—सांख्यसंग्रहे, पृ० १२३।

उपचार से है। अर्थात् (चेतन जाति पद्क है) वास्तव तो भेद है। यह आचार्य अद्वैतदर्शन सांख्या में स्वीकार करने के लिये सहमत प्रतीत नहीं होता[1]।

२. सर्वोपकारिणी टीका कार निरीश्वरवादी है। उसने लिखा है कि प्रकृति से ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। न ईश्वर से, न ब्रह्म की उपादानता से न बिना कारण के और न ईश्वर अधिष्ठित प्रकृति से यह सृष्टि हुई है[2]।

सांख्यसूत्रविवरणकार भी निरीश्वरवादी है, पुरुष के विषय में वह लिखता है—पुरुष अनेक, त्रिगुणरहित, विवेक, अविषय, असाधारण, अप्रसवधर्मा, चेतन, साक्षी केवल, मध्यस्थ, दृष्ट और अकर्ता। है[3] सांख्यतत्व प्रदीप का कर्ता भी ईश्वर कृष्ण की परम्परा से प्रभावित है। उसने भी सृष्टि रचना में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं मानी है। परन्तु पुरुष बहुत्व-सिद्धान्त को माना है[4]। आचार्य कृष्ण मित्र की टीका तत्वमीमांसा भी ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं से सम्बन्ध रखती है अतः अनीश्वरवादी है।[5]

३. सांख्य परिभाषाकार अद्वैतवादी है। उसने पुरुष शब्द से कार्योपाधिजीव तथा कारणोपाधि ईश्वर अर्थ किया है[6]। विज्ञानभिक्षु का भाष्य भी अद्वैतवादी है।

४. त्रैतवादी भाष्यकार उन्हें माना जा सकता है जिन्होंने सांख्य दर्शन के तत्वों की संख्या २५ न मानकर २६ मानी है, इस प्रकार का दृष्टिकोण पुराणों में भी मिलता है[7] तथा त्रैतवादी आचार्यों और विद्वानों ने भी अपने भाष्य में यही दृष्टकोण प्रस्तुत किया है[8]। वस्तुतः जिन्होंने सांख्य पर अद्वैतवादी भाष्य किया है वह भाष्य सांख्य के मूल अभिप्राय के प्रतिकूल है क्योंकि सांख्य में जीवात्माओं का स्वरूप से भिन्नत्व तथा बहुत्व स्वीकार किया गया है और अद्वैत का निषेध किया गया है[9]। त्रैतवादी आचार्यों ने प्राचीनकाल में भी प्रचलित सांख्य सम्बन्धी परम्परा को पुनः जाग्रत

१—स चायं पुरुषः प्रतिशरीरं भिन्नः। एक मेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिश्च कथञ्चिदुपचरितार्थत्वेन –उच्यते। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः इत्यादि श्रुतेश्च पुरुषभेदमवगच्छामः॥ सांख्यसंग्रहे, पृ० १४८।

२—प्रकृत्यवायं सर्गेनिम्वरेण नामि ब्रह्मोपादानो नाप्यकारणोनेश्वराधिष्ठितप्रकृतित इति॥ सांख्यसंग्रहे, पृ० १०१।

३—अथ कः पुरुष इत्युच्यते। पुरुषोऽनेकस्त्रिगुणरहितो विवेकी अविषयोऽसाधारणोऽप्रसवधर्मा चेतनःसाक्षी केवलोमध्यस्थो द्रष्टा कर्ता च॥ वहीं, पृ० १०६।

४—देखिये—वहीं, पृ० १७०-१७६।

५—वहीं, पृ० १७६।

६—कार्योपाधिरयंजीवः कारणोपाधिरीश्वरः। सांख्यसंग्रहे, पृ० २१४।

७—देखिये इसी ग्रन्थ का पृ० १४६

८—देखिये वहीं—पांचवें अध्याय में महर्षि दयानन्द, तुलसीराम, स्वामी दर्शनानन्द, आर्य मुनि, उदयवीरशास्त्री आदि का सांख्य सम्बन्धी दृष्टिकोण।

९—नाद्वैतमात्मनोर्लिंगात्तत्भेदप्रतीतेः। सांख्य०५।५७।

किया है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष का अर्थ ईश्वर भी है तथा जीवात्मा भी है तथा ये दोनों स्वरूप से भिन्न हैं।

इन सभी भाष्यकारों के मत विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवादियों को छोड़कर अधिकांश भाष्यकार जीवात्मा के विषय में एक मत हैं। उनके अनुसार जीवात्मा नित्य, अनादि, चेतन तथा अनेक हैं।

(ङ) प्रकृति

सांख्यतत्व विवेचन में प्रकृति के इतने नाम गिनाये हैं—प्रकृति, माया, प्रधान, ब्रह्म, कारण, अव्याकृत, तमस्, पुरुष, क्षेत्र और अक्षर[1] तथा भावागणेश ने प्रकृति के ये पर्याय दिये हैं—अव्यक्त, प्रधान, ब्रह्म, अक्षर, क्षेत्र, तम, माया, ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, प्रकृति, शक्ति और अजा[2] श्री षिमानन्द ने प्रकृति की व्युत्पति की है—विशेष परिणाम रूप आकृति[3]।

सांख्य दर्शन में प्रकृति का विस्तार से वर्णन है। प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुए सूत्रकार लिखता है—'सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है।[4] यह प्रकृति इस कार्य जगत् का मूल उपादान कारण है। इस प्रकृति का मूल उपादान दूसरा नहीं है।[5] इस मूल उपादान प्रकृति के बिना कार्य जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।[6] जो वस्तु भावरूप में पहले विद्यमान रहती है उसी की उत्पत्ति होती है अभाव से भाव को सिद्धि नहीं हो सकती।[7] सांख्य दर्शन की दृष्टि में प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा परिणामिनी है। सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद सिद्धान्त के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि यह कार्य जगत् विनाश की अवस्था में अपने मूल उपादान प्रकृति में लीन हो जाता है।[8] और जब सृजन होता है तब ईश्वर की प्रेरणा से उसे मूल उपादान में से प्रादुर्भूत होता है। उस प्रकृति की उपलब्धि सूक्ष्मता के कारण नहीं हो रही है[9]। कार्य को देखकर कारण का ज्ञान होता है[10] कि इस त्रिगुणात्मक अचेतन कार्य का कारण भी त्रिगुणात्मक और अचेतन ही होगा। सत्कार्यवाद के लिए

१—अव्यक्त प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम्। अव्याकृतं तमः पुरुषं क्षेत्रमक्षर नामकम्॥ सांख्यसंग्रहे, पृ० ५

२—तथा प्रकृति पर्याया अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं तमः माया ब्राह्मी विद्या अविद्या प्रकृति शक्ति अजा इत्यादयः वहीं, पृ० ५२।

३—प्रकृष्टा परिणामरूपा आकृतिरस्या इति। वहीं, पृ० २।

४—सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः॥ सांख्य० १।२६।

५—मूलेमूलाभावादमूलं मूलम्॥ वहीं १।३२।

६—नावस्तुनोवस्तु सिद्धिः॥ वहीं १।४३।

७—भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्। कुतस्तरां तत्सिद्धिः॥ वहीं १।४५।

८—नाशः कारणलयः॥ सांख्य ५।८६।

९—सौक्ष्म्यातदनुपलब्धिः॥ वहीं ५।७४।

१०—कार्य दर्शनात्तदुपलब्धेः वहीं ५।७५।

सांख्य में जो सूत्र लिखे हैं वे इस प्रकार हैं—'असत् की उत्पति नहीं है जैसे कि मनुष्य के सींग पैदा नहीं होते[1]। कार्य का उपादानकारण होना देखा जाता है[2]। सब जगह हमेशा सब कुछ पैदा नहीं होता[3]। जिसमें जिस चीज को उत्पन्न करने की शक्ति होती है उससे वही पैदा होती है दूसरी नहीं।[4] कार्य हमेशा अपने कारण में रहता है[5]। इन कारणों से कार्य अपने उपादान कारण में 'सत्' रूप में रहता है। और वही उपादान कारण प्रकृति है जो कि नित्य है।

(च) निष्कर्ष

सांख्य दर्शन के विवेचन से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सांख्य दर्शन के विषय में भाष्यकरों में निरीश्वरवादी अद्वैतवादी तथा त्रैतवादी ये तीनों दृष्टिकोण विद्यमान हैं। सांख्य के विषय में सेश्वर और निरीश्वर ये दोनों परम्परायें अधिक प्रचलित रही हैं। निरीश्वर परम्परा अतिप्राचीन नहीं है जबकि सेश्वर परम्परा अधिक प्राचीन है। निरीश्वरवादिता बौद्धों की देन हैं तथा कुछ अद्वैतवादियों के स्वमताग्रह की देन है। आधुनिक युग में त्रैतवादी आचार्य महर्षि दयानन्द ने सांख्य दर्शन में ईश्वरवादी विचारों का दिग्दर्शन कराकर सांख्य को फिर से सही अर्थों में वैदिक दर्शनों की कोटि में लाकर खड़ा कर दिया है। मध्य युग से चली आ रही सांख्य को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति को दयानन्द ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है[6]। महर्षि दयानन्द के पश्चात् त्रैतवादी विद्वानों ने इस दर्शन पर विशाल त्रैदवादी भाष्य किया है। त्रैतवादियों के अनुसार कपिल का सांख्य निश्चय से ईश्वरवादी है। इस दर्शन में ईश्वर को निमित्तकारण माना गया है। उपादान कारण नहीं। सांख्य की दृष्टि में जीवात्मा नित्य और अनादि है। जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं। जीवात्मा और ईश्वर में पारमार्थिक भेद है। ये दोनों नित्य और अनादि तत्व हैं। जीवात्मा प्रकृति के बन्धन में अविद्या के कारण आता है। ईश्वर सर्वज्ञ है वह अविद्या जन्य बन्धन में नहीं आता। वह जीवात्मा के कर्मों का फल देने वाला है। तीसरा तत्व प्रकृति नित्य और परिणामी है। यह अचेतन तथा त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार सांख्य ईश्वर, जीव और प्रकृति को नित्य और अनादि तत्व मानता है अतः इस दर्शन में स्पष्ट त्रैतवाद सिद्धान्त विद्यमान है।

१—नासदुत्पादो नृश्रृंगवत् ॥ वहीं ५।७६।

२—उपादान नियमात् ॥ वहीं ५।८०।

३—सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्। वहीं ५।८१।

४—शक्तस्य शक्य कारणात् ॥ वहीं ५।८२।

५—कारणभावाच्च ॥ वहीं ५।८३।

६—डा० वेदप्रकाश गुप्त, दयानन्द दर्शन, पृ० ७७।

२—योगदर्शन

(क) ईश्वर

महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शन के प्रथमपाद में शीघ्रसमाधि लगाने के उपाय बतलाये गये हैं। उन्हीं उपायों में ईश्वर की उपासना को समीपतम साधन बतलाया है। इसी प्रकरण में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन, उसके वाचक शब्द "प्रणव" का उल्लेख तथा उसके अर्थ सहित जप करने पर बल दिया गया है। इस प्रकरण का प्रथम सूत्र है—"ईश्वर प्रणिधानाद्वा।[१]" अर्थात् ईश्वर की विशेष भक्ति करने से (समाधि लाभ शीघ्र प्राप्त होता है)। व्यास ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए प्रणिधान का अर्थ भक्ति विशेष किया है।[२] वहीं भोजदेव ने भक्ति विशेष का अर्थ विशेष उपासना किया है।[3] उसी ईश्वर का स्वरूपवर्णन अग्रिम सूत्र में इस प्रकार किया है।

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर :[४]। अर्थात् अविद्यादिक्लेश और पुण्यपापरूप कर्म, उन कर्मों के फल और वासनाओं से रहित पुरुष विशेष अर्थात् अन्य पुरुषों (जीवों) से विशेष[५] ईश्वर है। यहां ईश्वर शब्द उस परब्रह्म के लिये आया है जिसे अद्वैतवादी निरुपाधिक ब्रह्म कहते हैं क्योंकि इस सूत्र में सभी अविद्यादि उपाधियों से रहित तथा जीवों से भिन्न ईश्वर का वर्णन है। ईश्वर को निरुपाधिक ब्रह्म का सोपाधिक रूप मानना केवल अद्वैत वादियों की कल्पनामात्र है क्योंकि कहीं भी ऐसा उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता है जिसमें ईश्वर को उपाधि से युक्त कहा गया हो। यहां एक बात और स्पष्ट कर दी गई है कि ईश्वर जीवात्माओं से भिन्न शक्ति है। इस कथन का कारण बतलाते हुए सूत्रकार लिखता है—"तत्र निरतिशयंसर्वज्ञबीजफलम्॥[६] अर्थात् उस ईश्वर में सबसे अधिक ज्ञान होने के कारण वह सर्वज्ञता का बीज रूप है। यहां निरतिशय शब्द से तात्पर्य है जो अतिशय भाव से निकला हुआ है[७]। तथा "सर्वज्ञबीजम्" का अर्थ है सर्वज्ञता का जो मूल कारण है। ज्ञान की जहां पराकाष्ठा है[८]। संसार के अन्दर कोई कम जानता है कोई बहुत जानता है परन्तु ईश्वर सब को जानता है। वह ईश्वर सर्वज्ञ होने के

१—योग० १।२३।

२—प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्॥ वहीं, व्यास भाष्य, पृ० ५८।

३—तत्र भक्ति विशेषो विशिष्टमुपासनं सर्व क्रियाणां तत्रार्पणम्॥ वहीं।

४—योग० १।२४।

५—पुरुषविशेषः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः। देखिये भोजवृत्ति, योग० पृ० ६३।

६—योग० १।२५।

७—कश्चित् कश्चिदेवातीतादि गृह्णाति कश्चिद्बहुतरं, कश्चित् बहुतममिति ग्राह्यापेक्षया ग्रहणेऽल्पत्वं बहुत्वं कृतम्—एतद्विवर्धमानं यत्र निष्क्रान्तमतिशयात् स सर्वज्ञ इति॥ वाचस्पतिमिश्र टीका० योग०, पृ० ३७।

८—यत्रकाष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः॥ देखिये वहीं व्यासभाष्य।

कारण सबका गुरु है। जितने ज्ञानी हुए हैं वे किसी न किसी समय में हुए है परन्तु ईश्वर हमेशा से है वह समय से बंधा हुआ नहीं है। ईश्वर के विषय में कोई समय की सीमा नहीं लगाई जा सकती क्योंकि वह अनादि शक्ति है। इसीलिए वह सबका गुरु है। इसी विषय को सूत्रकार स्पष्ट करता है—स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥[1] अर्थात् वह पूर्वोक्त सर्वज्ञ ईश्वर सबसे पूर्व विद्यमान रहने के कारण, समय की सीमा में न आने के कारण प्राचीन ज्ञानियों का भी गुरु है। इन दोनों सूत्रों से ईश्वर की सर्वज्ञता और जीवात्माओं की अल्पज्ञता भी लक्षित है। ऐसे सर्वज्ञ और सबके गुरु पुरुष विशेष ईश्वर का 'वाचक' शब्द बतलाते हुए सूत्रकार लिखता है—कि उसका वाचक शब्द 'प्रणव' (ओ३म्) है।[2] इस सूत्र पर वृत्ति लिखते हुए भोजदेव अर्थ स्पष्ट करते हैं कि—इस प्रकार उक्त स्वरूप वाले ईश्वर का कथन करने वाला ओंकार है, उन दोनों का वाच्य वाचक भाव लक्षण नित्य है[3]। ऐसे ओंकार का जप और उसके स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।[4] इसी भाव को निम्नलिखित सूत्र में स्पष्ट किया है—तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥[5] व्यास इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि प्रणव (ओंकार) का जप करना तथा प्रणव नाम वाले ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। प्रणव का जप करते हुए और उसके अर्थ का ध्यान करते हुए योगी को चित की एकाग्रता प्राप्त होती है।[6] योगदर्शन के अन्य दो सूत्रों में भी ईश्वर का उल्लेख है[7]। इन सूत्रों से स्पष्ट है कि योगदर्शन में ईश्वर को प्रकृति के बन्धन से रहित कर्मफल और वासनाओं से परे, सर्वज्ञ और सबके गुरु के रूप में स्वीकार किया गया है। वह ईश्वर प्रकृति और जीवात्माओं से भिन्न है। यही भिन्नता व्यास ने सूत्र (१।२४) का प्रकरण उठाते हुए कही है कि प्रकृति और पुरुष से भिन्न यह ईश्वर कौन है[8]? यह स्पष्ट है कि योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वार का स्वरूप अद्वैतवादियों के ईश्वर से सर्वथा भिन्न है।

(ख) जीवात्मा

इस दर्शन में जीवात्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है क्योंकि योग साधना की आवश्यकता जीवात्मा को ही है। योग

१—योग० १।२५।

२—तस्य वाचकः प्रणवः ॥ योग० १।२७।

३—इत्थमुक्त स्वरूपस्येश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेनेति नौति स्तौति वा प्रणव ओंकारः, तयोश्च वाच्यवाचक भावलक्षण सम्बन्धो नित्यः ॥ वहीं भोजवृत्ति, पृ० ७३।

४—योग० १।१८।

५—प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रंसम्पद्यते ॥ योग० व्यासभाष्य, पृ० ७३।

६—देखिये—तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः। वहीं २।१। तथा—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ वहीं २।४५।

७—अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरोनामेति ॥ वहीं व्यासभाष्य, पृ० ५८ ॥

८—योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ वहीं २।२८।

के अंगों के अनुष्ठान द्वारा जीवात्मा की अशुद्धिक्षय (अविद्या की निवृत्ति) होने पर उसे यथार्थ ज्ञान का प्रकाश होता है और यह ज्ञान विवेक प्राप्ति तक बढ़ता रहता है[1]। योग के आठ अंगों[2] को जीवात्मा अपना कर समाधिलाभ प्राप्त करता है। यह जीवात्मा अविद्याग्रस्त हो जाता है उसे ही उस अविद्या को दूर करने की आवश्यकता होती है। योग के द्वारा उसे विवेक होता है तथा योग के द्वारा ही जीवात्मा के चित्त की वृतियों का निरोध किया जाता है। योगदर्शन का प्रथम सूत्र इसी बात को कहकर जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार कर रहा है।[3] क्योंकि यह चित्त जीवात्मा का ही साधन है। जब चित की वृतियों का निरोध हो जाता है उस समय जीवात्मा की अवस्था को सूत्रकार कहता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥[4] महर्षि दयानन्दने इसका अर्थ किया है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। व्यास ने इसका अर्थ किया है तब द्रष्टा (जीव) की अपने चेतन रूप में अवस्थिति हो जाती है[5] व्युत्थान दशा में उस जीवात्मा की जैसी चित्त की वृतिं होती है उसे वृत्तियों के समान ही उनका ज्ञान होता हैं।[6] समाधिपाद के वैराग्य विषयक सूत्रों में एक सूत्र[7] में देखे हुए और सुने हुए विषयों से वैराग्य होना लिखा है वहीं दूसरे सूत्र में गुणों मे वैराग्य होने की बात लिखी है—तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णं ॥[8] अर्थात् उस (पूर्वसूत्र वर्णित) वैराग्य के बाद पुरुषज्ञान होने पर तीन गुणों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है।

इसका अर्थ करते हुए व्यास लिखते हैं—देखे और हुए सुने हुए विषयों में दोष देखने वाला विरक्त व्यक्ति पुरुष दर्शन के अभ्यास से अविद्या केदूर होने पर विवेक युक्त बुद्धि से व्यक्ताव्यक्त धर्म वाले गुणों से वैराग्यधारण कर लेता है।[9] उस सूत्र में पुरुष (जीवात्मा) के वैराग्य का ही वर्णन है। यहाँ जीवात्मा पांच प्रकार के क्लेशों में बद्ध हो जाता

१—यमनियमासनप्राणायामप्रत्यहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टांगानि ॥ वहीं २।२९।

२—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ यो० १।१।

३—वहीं १।२।

४— सत्यार्थ प्रकाश (नवम समुल्लास) पृ० ३४०

५— देखिये -स्वरूप प्रतिष्ठा तदानी चितशक्तिर्यथा केवल्ये वहीं व्यासभाष्य, पृ० ११। तथा द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिनकाले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति ॥वहीं भोजवृत्ति।

६—वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ योग० १।४।

७—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञावैराग्यम ॥ वहीं १। १५।

८—वहीं १।१६ ॥

९—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शीविरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित बुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्त धर्मकभ्यो विरक्तइति ॥ योग० व्यासभाष्य, पृ० ३७।

है।[१] जीवात्मा कर्मफल के चक्र में जाता रहता है। इन्हीं कर्मों के परिणाम स्वरूप जीवात्मा जाति, आयु और भोगों को प्राप्त करता रहता है।[२] पुरुष (जीवात्मा) को अपरिणामी बतलाते हुए कहा है कि चित्तवृत्तियों के स्वामी जीवात्मा को चित्तवृत्तियां ज्ञात रहती हैं क्योंकि पुरुष परिणामी नहीं है।[३] इस प्रकार इस दर्शन में 'जीवात्मा सम्बन्धी विषय की प्रधानता है। क्योंकि यह योगप्रक्रिया जीवात्मा के लिये ही है वही साधक है। समाधि और वैराग्य के उपाय उसीके लिए ही है उसे ही साधना में विभूतियां प्राप्त होती हैं। आठ अंगों का अनुष्ठान उसी के लिए है।

ग) प्रकृति

योगदर्शन में 'अलिंग' शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हैं। सूक्ष्म विषयों में प्रकृति को अतिसूक्ष्म स्वीकार करते हुए सूत्रकार लिखता है—

सूक्ष्मविषयत्वंचालिंग पर्यवसानम् ॥[४] अर्थात सूक्ष्म विषय अलिंग (प्रकृति) तक हैं। व्यास इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं कि इस सूत्र के द्वारा 'प्रकृति में अतिसूक्ष्मता का व्याख्यान किया गया है।[५] इस सूत्र पर भोजदेव ने वृत्ति लिखी है जिसका अभिप्राय यह है —'जो किसी में लय नहीं होता, वह प्रधान (प्रकृति है) उस अलिंग तक सूक्ष्म विषयतत्व माना जाता है।[६] वाचस्पति मिश्र ने भी अलिंग शब्द का अर्थ प्रकृति किया है।[७] अपने कारण में लीन होने वाला लिंग जगत् तथा अलिंग प्रकृति ये गुणों के अवस्थाभेद हैं, इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखता है, विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानिगुनपर्वाणि ॥[८] अर्थात् विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग ये गुणों के ही अवस्था भेद हैं। भोजदेव ने इस सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'महाभूत और इन्द्रियां विशेष हैं। तन्मात्रा और अन्तःकरण अविशेष हैं। लिंग मात्र बुद्धि है और अलिंग प्रकृति है, ये चारों, गुणों (सत्व रज और तम) के अवस्था भेद हैं।[९]

१—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशः ॥ वहीं २।३।

२—सतिमूलेतद्विपाकोजात्यायुर्भोगः ॥ वहीं २।१३।

३—सदाज्ञातश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ वहीं ४।१८।

४—योग० १।४५।

५—अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ योग०व्यासभाष्य, पृ० ११५।

६—लयं गच्छति तल्लिंगा न लयं गच्छति तदलिंगम् न क्वचिल्लीयते — इत्यलिंग प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् ॥ देखिये वहीं भोज वृत्ति, पृ० ११६।

७—अलिंगम् प्रधानं तद्धि न क्वचिल्लयं गच्छति। वहीं वाचस्पति मिश्रटीका, पृ० ६२।

८—योग० २।१९।

९—गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति। विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि, लिंगमात्रं बुद्धिः अलिंगमव्यक्तमित्युक्तम् ॥ वहीं भोज वृत्ति, पृ० १६४।

योगदर्शन में भी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को माना गया है। प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति में लीन हो जाता है। परन्तु प्रकृति का कोई उपादान कारण नहीं है अतः वह किसी उपादान कारण में लीन नहीं होती अतः उसे इन सूत्रों में अलिंग कहा है।

(घ) सांख्य और योग में सिद्धान्तसाम्य

सांख्या	योग
१—सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है और उस सर्वोच्च सत्ता के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग है।	१—योग में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है और वहां भी ईश्वर शब्द का ही प्रयोग है।
२—सांख्य में पुरुष शब्द का प्रयोग जीवात्मा के लिये हुआ है।	२—योगदर्शन में भी पुरुष शब्द जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है।
३—सांख्य में परिणामिनी प्रकृति का वर्णन है।	३—योग में भी अलिंग शब्द से प्रकृति का वर्णन है।
४—सांख्य में जीवात्मा का बन्धन प्रकृति को माना है और उसका हेतु अविद्या को बतलाया है। ज्ञान से मुक्ति मानी है।	४—योग में भी जीवात्मा का बन्धन प्रकृति को बतलाया गया है और उसका कारण भी अविद्या है तथा विवेकख्याति से मुक्ति मानी गई है।
५—सांख्य में कैवल्य मुक्ति का वर्णन है।	५—योग में भी कैवल्य मुक्ति का वर्णन है।
६—सांख्य में चेतन तत्व को अपरिणामी माना है।	६—योग में भी चेतन तत्व को अपरिणामी माना है।

इसीलिए गीता में कहा है—सांख्य और योग को अलग अलग कहने वाले बालक (अबोध) हैं। जो सांख्य से मिलता है[1] सांख्य और योग की परस्पर समानता के लिये श्री रामशंकर भट्टाचार्य द्वारा लिखित पातंजल योगदर्शन की भूमिका देखने योग्य है। वहां वे लिखते हैं कि कपिल सांख्य विद्या का और उसके बाद योग्य विद्या का आदिम प्रवक्ता है[2] वहां पर आगे वे लिखते हैं कि सांख्य और योग्य परस्पर पूरक हैं[3]।

(ङ) निष्कर्ष

पातंजल योग दर्शन में त्रैतवाद के अन्वेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है। योग दर्शन में ईश्वर विषयक मान्यता वेदानुकूल आस्तिक परम्परा से सम्बन्ध रखती है। अद्वैतप्रतिपादित ईश्वर का यहाँ संकेत भी नहीं है। ईश्वर को सर्वज्ञ, अतएव अविद्या से रहित स्वीकार किया गया है। वह ईश्वर जीवात्मा के लिए अर्थ सहित व

१—सांख्य योगोपृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ गीता० ५।४।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥ वहीं ५।५।

२—परमर्षि कपिलः सांख्य विद्यायास्तदनुगत योगविद्यायाश्चआदिमः प्रवक्तेति शिष्टपरम्परा सुप्रसिद्धिः ॥
देखिये—सम्पादक श्रीरामशंकर भट्टाचार्य, योग० की भूमिका, पृ० १।

३—अतः सांख्ययोगौ परस्परपूरकाविति कथमितुं शक्यते ॥ वहीं पृ० २।

जप और ध्यान करने योग्य है उसका वाचक ओ३म् शब्द है। यहाँ पुरुष शब्द केवल जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है। जीवात्मा, शरीरी, अविद्याग्रस्त और कर्मफल के चक्र में पड़ा हुआ बतलाया गया है। समाधि के द्वारा वह कैवल्य को प्राप्त करता है। प्रकृति नित्य तथा परिणामवाली है। प्रकृति स्वयं कार्य जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति का कोई उपादान कारण नहीं। ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता योग दर्शन में स्वीकार की गई है अतः यहाँ स्पष्ट रूप से त्रैतवाद परम्परा का निर्वाह हुआ है।

न्यायदर्शन

(क) ईश्वर

न्यायदर्शन के सूत्र में ईश्वर को जीवात्मा के कर्मफल का देने वाला बतलाते हुए कहा है कि—पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार कर्मफल को प्राप्त करता हुआ नहीं देखा जाता है अतः सिद्ध है कि ईश्वर इस सृष्टि का कारण है और कर्मफल उसी के अधीन है[1]। वात्स्याय ने इस सूत्र का यही अर्थ स्वीकार किया है[2]। न्यायसूत्र (४।१।२१) पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने प्रकरण वश ईश्वर को गुणविशिष्ट जीवात्मा से भिन्न शक्ति बतलाया है।[3] श्रीविश्वनाथ भट्टाचार्य ने भी वात्स्यायन के इस भाष्य पर वृत्ति लिखते हुए लिखा है—नित्य, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सामान्यगुण और संयोगादि गुणों से विशेष जीवों से भिन्न, आराधनीय, सृष्टिकर्ता, वेद द्वारा हिताहित उपदेशक, जगत् का पिता (ईश्वर) है[4]। इस प्रकार न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता को सृष्टिकर्ता और कर्मफल प्रदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। तथा जीवात्माओं से उसे भिन्न माना गया है।

(ख) जीवात्मा

न्याय दर्शन के सूत्र (१।१।६) में आत्मा को प्रमेय बतलाकर आत्मा के अनुमापक गुणों का वर्णन करते हुए सूत्रकार लिखता है—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, ये आत्मा के अनुमापक हैं।[5] न्याय दर्शन में जीवात्मा का विस्तृत वर्णन है।[6] जीवात्मा को इन्द्रियों से भिन्न बतलाते हुए कहा है कि जिस विषय को हम आँख से देखते हैं उसी को त्वचा से स्पर्श करते हैं। एक अर्थ में दोनों इन्द्रियों की प्रवृत्ति यह सिद्ध करती है कि चेतन (जीवात्मा)

१—ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्यदर्शनात्॥ न्याय० ४।१।१६।

२—पुरुषोऽयंसमीहमानो नाबश्यं समीहाफलमाप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति। यदधीनं स ईश्वरः॥ तस्मादीश्वरः कारणमिति॥ वात्स्यायनभाष्य, न्याय०, पृ० २६०।

३—गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वर॥ वहीं, पृ० २६२।

४—गुणैर्नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नैः सामान्यगुणैश्च संयोषादिभिर्विष्टमान्तरं जीवेभ्यो भिन्न आत्माजगदाराध्यः सृष्टिचादिक्तातविद्वाराहिताहितोपदेशकोजगतः पितेति। बात्स्यायनभाष्य, न्याय०, पृ० २६२।

५—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति॥ न्याय० १।१।१०।

६—देखिये -न्याय० ३।१।१।—३।१।२५।

की शक्ति ऐसा करा रही है। अचेतन इन्द्रियाँ स्वयं ऐसा नहीं कर सकती।[1] देहात्मवादियों का खण्डन करते हुए लिखा है—मृत्यु के बाद शरीर को जलाने में कोई पाप नहीं होने से[2] सिद्ध है कि उस समय उसे कोई सुख-दुख नहीं हो रहा है लेकिन जब जीवात्मा शरीर में रहता है तो उसे कष्टादि होते हैं। और उस अवस्था में कोई उसे जलाता है तो पाप माना जाता है। देहात्मवादी यद्यपि पाप-पुण्य को नहीं मानते फिर भी वे लाभ-हानि को तो मानते हैं। बस उस शरीर के नाश होने से जो हानि होगी वहीं पाप है। निर्जीव शरीर को जलाने में कोई हानि नहीं मानता अतः सिद्ध है कि जीवात्मा शरीर से भिन्न चेतन सत्ता है। जिसके शरीर पर रहने पर शरीर को जलने में पाप या हानि मानी जाती है। जब जीवात्मा शरीर से निकल जाता है तब शरीर को जलाने में कोई पाप नहीं माना जाता अतः आत्मा सिद्ध है। देहात्मवादी इस पर शंका करते हैं कि जब जीवात्मा नित्य है तो जीवित अवस्था में भी जलाने में कोई पाप नहीं होना चाहिए इसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है—हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इन्द्रियों के वध को हिंसा कहते हैं।[3] यह हिंसा जीवित की मानी जाती है, निर्जीव शरीर की नहीं, अतः शरीर में चेतन जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। जीवात्मा को नित्य बतलाते हुए हेतु दिया है कि इस जन्म के हर्ष, भय, शोक जीवात्मा को पूर्वजन्म के अभ्यास से तथा स्मृति से इस जन्म में भी होते हैं।[4] अतः मृत्यु के समय जीवात्मा नहीं मरता जो जीवात्मा पूर्व जन्म में था वही अब भी है। बच्चे की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी पूर्व जन्म में इस प्रकार के अभ्यास की सूचक है।[5] अतः मृत्यु के समय जीवात्मा के न मरने से जीवात्मा नित्य तत्व है।

(ग) प्रकृति

अन्य दार्शनिकों ने जिस मूल उपादानकारण को प्रकृति कहा है उसी मूल उपादानकारण को न्याय दर्शन में परमाणु रूप में स्वीकार किया गया है। गौतम ने न्याय दर्शन में परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। परमाणु का लक्षण करते हुए सूत्रकार लिखता है —'जो त्रसरेणु या द्व्यणुक से परे अति सूक्ष्म है वह परमाणु है।[6] न्यायदर्शन में परमाणु को नित्य स्वीकार किया गया है। एक स्थान पर प्रतिवादी ने शब्द के नित्य होने में हेतु दिया है—शब्द का स्पर्श न होने से वह नित्य है।[7] इस हेतु का खण्डन करते हुए गौतम मुनि लिखते हैं कि यह हेतु व्यभिचारी है क्योंकि कर्म

१—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् ॥ वहीं ३।१।१।

२ – शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ वही १।१।४।

३—न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ न्याय० १।१।६।

४—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाजातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः ॥ वहीं ३।१।१९।

५—प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात् ॥ वहीं १।१।२२।

६—परं वा त्रुटेः ॥ न्याय० ४।२।१५।

७—अस्पर्शत्वात् ॥ न्याय० २।२।२२।

का भी स्पर्श नहीं होता परन्तु कर्म अनित्य है।[1] परमाणु का स्पर्श होता है परन्तु वह नित्य है।[2] इस प्रकरण में परमाणु को नित्य स्वीकार किया गया है न्याय दर्शन में अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन किया गया है। उस में बीज का दृष्टांत देते हुए कहा है—विनष्ट बीज से अंकुर पैदा नहीं होता[3]। अंकुर से पहले मूल बीज अवश्य होता है। वात्स्यायन भी इस (३।२।१७) सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—विनष्ट बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नही होता है[4]।

न्याय सांख्य की तरह सत्कार्यवाद को नहीं मानता अपितु बीज के उपमर्दन (विनाश) के पश्चात् एक नये पदार्थ अंकुर की उत्पत्ति मानता है। ऐसा दार्शनिकों का मत है। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो न्याय में उपमर्दन और प्रादुर्भाव का पौर्वापर्य क्रमनिर्देश है। इस कारण से अभाव से भाव की सिद्धि नहीं होती ऐसा सूत्रकार ने स्पष्ट किया है।[5] परमाणु के विभाग करते चलें तो एक अवस्था ऐसी आवश्य आवेगी जहाँ उसका विभाग नहीं होगा, वही परमाणु कहलायेगा। इस विभाग से अन्त में उसका अभाव नहीं होगा क्योंकि अणुभाव तत्व है[6]। इस प्रकार न्याय में परमाणु को मूल उपादान मानते हुए उसे भाव रूप में नित्य स्वीकार किया गया है।

(घ) निष्कर्ष

न्याय दर्शन में त्रैतवाद के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। वह परमाणुओं से जो कि नित्य मूल उपादान हैं, उनसे सृष्टि बनाता है अतः वह सृष्टि का निमित्तकारण है। वही जीवों के कर्मों का फल देने वाला है। वह जीवात्माओं से भिन्न है। जीवात्मा शरीर और इन्द्रियों से भिन्न चेतन सत्ता है। देहान्त के समय यह मरता नहीं है। अपने कर्मों से नये शरीर को धारण करता है अतएव वह नित्य है। ईश्वर, जीवात्मा और परमाणु ये तीनों स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं तथा परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर जीव और मूल उपादान परमाणुओं को नित्य माना जाने के कारण न्याय में त्रैतवाद की सत्ता विद्यमान है। भाई परमानन्द लिखते हैं न्याय और योग दर्शन तीन अन्तिम तत्वों को स्वीकार करते हैं—प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म। प्रकृत्ति जड़ रूप है। जीवात्मा अल्पज्ञ है, पुण्य पाप करने वाला और फल भोगने वाला है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, इन सबको रचने वाला और चलाने वाला है।[7]

१—न कर्मानित्यवात् ॥ न्याय० २।२।२३।
२—नाणुनित्यत्वात् ॥ न्याय० २।२।२४।
३—न विनष्टेभ्यो निष्पत्तेः ॥ न्याय०३।२।१७।
४—न विनष्टाद्बीजादंकुर उत्पद्यत इति। तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति ॥ न्याय वात्स्यायन भाष्य, पृ० २८६।
५—क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ न्याय ३।२।१८।
६—न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ न्याय० ४।२।१४।
७—भाई परमानन्द, मेरे अन्त समय का आश्रय, पृ० ५०।

४—वैशेषिक दर्शन

क) ईश्वर

वैशेषिक दर्शन में धर्म के विषय में वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। एक सूत्र में प्रमाण मानने का हेतु यह दिया है—वह ईश्वर का वचन होने से प्रमाण है[1]। इस सूत्र (१।१।३) में कुछ भाष्यकार 'तद्वचनात्' शब्द का धर्म का वचन होने से[2] यह अर्थ करते हैं। यदि यह (धर्म का वचन होने से) हेतु ही वेद के प्रमाण में हेतु है तब तो यह हेतु अन्य धार्मिक पुस्तक के प्रमाण बनने में भी हेतु बन सकता है तब वेद को ही प्रामाणिक क्यों माना जा रहा है। इनका उत्तर इस प्रकार के भाष्यकारों के पास नहीं है। वे तर्क देते हैं कि पूर्व दो सूत्र[3] धर्म विषयक हैं अतः इस सूत्र में भी 'तत्' शब्द धर्म के विषय में प्रयुक्त है। परन्तु ऋषि धर्म के विषय में वेद की प्रामाणिकता का विशेष हेतु यह दे रहा है—क्योंकि वेद ईश्वर के वचन हैं अतः उसकी प्रामाणिकता महत्व रखती है। शंकर मिश्र ने इस सूत्र के भाष्य में 'तत्' शब्द के ईश्वर और धर्म दोनों अर्थ स्वीकार किय हैं[4]। जयनारायण तर्कपंचानन भट्टाचार्य ने 'तत्' शब्द का अर्थ ईश्वर ही किया है। उन्होंने लिखा है कि ईश्वर का वचन होने के कारण वेद का प्रमाण अवश्य स्वीकार करना चाहिए। तत् पद यहाँ ईश्वर वाचक ही है क्योंकि ब्रह्म के लिए 'ओम्' 'तत्' और 'सत्' ये तीन निर्देश मिलते हैं, इसलिए नित्य, सर्वज्ञ, निर्दोष पुरुष के द्वारा बने होने के कारण वेद का प्रमाण अवश्य स्वीकार करना चाहिए[5]। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अन्य सूत्र (२।१।१८) में भी ईश्वर का संकेत है। वहाँ वायु का लक्षण करते हुए कहा है वायु शब्द का प्रयोग (इस द्रव्य विशेष) वायु के लिए वेद के प्रमाण से सिद्ध है[6]। इस प्रकार का नामकरण ही हम से विशिष्ट (परमेश्वर और योगी) आदि के अनुमान में हेतु हैं।[7] शंकर मिश्र इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं नाम और पृथ्वी आदि कार्य ये दोनों ही हम से विशेष ईश्वर और महर्षियों की सत्ता के

१—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ वैशे० १।१।३।

२—देखिये—श्री नारायण मिश्र की हिन्दी टीका, वहीं पृ० १

३—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ वहीं १।१।१।

४—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः ॥ वहीं १।१।२।

५—तेनेश्वरेणवचनात्कथनादानमायस्य वेदस्य प्रामाण्यमवश्यं स्वीकार्यमित्यर्थः ॥ ईश्वर वाचक मेवात्रतत्पदम्। 'ओं तत्सदिति निर्देशों ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः इति वचनात्। तथा च नित्यसर्वज्ञनिर्दोष पुरुषप्राणीतत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यमवश्यमेवाभ्युपेयमित्यर्थः ॥ वैशे० सूत्र विवृति, पृ० ८।

६—तस्मादागमिकम् ॥ वैशे० २।१।१७

७—संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥ वही २।१।१८।

अनुमापक हैं।[१] जयनारायण ने भी इस सूत्र का ईश्वर सम्बन्धी अर्थ किया है[२]। ईश्वर की सत्ता का समर्थन करने वाले सूत्रों में एक सूत्र यह भी है "सामयिकः शब्दार्थ प्रत्ययः।[३]" अर्थात् यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न संयोग है और न समवाय है तो किस सम्बन्ध से शब्द नियत अर्थ को प्रकट करता है उसके उत्तर में यह सूत्र लिखा है—

"शब्द ईश्वर से संकेतित अर्थ का बोध कराता है।" शंकरमिश्र ने इस सूत्र का अर्थ यह किया है 'जो शब्द जिस अर्थ में भगवान् ने संकेतित किया है वह उसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। शब्दार्थ से ईश्वर की इच्छा का ही सम्बन्ध है[४]। प्रशस्तदेव ने भी इस दर्शन का भाष्य करते हुए सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है[५]। चाहे इस दर्शन में 'ईश्वर' नाम से उसका निर्देश नहीं है फिर भी वेद का प्रमाण मानने वाला यह दर्शन ईश्वर को भी मानता है, क्योंकि वेद को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। साथ ही वेद में ईश्वर का विस्तृत वर्णन है। वेद के एक प्रमाण की स्वीकृति ही इस दर्शन की आस्तिकता का प्रमाण है।

(ख) जीवात्मा

वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा का विस्तार से वर्णन है। द्रव्यों की गणना में आत्मा की भी गणना की गई है[६]। वैशेषिक दर्शन के तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक और द्वितीय आह्निक में विस्तार से जीवात्मा का वर्णन है।[७] शरीर में आत्मा के अनुमापक हेतुओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहता है कि—प्राण, अपान, पलक खोलना, पलक बन्द करना, जीवन, मन और इन्द्रियों के विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये आत्मा के अनुमापक हेतु हैं।[८] आत्मा को नित्य बतलाते हुए सूत्रकार सूत्र[९] लिखता है कि—जैसे वायु परमाणु के अवयवों की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है, इसी प्रकार आत्मा भी नित्य है। वायु की तरह आत्मा भी द्रव्य है[१०]। वेद भी आत्मा के प्रमाण होने में प्रमाण

१—देखिये—संज्ञा नाम, कर्म कार्यं क्षित्यादि, तदुभयमस्मद्विशिष्टानामीश्वरमहर्षीणां सत्वेऽपि लिंगम्॥
वही उपस्कारभाष्य, पृ० ८४।

२—देखिये वही [विवृति भाष्य]

३—वैशे० ७।२।२०।

४—य शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवतासकेतितः स तमर्थं प्रतिपादयति। तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव संबन्धः स एव समयस्तदाधीन इत्यर्थः॥ वहीं उपस्कारभाष्य, पृ० २८५।

५—देखिये—ब्राह्मणमानेन से 'आत्मनस्तावन्तमेवकालम् तक प्रकरण। वहीं प्रशस्तपादभाष्य, (सृष्टि संहार प्रकरण) पृ० २६।

६—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि॥ वैशे० १।१।५।

७—देखिये—वैशे० ३।१।१-२० तथा ३।२।१-२१।

८—प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनोलिंगानि॥ वहीं ३।२।४।

९—तस्यद्रव्यत्वनित्यत्वेवायुनाव्याख्याते॥ वहीं ३।२।५।

१०—देखिये—यथा वायु परमाणोरवयवकल्पनायां न प्रमाणमतो नित्यत्वं तथात्मनोऽपि यथा गुणवत्वाद्वायुपरमाणुद्रव्यं तथात्मापीत्यर्थः॥ शंकरमिश्र उपस्कार भाष्य, वहीं पृ० १५५।

है[1]। केवल वेद ही प्रमाण नहीं अपितु 'अहम्' (मैं) यह पद सोद्देश्य प्रयुक्त है[2]। क्योंकि लोक में मैं पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं वायु हूँ, इत्यादि प्रयोग नहीं होते हैं। मैं प्रयोग जीवात्मा के लिए ही है। मैं यज्ञदत्त हूँ, यज्ञदत्त आता है इत्यादि औपचारिक प्रयोग शरीर के लिए हैं। 'अहम्' (मैं) शब्द जीवात्मा के लिए ही प्रयुक्त होता है शरीर के लिए नहीं क्योंकि सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष जीवात्मा ही करता है शरीर नहीं[3]।

आत्मा एक ही नहीं है, अनेक हैं क्योंकि कोई सुखी है कोई दुखी है। एक ही समय कोई मर रहा है, दूसरा जन्म ले रहा है इत्यादि व्यवस्था जीवात्माओं को अनेक सिद्ध करती है[4]। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आत्मा को नित्य तथा नाना मानना इस बात को सिद्ध करता है कि इस दर्शन में अद्वैतवाद का कोई संकेत नहीं है। इसके विपरीत एकात्मवाद का पूर्वपक्ष उठाकर[5] उसके विरोध में यह सिद्धान्तपक्ष में कहा है कि व्यवस्था से आत्मा बहुत हैं।

(ग) मूल उपादान परमाणु (प्रकृति)

वैशेषिक दर्शन में इस कार्य जगत् के परमाणु नित्य माने गये हैं और उन्हीं परमाणुओं को इस अचेतन जगत् का मूल उपादान माना गया है। मूल उपादानभूत परमाणु का अन्य कोई उपादान नहीं है, इसीलिए परमाणु नित्य हैं[6]। वैशेषिक सूत्र (४।१।१) पर भाष्य करते हुए चन्द्रकान्त भट्टाचार्य लिखते हैं—जो सत् बिना (उपादान) कारण के होता है, वह नित्य होता है। सत् का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है, वह रूपान्तर से अवस्थित रहता है[7]। उस उपादानभूत प माणु का अनुमापक उसका कार्य होता है अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान होता है[8]। यदि कारण का अभाव होता है तो कार्य का भी अभाव होता है[9]।। अतः कारण का अभाव नहीं है वह नित्यरूप में सदा विद्यमान रहता है क्योंकि कारण के भाव से ही कार्य का भाव होता है[10]।

१—तस्मादागमिकः ॥ वहीं ३।२।८।

२—अहमितिशब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ वैशे ३।२।९।

३—अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ वहीं ३।२।१६।

४—सुखदुःखज्ञाननिष्पत्तयविशेषादैकात्म्यम् ॥ वैशे० ३।२।१९।

५—व्यवस्थातो नाना। वहीं ३।२।२०।

६—सदकारणवन्नित्यम् ॥ वहीं ४।१।१।

७—देखिये—यत् सदकारणवच्चभवति तन्नित्यमाख्यायते। सद्धिनात्यन्तमच्छिद्यते रूपान्तरेणावस्थानात् ॥ वहीं पृ० १७२

८ तस्यकार्यं लिंगम् ॥ वही ४।१।२

९ कारणभावात्कार्याभावः ॥ वैशे० १।२।१।

१० कारणभावात् कार्यभावः वही ४।१।३।

वैशेषिक दर्शन में सांख्य के सत्कार्यवाद की तरह कार्य को कारण के सदृश सत्ता नही मानी जाती। उनका मत है कि कार्य कारण में असत् रूप में ही रहता है। उनका तात्पर्य यह है कि द्वयणुकभाव परमाणुओं में पहले नही था बाद में आया क्योंकि परमाणु निरवयव हैं। परन्तु वह मूल उपादान परमाणु नित्य है। उसके बिना कार्य जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अस्तु त्रैतवाद सिद्धान्त की इससे पुष्टि होती है क्योंकि उसमें भी अचेतन, नित्य, मूल उपादान कारण को स्वीकार किया गया है।

त्रैतवाद के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए प्रशस्तदेव सृष्टिसंहार प्रकरण में लिखते हैं--- सृष्टिकर्ता ब्रह्म के प्रमाण से सौ वर्ष के अन्त में सब प्राणियों के विश्रामार्थ सब जगत के स्वामी महेश्वर की इस सृष्टि को संहार करने की इच्छा के समय पूर्व-पूर्व महाभूत द्रव्य का विनाश हो जाता है, उसके बाद विभक्त हुए परमाणु स्थित रहते हैं, और धर्माधर्म नामक अदृष्ट संस्कार से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण जीवात्माएं प्रलय काल के समय में स्थित रहते हैं।[1] प्रशस्तदेव के अनुसार इस सृष्टि का संहार परमेश्वर करता है। प्रलयकाल में मूल उपादान परमाणु विद्यमान रहते हैं क्योंकि वे नित्य हैं। तथा नित्य जीवात्माएँ भी प्रलयकाल में वर्तमान रहते हैं तथा प्रलयकाल में भी तीनों की सत्ता विद्यमान रहती है।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं कि इस दर्शन में ईश्वर, जीव और उपादान कारण परमाणु को नित्य तथा अनादि स्वीकार किया गया है। ये तीनों तत्व पृथक्-पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी एक दूसरे सम्बन्धित हैं। अतः इस दर्शन से त्रैतवाद सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन होता है।

५ वेदान्तदर्शन

(क) ईश्वर

इस दर्शन का प्रारम्भ ही ब्रह्म जिज्ञासा से हुआ है।[2] ब्रह्म कैसा है? उत्तर दिया—जन्माद्यस्ययतः।[3] अर्थात् इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् से होते हैं वह ब्रह्म है।[4] दूसरा हेतु दिया है—(शास्त्रयोनित्वात)[5] अर्थात् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण होने से ब्रह्म है।[6] ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा—

१—देखिये—ब्राह्मेणमानेन वर्षशतान्ते—(से) आत्मनस्तावन्तमेव कालम् (तक प्रकरण) वहीं प्रशस्तपाद भाष्य (सृष्टिसंहार प्रकरण), पृ० २६।

२—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा॥ वेदान्त १।१।१।

३—वहीं १।१।२।

४—अस्य जगतो—जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेति वाक्य शेषः॥ देखिये ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, पृ० ३५।

५—वेदान्त १।१।३।

६—ऋग्वेदादेःशास्त्रस्य—योनिः कारणं ब्रह्म॥ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ४३।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।[1] अर्थात् अनेक वार (वेदान्त वाक्यों में)[2] कथन होने से (ब्रह्म) आनन्दमय है। तथा अन्य सूत्र में कहा है—अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ ३।२।१४ रूपादि आकार से रहित ही ब्रह्म समझना चाहिए क्योंकि सब श्रुतियों में उसके निराकार रूप की प्रधानता है[3]। उस ब्रह्म को जीवात्मा के कर्मों का फल देने वाला बतलाते हुए कहा है—(फलमत उपपत्तेः)[4] अर्थात् जीवात्मा के कर्मों का फल ब्रह्म देता है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं—उसी ब्रह्म का व्यावहारिक अवस्था में अन्य स्वभाव का वर्णन किया जाता है। उस विषय में प्रतिपादन करते हैं फल, अतः—ईश्वर से होना चाहिए, किस कारण से? उपपत्ति से (युक्ति से) वही सबका अध्यक्ष सृष्टि, स्थिति, संहार रूप विचित्र कार्यों को करता हुआ, देश काल विशेष का ज्ञाता होने के कारण कर्म करने वालों (जीवों) को कर्मानुरूप फल देता है।[5] इस सूत्र में 'अतः' पद का अर्थ आचार्य शंकर ने ईश्वर किया है जिसका कोई प्रमाण नहीं है। ब्रह्मसूत्र का प्रारम्भ ब्रह्म जिज्ञासा से हुआ है और उसी का विस्तार से वर्णन किया है। ब्रह्म के विषय में स्पष्ट कह दिया है। वह (अरूपदेव) निराकार ही है। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ जैसाकि आचार्य शंकर लेते हैं (ब्रह्म का—ईश्वर व्यावहारिक सोपाधिक भेद)[6] वैसा वेदान्त दर्शन में किसी भी सूत्र में वर्णित नहीं है। अद्वैतवाद में समष्टि अज्ञान से आवृत्त, ब्रह्म का रूप ईश्वर माना जाता है और निरुपाधिक रूप ब्रह्म माना जाता है। ईश्वर शब्द प्राचीन साहित्य में उस ब्रह्म के लिए ही आया है[7] जो कि इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाला है। ब्रह्म से अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना आचार्य शंकर की अपनी है। इस सूत्र का अद्वैतवादी अर्थ करना समीचीन नहीं है। यहाँ केवल इतनी बात कही है कि जीवात्मा के कर्मों का फल ब्रह्म देता है। ब्रह्म के वर्णन सम्बन्धी इन सूत्रों से आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद की सिद्धि की है और श्री रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में विशिष्टाद्वैत की सिद्धि की है। परन्तु सूत्रकार का उद्देश्य केवल ब्रह्म का वर्णन करना है। वह एक ऐसी सत्ता को मानता है जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है। जो सर्वज्ञ, आनन्दमय और निराकार है। वही ब्रह्म है। इन मूल सूत्रों में ब्रह्म का वर्णन त्रैतवाद के अनुकूल है।

१—वेदान्त १।१।१२।

२—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ तैत्तिरीय उ० २।७। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥
वहीं २।८।९। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥ वहीं ३।६। विज्ञानमानन्द ब्रह्म ॥ बृहदा० उ० ३।९।१८।

३—देखिये—रूपाद्याकार रहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं, न रूपादिमत्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात् ॥
(ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, पृ० ६१७)

४—वेदान्त ३।२।३८।

५—तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिकाम्—अवस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते।—तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति कुतः? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टि स्थिति संहारानविचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञात्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयत्युपपद्यते ॥ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ६४३।

६—एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति ॥ ब्रह्मसूत्र २।१।१४। शांकर भाष्य, पृ० ३७०।

७—देखिये—सांख्य ३,५६,५७। योग० १।२३,२४। न्याय० ४।१।१९ ॥ मार्कण्डेय पु० ४६।६।

(ख) जीवात्मा

प्रथमाध्याय के सूत्र (१।१।१२) में ब्रह्म को आनन्दमय कहा है। उस ब्रह्म से जीवात्मा की भिन्नता बतलाने के के लिए सूत्रकार लिखता है—नेतरो नुपपतेः[1] अर्थात् जीवात्मा आनन्दमय नहीं। इस सूत्र का आचार्य शंकर अर्थ करते हैं—ईश्वर से अन्य संसारी जीव आनन्दमय नहीं क्योंकि जीव आनन्दमय शब्द से अभिहित नहीं है। उसमें आनन्दमयत्व की उपपत्ति न होने से।[2] इन सूत्रों (१।१।१२ तथा १।१।१६) के भाष्य में आचार्य शंकर ने क्लिष्ट कल्पना की है। सूत्रों के भाष्य से पहले आनन्दमयाधिकरण में आचार्य शंकर लिखते हैं—ब्रह्म के दो रूप हैं, एक नामरूप, विकार और भेद की उपाधियों से युक्त और दूसरा उससे विपरीत सब उपाधियों से रहित[3]। अर्थात् ब्रह्म के दो रूप जाने जाते हैं एक उपाधि से युक्त और दूसरा उपाधि रहित। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के इस प्रकार के विभाग में उपनिषदों के कुछ प्रमाण दिये हैं। वे लिखते हैं—ये हजारों वाक्य विद्या और अविद्या भेद से ब्रह्म के दो रूप बतला रहे हैं।[4] परन्तु इन प्रमाणों से यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि विद्या और अविद्या भेद से ब्रह्म दो प्रकार का हो जाता है। सर्वज्ञ ब्रह्म अविद्या से प्रभावित होकर जीव बन जाता है। यह परस्पर विरोधी बातें हैं जो सर्वज्ञ है वह अविद्याग्रस्त कैसे हो सकता है ? क्या अविद्या इतनी बलवती है कि सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ब्रह्म को भी प्रभावित कर देती है। यह बात बौद्धिक स्तर पर जचती नहीं है। आचार्य शंकर द्वारा अपने समर्थन में दिये गये यही उदाहरण वस्तुतः जीवात्मा और ब्रह्म की पारमार्थिक भिन्नता ही सिद्ध करते हैं। इनमें कुछ उदाहरण तो ज्ञान की ऊँची और निम्न अवस्था का निर्देश करते हैं—यह जीवात्मा स्वल्पज्ञ होने के कारण अविद्याग्रस्त हो जाता है और अपनी जीवात्मा जाति को भूल जाता है। ज्ञान की ऊँची अवस्था में वह सबको अपना ही परिवार समझता है। वस्तुतः इन उपनिषद् वाक्यों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं :—

क—जहाँ दो का भाव सा रहता है वह एक दूसरे को अपने से पृथक् देखता है। परन्तु जब जीवात्मा ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब सब अपने आत्मा के समान प्रतीत होने लगते हैं तब अपने से पृथक् कौन किसको देखे। यहाँ जीवात्मा की अविद्या और विद्यावस्था का वर्णन है न कि ब्रह्म की अविद्यावस्था का।

१—वेदान्त १।१।१६।

२—इतश्चानन्दमयः परएवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। (ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, पृ० १०६।

३—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्॥ वही, पृ० ९९।

४) क—हि द्वैतमिवभवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूतत्वेन कं पश्येत्॥ बृहदा० ४।५।१५।

ख—यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ छान्दोग्य० ७।२४।१।

ग—नेति नेति (बृहदा २।३।६।

घ—अस्थूलमनणु, वहीं ३।८।८। इतिचैवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्राह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि देखिये—ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, पृ० ९९।

ख—जब अपने से पृथक् प्राणियों को न देखता है, न सुनता है, न जानता है उस अवस्था का नाम 'भूमा' है यही अवस्था अमृत को देने वाली है। जिस अवस्था में तेरा, मेरा, यह संकुचित भाव बना रहता है वह स्वल्प ज्ञान की अवस्था है इससे मृत्यु का बन्धन मिलता रहता है। यहाँ भी जीवात्मा की दो अवस्थाएं बतलाई हैं न कि ब्रह्म की।

ग—यह नहीं, यह नहीं। अर्थात् जगत् का कोई तत्व ब्रह्म नहीं। न जीवात्मा ही ब्रह्म है। इससे ब्रह्म की और जगत् की पारमर्थिक भिन्नता ही सिद्ध होती है।

घ – वह ब्रह्म न स्थूल है और न अणु है। परन्तु जीवात्मा को अणुरूप में माना जाता है। इससे भी दोनों की भिन्नता ही सिद्ध होती है। आचार्य शंकर यह सिद्ध नहीं कर सके और न ऐसा प्रमाण दे सके कि ब्रह्म भी अविद्या के बन्धन में पड़ जाता है।

'नेतरानुपतेः' सूत्र के शंकर भाष्य को यदि ध्यान से देखें तो उसमें भी उन्होंने खींचातानी की है। इस प्रकरण का अर्थ स्पष्ट है कि ब्रह्म आनन्दमय है, जीवात्मा आनन्दमय नहीं है। परन्तु आचार्य शंकर लिख रहे हैं की ईश्वर से अन्य जीवन आनन्दमय नहीं। यहां आचार्य शंकर ने ब्रह्म की जगह ईश्वर शब्द साभिप्राय रखा है। जो कि प्रसंगानुकूल नहीं है, प्रसंग ब्रह्म के आनन्दमय होने का चल रहा है, उसी से भिन्न जीव आनन्दमय नहीं है यह तो ठीक अर्थ था। परन्तु ईश्वर (अद्वैतवाद के मत में समष्टि अज्ञानावृत्तचैतन्य) से भिन्न जीव अर्थ करना यहां अप्रासंगिक है। आचार्य शंकर के इस आनन्दमयाधिकरण के भाष्य की श्रीरामानुजआचार्य ने अपने श्रीभाष्य में आलोचना की है, वे लिखते हैं—आनन्दवाला होता है ऐसा कहने पर जिस (ब्रह्म) के लाभ से जो आनन्दवाला होता है वह (जीवात्मा) वही (ब्रह्म) है ऐसा कौन समझदार कह सकता है[१]।

अस्तु, वेदान्त के सूत्र (१।१।१६) में जीवात्मा की जहां सत्ता सिद्ध होती है वह जीवात्मा और परमात्मा की स्पष्ट भिन्नता भी सिद्ध है। श्री रामानुज ने आनन्दाधिकरण के सूत्रों में ब्रह्म और जीव में पारमार्थिक भेद प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं—यही ब्रह्म जीवों को आनन्दित करता है। इसलिये जो आनन्दित होता है उस जीवात्मा से आनन्दित करने वाला परमात्मा अन्य है[२]।

जीवात्मा के लिये 'शारीरः' शब्द का प्रयोग करते हुए सूत्रकार लिखता है (अनुपपत्तेस्तु न शारीरः)[३] अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के गुणवाला नहीं है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए श्री रामानुज लिखते हैं—गुणों के सागर (परमात्मा) का पर्यालोचन करते हुए देखते हैं कि जुगनू के समान, शरीर के बन्धन से अपरिमित दुःखों से सम्बन्धित, बद्ध जीव

१—देखिये—आनन्दीभवतीत्युच्यमाने यल्लाभाद्य आनन्दीभवति स स एवेत्यनुन्मतः को ब्रवीति ॥

श्रीभाष्ये (आनन्दाधिकरण) वेदान्त० १।१।२०, पृ० ८५२।

२—एष ह्येवानन्दयतीति जीवानामानन्दहेतुरयं व्यपदिश्यते, अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानन्दयिताऽयमन्यः आनन्दमय परमात्मेति विज्ञायते ॥ श्रीभाष्य वेदान्त० १।१।१५।

३—वेदान्त० १।२।३।

और मुक्त जीव में परमात्मा के पूर्ववर्णित लेशमात्र गुण भी नहीं हैं[1]। आचार्य शंकर इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—पूर्वसूत्र के द्वारा ब्रह्म में विवक्षित गुणों की उत्पत्ति कही है। इस सूत्र में उन गुणों की जीवात्मा में अनुपपत्ति कही जाती है। जो शरीर में होता है वह शरीर कहाता है ईश्वर भी शरीर में होता है परन्तु शरीर ही नहीं होता, जीव तो शरीर ही होता है[2]। इस सूत्र के भाष्य में सूत्रकार के भाव को श्री रामानुज ने अधिक स्पष्टता से लिखा है। आचार्य शंकर स्वमताग्रह से भाष्य को स्पष्ट नहीं करते दीख पड़ते। पीछे से ब्रह्म का प्रकरण चल रहा है और इस सूत्र में जीवात्मा की उपास्यता का निषेध किया गया है। परन्तु आचार्य शंकर ईश्वर को अपने भाष्य में वैसे ही ले आये हैं और ईश्वर को भी शरीर में हुआ मान लिया है। क्योंकि ब्रह्म को ये निरुपाधिक मानते हैं और ईश्वर को सोपाधिक। ईश्वर का यहां प्रकरण अप्रासंगिक है। वस्तुतः यहां सूत्रकार का इतना ही अभिप्राय है कि ब्रह्म उपास्य है। जीवात्मा ब्रह्म की तरह उपास्य नहीं है क्योंकि ब्रह्म के गुण इसमें नहीं घटते हैं। यह जीवात्मा तो उपास्य है। ब्रह्म और जीवात्मा का उपास्य उपासक सम्बन्ध बतलाने के लिए इससे आगे सूत्रकार सूत्र लिखते हैं—कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च ॥[3] अर्थात् (उपासनारूपी) कर्म का कर्त्ता ऐसा उपदेश होने से (ब्रह्म ही उपास्य है) इसका अर्थ रामानुज कहते हैं कि—छान्दोग्य के वाक्य (यहां मरकर उसे प्राप्त करने वाला हूँ) में प्राप्यरूप में परंब्रह्म का उपदेश है और प्राप्तकर्त्ता के रूप में जीव का। अतः प्राप्ता जीव उपासक है और प्राप्य परंब्रह्म उपास्य है और वह प्राप्ता जीव से अन्य है[4] उपास्य उपासक रूप में यहां परमात्मा और जीवात्मा की भिन्नता स्पष्ट है। किसी को ब्रह्म और जीवात्मा की भिन्नता में सन्देह न रह जावे तदर्थ सूत्रकार सूत्र लिखते हैं—गुहां प्रविष्टावात्मानी हितद्दर्शनात् ॥[5] यह सूत्र कठोपनिषद के प्रकरण[6] से सम्बन्ध रखता है इसका अर्थ श्री रामानुज ने इस प्रकार किया है—

'प्राण और जीव अथवा बुद्धि और जीव गुहा में प्रविष्ट हुए ऋत को पीते हुए रहते हैं ऐसा (यहां) नहीं कहा है अपितु जीवात्मा और परमात्मा के विषय में ही कहा है, क्योंकि इस प्रकरण में जीवात्मा और परमात्मा के गुहा में प्रवेश

१—तमिमं गुणसागरं पर्यालोचयतां खद्योतकल्पस्य शरीरसम्बन्धनिबन्धापरिमित दुःखसम्बन्धयोग्यस्य बद्धमुक्तावस्थजीवस्य प्रस्तुत गुणलेशसम्बन्धगन्धोऽपि नोपपद्यते इति ॥ वेदान्त० श्रीभाष्य, पृ० ६५२।

२—पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शरीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते ॥—शरीर इति शरीरे भव इत्यर्थः। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्, शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति—जीवस्तु शरीर भवति। ब्रह्मसूत्र—शांकरभाष्य, १।२।३, पृ० १५३।

नोटः—शंकर ने यहां जीव शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया है, जिसका वेदादि शास्त्रों में प्रमाणअतु पलब्ध है। (लेखक)

३—वेदान्त० १।२।४।

४—एतमितः प्रेत्याभिसम्भविताता स्मीति (छा० ३।१४।४।) प्राप्यतया परंब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः अतः प्राप्ता जीव उपासकः, प्राप्यं परं ब्रह्मो पास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेदमिति विज्ञायते ॥ वेदान्त श्रीभाष्य (१।२।४,) पृ० ६५२

५—वेदान्त १।२।११।

६—कठ० १।३।१।

का उपदेश है। जीवात्मा को वेदान्त दर्शन में भी नित्य स्वीकार किया गया है। वहां कहा गया है—'आत्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति विषयक श्रुति नहीं है, उन श्रुतियों से जीवात्मा सिद्ध होता है।[1] जीवात्मा नित्य सिद्ध होता है[2]। आचार्य शंकर[3] तथा श्री रामानुज[4] ने भी जीवात्मा को नित्य स्वीकार किया है। जीवात्मा का परिमाण बतलाते हुए उसे वेदान्त दर्शन में कहा है—उत्क्रमण, गति और आगति (के श्रवण से जीवात्मा अणु है)'[5]। आचार्य शंकर भी वेदान्त दर्शन में जीव का अणुत्व स्वीकार किया है[6] परन्तु ये कार्योपाधि को जीव मानते हैं। किसी चेतन सत्ता को परिच्छिन्न या अणुरूप नहीं मानते। वस्तुतः इस शरीर से मृत्यु के समय चेतन जीवात्मा निकलता है, जाता है और फिर इस शरीर में आता है। यह क्रिया एकदेशी अणु जीवात्मा में ही हो सकती है। अनन्त सर्वव्यापक तत्व ब्रह्म में नहीं। अतः जीवात्मा अणुरूप है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में सूत्रकार जीवात्मा को नित्य, चेतन, अणु, उपासक और परमात्मा से भिन्न सत्ता मान रखा है।

(ग) प्रकृति

कार्य जगत् के निर्माण में दो कारण परमावश्यक हैं। एक निमित्तकारण और दूसरा उपादान कारण। कार्य जगत् की रचना में इन दोनों कारणों को वेदान्त दर्शन में स्वीकार किया गया है। इस विषय में दो सूत्र विचारणीय हैं—

१—जन्माद्यस्य यतः।[7] २—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्॥[8]

इनमें से वेदांत दर्शन का प्रथम सूत्र ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण बतला रहा है और दूसरा सूत्र प्रकृति को उपादानकारण बतला रहा है। प्रथम सूत्र में 'यतः' शब्द पंचमी में स्थित है। इस शब्द की उपादान संज्ञा पाणिनिसूत्र के (जनिकर्तुः प्रकृतिः)[9] से हुई है और अन्य सूत्र [उपादाने पंचमी][10] से पंचमी विभक्ति हुई है। अष्टाध्यायी के सूत्र [जनिकर्तुः प्रकृतिः] का अर्थ वृत्तिकार लिखते हैं—उत्पन्न हुए पदार्थ का जो हेतु है उसकी अपादान

१—न प्राणजीवी बुद्धिजीवी वा गुहाप्रविष्टो कृतं पिवन्तो इत्युच्येते अपितु जीवात्मपरमात्मानौ हि तथाव्यपदिश्येते, कुतः तद्दर्शनात् अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहा प्रवेश व्यपदेशो दृश्यते॥ वेदान्त १।२।११, श्रीभाष्य, पृ० ६६७

२—नात्माश्रुतेर्नित्यत्वात् ताभ्यः॥ वेदान्त २।३।१८।

३—देखिये—ब्रह्म सूत्र, वहीं शांकर भाष्य, पृ० ४६५।

४—देखिये वहीं श्रीभाष्य, पृ० १६६०।

५—उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्॥ वेदान्त २।३।१९।

६—तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति॥ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ५०१।

७—वेदान्त।१।१।२।

८—वेदान्त १।४।२३।

९—अष्टाध्यायी सूत्र १।४।३०।

१०—वहीं २।३।२८

संज्ञा है।[1] उत्पन्न हुए कार्य का हेतु उपादान भी कारण होता है और निमित्तकारण भी। वेदांत दर्शन के सूत्र (१।१।२) में 'यतः' शब्द में यदि उपादान कारण अर्थ में पंचमी मानें तो ब्रह्म के परिणामी होने का दोष आता है, अतः यहाँ पर निमित्तकारण अर्थ में ही पंचमी माननी चाहिए। लगभग वेदांत दर्शन के इसी सूत्र से मिलता हुआ उदाहरण सिद्धांत कौमुदी में (जनिकर्तुः प्रकृति सूत्र का)[2] दिया है :—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।[3] अर्थात् ब्रह्म से प्रजा उत्पन्न होती है। इस पर तत्व बोधिनी व्याख्याकार लिखता है कि ब्रह्मा हिरण्यगर्भ निमित्तकारण ही है उपादान कारण नहीं[4]। अतः यहाँ पर भी प्रथम सूत्र ब्रह्म को निमित्तकारण ही सिद्ध करता है। परन्तु केवल निमित्त कारण होने पर कार्य जगत् नहीं बन सकता अतः उपादान कारण प्रकृति भी माननी आवश्यक है अतः प्रकृति से सम्बन्धी दूसरा सूत्र (१।४।२३) लिखा जिस पर आचार्य शंकर भाष्य करते हुए लिखते हैं—कार्य जगत् सावयव, अचेतन और अशुद्ध दिखाई दे रहा है, कारण भी उसी प्रकार का होना चाहिए क्योंकि कार्य और कारण समान रूप वाले होते हैं। ब्रह्म इस प्रकार के लक्षणों वाला नहीं है। इसलिए ब्रह्म से अन्य उपादान कारण जो अशुद्ध आदि गुण वाला है स्मृतियों में प्रसिद्ध है। सृष्टि की उत्पत्ति केवल निमित्तमात्र ब्रह्म के होने पर ही नहीं हो सकती अतः यह मानना चाहिए कि प्रकृति उपादान कारण है और ब्रह्म निमित्तकारण है। केवल जगत् में निमित्तकारण से ही काम नहीं चलता है क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा और दृष्टांत श्रुतियों में नहीं मिलते हैं।[5] आचार्य शंकर ने यहाँ पर उपादान कारण से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है और वह उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न है ऐसा कहा है। यही त्रैतवादियों की दृष्टि में प्रकृति तत्व है जो कि उपादान कारण रूप में नित्य माना गया है। श्रीरामानुज ने भी इस सूत्र पर भाष्य करते हुए निमित्तकारण ब्रह्म और उपादान प्रकृति दोनों स्वीकार किये हैं। उन्होंने कहा है—निरीश्वरवादी सांख्य केवल प्रकृति को ही सृष्टि का कारण मानता है। इस सिद्धान्त का निषेध करके यहाँ सेश्वर सांख्य का वर्णन है। आगे वे भाष्य करते हुए लिखते हैं कि ब्रह्म निमित्तकारण ही है उपादान नहीं है, उपादान तो ब्रह्म से अधिष्ठित प्रधान (प्रकृति) ही है।[6] श्रीरामानुज ऐसा मानते हैं कि प्रकृति भी ब्रह्म का शरीर है इसलिए ब्रह्म ही निमित्तकारण है और

१—जायमानस्य हेतुरपादान स्यात्। सिद्धांतकौमुदी, पृ० १८५।

२—अष्टाध्यायी १।४।३०।

३—सिद्धान्तकौमुदी, कारक प्रकरण, पृ० १८५।

४—ब्रह्मा हिरण्यगर्भः स च हेतुरेव न तूपादानम्॥ वहीं, पृ० १८५

५—कार्यंवेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्, कार्यकारणयोः सारूपदर्शनात्। ब्रह्म च नैवंलक्षणमभवगम्यते, —परिशेष्याद् ब्राह्मणोऽन्यदुपानकारणमशुद्धयादि गुणकं स्मृति प्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्। प्रकृतिश्चोपादानकारण ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात् प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्॥ ब्रह्मसूत्र १।४।२३, शांकरभाष्य, पृ० ३२८

६—एवं निरीश्वर सांख्ये निरस्ते सति सेश्वर सांख्य प्रत्यवतिष्ठते। अतो ब्रह्म निमित्तकारणमेव नोपादानम्, उपादानं तु तदधिष्ठितं प्रधानमेव इत्येवं प्राप्ते अभिधीयते प्रकृतिश्चेति॥ श्री भाष्य, पृ० १३१४-१३१७॥

वही उपादान कारण है।[1] इस प्रकार कहने से भी प्रलयावस्था में ब्रह्म का चेतन रूप तथा उसके शरीर रूप में अचेतन रूप दोनों ही विद्यमान रहते हैं। जगत् के निर्माण में ब्रह्म का चेतनरूप निमित्तकारण है और अचेतन रूप उपादान कारण होता है। इस प्रकार कहने से भी यही तथ्य सम्मुख आता है कि प्रलय में ये आचार्य अचेतन मूल उपादानकारण को भी स्वीकार करते हैं। वास्तव में तो सूत्र में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। इस सृष्टि का निर्माण परमात्मा के निमित्तकारणत्व से तथा उपादानकारण (प्रकृति) के परिणाम से ही हुआ है। वहां कहा है—परमात्मा ने स्वयं कर्त्ता बनकर सृष्टि को बनाया। यह सृष्टि परमात्मा की कृति है।[2] वह स्वयं तो अपरिणामी है परन्तु स्वाश्रित प्रकृति में ब्रह्म स्वयं ही परिणाम पैदा करता है।[3] इस प्रकार वेदान्तदर्शन में चेतन ब्रह्म तत्व से अचेतन मूल उपादान की भिन्न सत्ता विद्यमान है जिसे वहां प्रकृति कहा है और उसे परिणामी तत्व स्वीकार किया है।

(घ) निष्कर्ष

वेदान्तदर्शन के सूत्रों के समीक्षण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है:—

वेदान्तदर्शन में ब्रह्म का प्रमुख वर्णन है। ब्रह्म सर्वशक्ति मान्, निराकारण, सर्वव्यापक, जीवात्माओं के कर्म का फलप्रदाता तथा इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाला है। जीवात्मा चेतन अनानन्दमय, निल्य, अणु उपासक और कर्मफलभोक्ता है। जीवात्मा और परमात्मा में उपासक और उपास्य तथा व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध है। जीवात्मा और ब्रह्म दोनों नित्य और भिन्न भिन्न सत्ताएं हैं। दोनों एक नहीं हैं। प्रकृति परिणामिनी है। वह सत्य और नित्य है। क्योंकि असत् से सत् की उत्पति नहीं होती है।[4] वेदान्तदर्शन की दृष्टि में ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है और प्रकृति उपादानकारण है। आचार्य शंकर प्रतिपादित ब्रह्म के दो भेद निरुपाधिक और सोपाधिक वेदान्त दर्शन के मूल सूत्रों में कहीं नहीं मिलते हैं। यह आचार्य शंकर की कल्पना है।

वस्तुतः प्रस्थानत्रयी का यह तीसरा ग्रन्थ है। इसी दर्शन में शंकर ने अद्वैत, श्रीरामानुज ने विशिष्टाद्वैत और मध्व ने द्वैत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। त्रैतवादियों ने इसी दर्शन में त्रैतवाद सिद्ध किया है। स्वामी दर्शनानन्द, तुलसीराम, आर्य मुनी, उदयवीर शास्त्री आदि त्रैतवादी विद्वानों ने इस दर्शन में त्रैतवादी का प्रतिपादन किया है।[5] मूल सूत्रों के समीक्षण से भी इस दर्शन में त्रैतवाद सिद्ध है।

१—देखिये—न निमित्तकारणमात्रं ब्रह्म उपादानकारणं च ब्रह्मैवेत्यर्थः॥ श्रीभाष्य- पृ० १३१७।

२—आत्मकृतेः॥ वेदान्त १।४।२६।

३—परिणामात्॥ वहीं १।४।२७।

४—नासतो दृष्टत्वात्॥ वेदान्त २।२।२६॥

५—देखिये इसी ग्रन्थ का पांचवां अध्याय।

(६) समन्वयात्मक दृष्टिकोण

आस्तिक दर्शन भाष्यकारों में विवाद के विषय रहे हैं। उनमें परस्पर मतभेद भी है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि सूत्र शैली में लिखे गये दर्शनों के सूत्रों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष में अन्तर स्पष्ट नहीं है। अतएव एक भाष्यकार जिसे पूर्वपक्ष मानता है दूसरा उसे ही सिद्धान्त पक्ष मानता है। इस प्रकार भाष्यकारों में मतभेद हो जाना स्वाभाविक है। भाष्यकारों ने सांख्य में सत्कार्यवाद और वैशेषिक में असत्कार्यवाद स्वीकार किया। सांख्य के गुणवाद तथा वैशेषिक के परमाणुवाद में भी अन्तर माना गया। कुछ भाष्यकारों ने सांख्य को निरीश्वरवादी माना तो कुछ ने उसे सेश्वरवादी स्वीकार किया। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्रों के भाष्य में सांख्य के साथ-साथ वैशेषिक और न्याय को भी नास्तिकदर्शन माना है।[१] मध्यकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टि कोण दर्शन शास्त्र में एक नवीन विचारधारा है।[२] स्वामी दयानन्द छहों वैदिक दर्शनों में मौलिक समन्वय को देखते हैं। उनके समन्वय का मुख्य आधार त्रैतवाद है। उनका कहना है कि षड्वैदिक दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) जीव व प्रकृति को अनादि मानते हैं।[३] सांख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में अनीश्वरवादिता का खण्डन करते उन्होंने लिखा है—जो कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं तथा मीमांसा का धर्म धर्मी से ईश्वर, वैशेषिक और न्याय भी आत्म शब्द से अनीश्वरवादी नहीं। क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और 'अतित सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।[४]

दयानन्द का षड्दर्शनों में समन्वय से तात्पर्य है कि ये छहों दर्शन एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न दृष्टकोण से वर्णन करते हैं। तात्विक दृष्टि से इनके मुख्य मुख्य सिद्धान्तों में आपस में कोई मतभेद नहीं है।[५] त्रैतवादी आचार्यों का षड्-दर्शनों के विषय में यह नवीन दृष्टिकोण है। मूल सूत्रों के विवेचन से यह सिद्ध हो ही चुका है कि ईश्वर, जीव और मूल उपादान के विषय में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त में एक जैसी मान्यता है ये दर्शन तीनों को नित्य स्वीकार करते हैं।

१—देखिये—शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र २।२।१२। पृ० ४१८-४२०।

२—डा० वेदप्रकाश गुप्त, दयानंद दर्शन, पृ० ५७।

३—वहीं, पृ० ५४।

४—महर्षि दयानंद, सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २५५।

५—डा० वेदप्रकाश गुप्त, दयानन्द दर्शन, पृ० ५५।

पंचमाध्याय

त्रैतवादी आचार्य और विद्वान (सम्वत् १९३९-२०३३)

१—महर्षि दयानन्द

त्रैतवादी विचारों की परम्परा वेदों से लेकर आस्तिक दर्शनों तक अविच्छिन्न रूप में चली आई। इसके बाद दर्शनिक सम्प्रदायों का युग आया। दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार प्राचीन साहित्य का भाष्य किया। लगभग त्रैतवादी विचारों के समीप ही विचारधारा रखने वाले परन्तु स्वरूप से भिन्न दार्शनिक आचार्य श्री रामानुज और श्री मध्वाचार्य भी प्रकाश में आये। तदुपरान्त क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के रूप में महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, उन्होंने मौलिक रूप से त्रैतवाद की घोषणा की तथा अपने दर्शन का आधार वेद से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त साहित्य माना।[1]

वेदों के भाष्य के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—इस वेद भाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्म से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि और मुनि हुए हैं उनकी जो व्याख्यारीति है उससे युक्त ही यह वेद भाष्य बनाया जायेगा[2]। महर्षि दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं, जिसे त्रैतवाद कहा जाता है। त्रैतवाद के अन्तर्गत महर्षि दयानन्द ईश्वर, जीव व प्रकृति तीन सत्ताओं को अनादि मानते हैं[3]। वेदों में महर्षि ने ब्रह्म का वर्णन मुख्य माना है।[4]

मध्ययुग से ही वेदों के विषय में यह धारणा चली आ रही है कि इनमें अनेक देवताओं की पूजा है, इससे ये बहुदेवतावादी ग्रन्थ हैं।[5] पश्चिमी विद्वानों ने इस विचारधारा का बहुत प्रचार किया। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने वेद में एकेश्वरवाद को स्वीकार किया। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रश्नोत्तर करते हुए लिखा है—

(प्रश्न)—"वेद में ईश्वर अनेक हैं" इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?

(उत्तर-महर्षि) नहीं मानते क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।[6]

१—सत्यार्थप्रकाश, पृ० ८२०।

२—दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २,। पृ० २६१।

३—डा० वेदप्रकाश गुप्त—दयानन्द दर्शन, पृ० ६।

४—अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ३१२।

५—राजकिशोर सिंह—वैदिक साहित्य का इतिहास पृ० ६६।

६—सत्यार्थप्रकाश पृ० १७४।

स्वामी जी लिखते हैं कि वेद में—"अग्न्यादि नामों से मुख्य अर्थ परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।[१]" स्वामी जी ने अपने कथनानुसार वेद भाष्य में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[२]। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर के सौ नामों की व्याख्या भी इसी उद्देश्य से की है।[३]

महर्षि वेद में जीवात्मा को 'मरणधर्मरहित' मानते हैं।[४] जीवात्मा के विषय में स्वामी जी लिखते हैं कि—अनादित्व से मृत्युधर्म रहित जीव मरणधर्मा शरीर के साथ एकस्थानी होता हुआ मरणस्वभाव वाले जगत् के बीच आचरण करता है।[५]

वेद में प्रकृति को अनादि स्वीकार करते हुए महर्षि लिखते हैं—"जीव परमात्मा और जगत् का कारण (प्रकृति) तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं।[६]

इन तीनों तत्वों में से परमेश्वर सबका आधार है तथा सर्वव्यापक है और सभी तत्व व्याप्य हैं[७]। इस प्रकार स्वामी जी वेद में त्रैतवाद को स्वीकार करते हैं।

महर्षि दयानन्द उपनिषदों में त्रैतवाद के पोषक हैं।[८] उनके विचार में उपनिषदों में ब्रह्म, जीव, प्रकृति इन तीनों के अनादित्व का वर्णन है।[९] ब्रह्म को उपनिषदों में 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप में अद्वितीय कहा है।[१०] आचार्य शंकर ने इस वाक्य का अर्थ ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है यह किया है,[११] परन्तु महर्षि दयानन्द ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्व अनेक हैं। उनसे भिन्नकर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा अद्वैत का अद्वितीय विशेषण है।[१२]

यहां महर्षि का तात्पर्य है कि वह ईश्वर एक ही है उस जैसा दूसरा नहीं है।

१—सत्यार्थ पृ० ५।

२—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः यजु० ३२।१। पृ० १०५४। इन्द्रमित्रंवरुणमग्निमाहुः। पृ०१।१६४।४६। पृ०८४५

३—सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास पृ० ११।

४—दयानन्द भाष्य ऋ० १।१६४।३८ पृ० ८४१।

५—दयानन्द भाष्य ऋ० १।१६४।३०। ८३७।

६—दयानन्द भाष्य ऋ० १।१६४।३०। पृ० ८३२।

—७दयानन्द भाष्य ऋ० १।१६४।३६। पृ० ४४१।

८—दयानन्द दर्शन, पृ० ३६। ९—वहीं।

१०—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य० ६।२।१।

११—देखिये—वहीं शंकर भाष्य।

१२—सत्यार्थ प्रकाश पृ० १६८।

उपनिषद में ब्रह्म सम्बन्धी वाक्य आता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[1] अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र ओत प्रोत है। अद्वैतवादी इस पद का अर्थ करते हैं कि यह सारा जगत ब्रह्म ही है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसके साथ 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह पद है जिसका स्वामी दयानन्द इस प्रकार अर्थ करते हैं—"हे जीव तू (सर्वव्यापक) ब्रह्म का उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है।[2]"

उपनिषदों के अनुसार[3] जीवात्मा को महर्षि ने परिच्छिन्न[4] तथा ब्रह्म से पृथक् माना है। उन्होंने जीवात्मा और ब्रह्म का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध स्वीकार किया है। प्रमाण में स्वामी जी शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग बृहदारण्यक की पंक्ति को रखते हैं[5] उसका अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं—"जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है उसको तू जान।[6]"

अद्वैतवादी बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य "अहं ब्रह्मास्मि[7]" का अर्थ "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा करते हैं। इससे यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म ही है। महर्षि दयानन्द इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करते हुए कहते हैं कि यहां पर तात्स्थ्योपाधि है, जैसे कोई कहे कि "मंचाः क्रोशन्ति" अर्थात् मचान पुकारते हैं। लेकिन मचान तो जड़ है, इनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं होता अतः इसका तात्पर्य हुआ कि मचान पर बैठे मनुष्य पुकारते हैं। ठीक इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। परन्तु इस पर नवीन वेदान्ती प्रश्न करते हैं कि ब्रह्मस्थ तो सारे ही पदार्थ है पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? महर्षि दयानन्द इसके उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ ही हैं तथापि ब्रह्म से जितनी अधिक साधर्म्यता जीव की है उतनी किसी की नहीं इससे जीव ब्रह्म अधिक निकटस्थ हैं। जीव मुक्ति में ब्रह्मज्ञानी होता है तथा ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। ऐसी अवस्था में स्थित जीव ही कहता है "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं ब्रह्म में स्थिर हूँ। आगे दयानन्द कहते कि इससे जीव और ब्रह्म एक

१—छान्दोग्य० उ० ३।१४।१।

२—सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१२।

३—श्वेता० उ० ५।६।

४—सत्यार्थ प्रकाश पृ० २६१।

५—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्मान्तर्याम्यमृत इति। शतपथ ३०।१४।६।८।१। पृ० १०७८।

६—सत्यार्थप्रकाश पृ० २६३।

७—बृहदा० उ० १।४।१०।

नहीं[१]। "अयमात्मा ब्रह्म[२]" का अर्थ स्वामी जी अद्वैतवादियों की तरह जीवात्मा नहीं करते। इस वाक्य के विषय में लिखते हैं—समाधि अवस्था में जब योगी को परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तब वह कह सकता है कि जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है[३]। स्वामी जी का आशय यह है कि समाधि की गहरी अवस्था में जब योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उस समय की स्थिति के विषय में वह कहता है कि जिस आत्मा को मैं अनुभव कर रहा हूँ वही ब्रह्म है। यहां आत्मा शब्द ब्रह्म के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

अद्वैतवादी एक अन्य उपनिषद् वाक्य "तत्वमसि"[४] की व्याख्या में 'तू वह है' से 'तू ब्रह्म है' यह अर्थ लेकर सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म ही है। महर्षि दयानन्द यहां अद्वैतवादी से पूछते हैं कि तुम यहां तत् शब्द में ब्रह्म की अनुवृत्ति कहां से लाये ? महर्षि दयानन्द तत् शब्द का अर्थ निम्नप्रकार से लेते हैं—"जो वह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्य स्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेत केतो प्रिय पुत्र। (तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि) उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है।[५] इस प्रकार स्वामी जी ने ब्रह्म और जीव की एकता न मानकर भिन्नता ही स्वीकार की है।[६]

उपनिषद् के अनुसार महर्षि ने प्रकृति को अनादि मानते हुए लिखा है—जो जन्मरहित सत्व, रज तमोगुणरूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है[७]। स्वामी जी ने इस श्रुति में ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों को अजन्मा माना है।[८]

इस विवेचन से सिद्ध है कि महर्षि ने उपनिषदों में त्रैतवाद स्वीकार किया है।

स्वामी दयानन्द आस्तिक दर्शनों में समन्वय का प्रतिपादन करते हैं। समन्वय का मुख्य आधार त्रैतवाद है। उनका कहना है कि षड्वैदिक दर्शन ईश्वर, जीव व प्रकृति को अनादि मानते हैं।[९]

योग दर्शन के अनुसार[१०] महर्षि दयानन्द ईश्वर के विषय में लिखते हैं—"जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल,

---

१—सत्यार्थप्रकाश पृ० १९२-१९३।

२—माण्डूक्योपनिषद्, २।

३—सत्यार्थप्रकाश पृ० १९४।

४—छान्दोग्य० ६।८।६-७।

५—स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति। वहीं।

६—(प्रश्न) ब्रह्म और जीव जुदे हैं वा एक ? (उत्तर-महर्षि दयानन्द) अलग-अलग हैं। सत्यार्थप्रकाश पृ० २६१।

७—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः। श्वेता० उ० ४।५।

८—सत्यार्थप्रकाश पृ० २८४।

९—डा० वेद प्रकाश गुप्त—दयानन्द दर्शन पृ० ५६।

१०—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः। योग० १।२४।

इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है वह सब जीवों से विशेष ईश्वर कहाता है[1]। सांख्यदर्शन को स्वामी जी ईश्वरवादी दर्शन मानते हैं।" ईश्वरासिद्धेः[2] इस सांख्यसूत्र में स्वामी जी जगत् का उपादानरूपक ईश्वर असिद्ध मानते हैं न कि निमित्तकारण ईश्वर की असिद्धि। दर्शनों में ईश्वर तत्व के विषय में महर्षि के विचार ये हैं—जो कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं। तथा मीमांसा का धर्म धर्मी से ईश्वर। वैशेषिक और न्याय भी 'आत्म' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और "अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा" जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।[3]

जीवात्मा के विषय में महर्षि दयानन्द न्याय[4] और वैशेषिक[5] दर्शन के सूत्रों को प्रस्तुत करके यह लिखते हैं—दोनों सूत्रों में (इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा, वैर (प्रयत्न) पुरुषार्थ, बल (सुख) आनन्द (दुःख) विलाप, अप्रसन्नता (ज्ञान) विवेक, पहिचानना ये तुल्य हैं परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राण वायु को बाहर निकालना (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना (निमेष) आंख को मींचना, (उन्मेष) आंख को खोलना, (जीवन) प्राण का धारण करना (मन) निश्चयस्मरण और अहंकार, करना (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना (अन्तर्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादियुक्त होना, ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी।[6]

प्रकृति के विषय में महर्षि दयानन्द सांख्यसूत्र[7] के अनुसार लिखते हैं—"(सत्व) शुद्ध, (रजः) मध्य, (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है।[8]

वेद, उपनिषद् और दर्शनों के आधार पर महर्षि दयानन्द अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—अनादि पदार्थ तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का (उपादान) कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ है उनके गुण, कर्म और स्वभाव भी नित्य हैं।[9]

अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि महर्षि दयानन्द दार्शनिक क्षेत्र में युग निर्माता के रूप में प्रादुर्भूत हुए। इन्होंने अद्वैतवाद का प्रबल खण्डन करके त्रैतवाद की स्थापना की। महर्षि के त्रैतवाद की मान्यता श्रीरामानुज तथा

१—सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५४।
२—सांख्य १।५७।
३—सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५५।
४—न्याय० द० १।१।१०।
५—वैशे० द० ३।२।४।
६—सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६०।
७—सांख्य द० १।२६।
८—सत्यार्थप्रकाश पृ० २८४।
९—सत्यार्थप्रकाश पृ० ८२३।

मध्वाचार्य से विशिष्ट है। मौलिक अन्तर तो यही है कि उन दोनों आचार्यों ने अवतारवाद को भी स्वीकार किया है परन्तु महर्षि दयानन्द ईश्वर को केवल निराकार[1] मानते हैं। उन्होंने उसे अजन्मा तथा शरीर धारण न करने वाला स्वीकार किया है।[2] महर्षि ने जीवात्मा को ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ तथा नित्य स्वीकार किया है।[3] जीव और ईश्वर को स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न तथा व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न माना है।[4] जीवात्मा अविद्या से बन्धन में आता है[5]। तथा मुक्ति के समय सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेछा से विचरता है, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोगकर पुनः संसार में आता है[6]। यह जड़ जगत् प्रवाह से अनादि है।[7] इसका उपादान कारण भी जड़ तथा अनादि है ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण नहीं, केवल निमित्त कारण है।[8]

महर्षि दयानन्द के इन दार्शनिक विचारों ने अनेक आचार्यों, विद्वानों और दार्शनिकों को प्रभावित किया है। उनके पीछे त्रैतवादी दार्शनिकों की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है।

२—पं० भीमसेन शर्मा

इन्होंने ईश, केन, कठ और मुण्डकोपनिषद् पर भाष्य किया है। ये उपनिषदों में त्रैतवाद के समर्थक हैं।

कठोपनिषद्[9] के अनुसार इन्होंने ईश्वर को नित्य, चेतन, एक और सब जीवात्माओं को कर्मफल देने वाला माना है[10]। उसके समान कोई रूप नहीं, नेत्रों से उसे देखा नहीं जा सकता है,[11] उसका नाम ओम् है,[12] वह जगत् का निमित्तकारण है, वह कारणरूप प्रकृति को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर देता है।[13] उससे बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है।[14] वह अनादि और अनन्त है।[15]

जीवात्मा के विषय में कहा है—जीवात्मा न जन्म लेता है और न मरता है। यह अजन्मा है, नित्य है, मरते

१—सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४२।
२—सपर्यगाच्छुक्रमकायम्। यजु० ४०।८। सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४४।
३—सत्यार्थप्रकाश, पृ० ८२२।
४—वहीं पृ० ८२३।
५—वहीं।
६—वहीं।
७—वहीं।
८—सत्यार्थप्रकाश, पृ० २५५।
९—भीमसेन शर्मा भाष्य, कठोपनिषद, प्रकाशक देशोपकारक यन्त्रालय, इलाहाबाद। प्रथम संस्करण। सन् १८९०।
१०—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्। कठ ५।१३। पृ० १५५।
११—न सन्दशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। कठ० ६।९। पृ० १६६।
१२—ओमित्येतत्। कठ० २।१५। पृ० ७०।
१३—एकं रूपं बहुधा यः करोति। कठ० ५।१२। पृ० १५३। रूपम्-प्रकृतिरूपं कारणम्। देखिये वहीं पर भीमसेन शर्मा भाष्य
१४—पुरुषान्न परं किंचित्साकाष्ठा सा परागति। कठ० ३।११। पृ० १०४।
१५—अनाद्यनन्तम्। कठ० ३।१५। पृ० १११।

हुए शरीर में यह नहीं मरता है।[1] आत्मा को शरीररूपी रथ में यात्रा करने वाला माना है[2]। यह अंगुष्ठमात्र स्थान पर सदा प्राणियों के हृदय में रहता है। जीवात्मा अमृत तत्व है।[3]

ईश्वर और जीवात्मा दोनों भिन्न हैं, एक ही स्थान पर, एक ही समय में दोनों स्थित हैं। उनमें एक ईश्वर सर्वज्ञ है और दूसरा जीवात्मा अल्पज्ञ है।[4] एक महान्, विभु (व्यापक)[5] है। दूसरा शरीराभिमानी है, देही है।[6]

इनके अनुसार कठोपनिषद् में प्रकृति की अव्यक्त संज्ञा है[7]। यह जड़ जगत् का उपादान कारण है तथा त्रिगुणात्मका है।

इस प्रकार पं० भीमसेन शर्मा ने कठोपनिषद् में ईश्वर, जीव, और प्रकृति की परस्पर भिन्न तथा नित्य सत्ता स्वीकार की है। ईश्वर और जीव में पारमार्थिक भेद माना है। उन्होंने अपने भाष्य द्वारा इस उपनिषद् में त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्[8] में उन्होंने त्रैतवाद की ही पुष्टि की है।

पं० भीमसेन शर्मा के अनुसार मुण्डकोपनिषद् में ईश्वर नित्य, व्यापक,[9] दिव्य, अमूर्त, बाहर भीतर रमा हुआ और अजन्मा है।[10]

जीवात्मा का लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति है। ओ३म् के धनुष पर तीर के समान जीवात्मा को ब्रह्मरूपी लक्ष्य तक पहुँचना चाहिए।[11] मुण्डकोपनिषद्[12] में पं० भीमसेन ने 'अक्षर' का अर्थ प्रकृति किया है।[13]

१—कठ० २।१८। पृ० ४७।

२—आत्मानं रथिनं विद्धि। कठ० ३।३। पृ० ६३।

३—अमृतम्। कठ० ६।१७। पृ० १८०।

४—ऋतं पिवन्तो स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति कठ० ३। पृ० ८६। (छायातपौ) अल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यां तमः प्रकाशविव विलक्षणो भिन्नाविति। देखिये वहीं भाष्य पं० भीमसेन शर्मा।

५—महान्तंविभुम्। कठ० २।२२।

६—अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। कठ० ५।४।

७—महतः परमव्यक्तम्। कठ० ३।११। (अव्यक्तम्) प्रकृत्याख्यं जगतः कारणम्। देखिये वहीं भीमसेन भाष्य। तथा अव्यक्तातु परः पुरुषः। कठ० ६।८। (अव्यक्तात्) सर्वोपादानकारणात्। देखिये वहीं भीमसेन भाष्य।

८—पं० भीमसेन भाष्य मुण्डकोपनिषद्, प्रकाशक सरस्वती यन्त्रालय। इलाहाबाद। प्रथम संस्करण। सन् १८६१।

६—नित्यंविभुम्। मुण्डक० १।१।६। पृ० ६।

१०—दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्यभ्यन्तरो ह्यजः। वहीं २।१।२। पृ० ५३।

११—प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। वहीं २।२।४। पृ० ७६।

१२—वहीं २।१।१।

१३—अक्षर शब्दोऽत्र कारण रूपायाः प्रकृतेः पर्यायः। वहीं भीमसेन भाष्य पृ० ५१।

मुण्डकोपनिषद् में "त्रैतवाद के समर्थक महावाक्यद्वा सुपर्णाः" में शर्मा जी भी त्रैतवाद की पुष्टि करते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ में ये लिखते हैं जगत् में दो ही पदार्थ हैं जो भोक्ता, और भोग्य, जड़ और चेतन, पुरुष और प्रकृति नामों से कहे जाते हैं। उनमें चेतन के दो भेद हैं एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। जीवात्मा कर्मफलों को भोगता है तथा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ जीवात्मा के स्वरूप से सदा भिन्न रहता है।[1]

श्वेताश्वतरोपनिषद्[2] में पं० भीमसेन शर्मा जी त्रैतवाद का पूर्ण प्रतिपादन करते हुए त्रैतवाद समर्थक श्रुति[3] का अर्थ लिखते हैं—(जो ईश्वर) क्रिया गुण रहित बहुत असंख्य जीवों को एक ही अपने अधीन रखता है। जो प्रकृति रूप एक ही बीजनामक कारण को असंख्य प्रकार का कार्य रूप बनाता है।[4]

इसी प्रकार अन्य श्रुति[5] के अर्थ में लिखते हैं—उस ब्रह्म में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों ही भेद प्रलयकाल में भी रहते हैं।[6] इसी सन्दर्भ में लिखते हैं—जीव, ईश्वर, और प्रकृति ये तीनों ही अनादि हैं, यह वैदिक सिद्धांत है।[7]

श्वेताश्वतार की एक श्रुति[8] के अर्थ में पं० भीमसेन लिखते हैं जीव की अपेक्षा ईश्वर ज्ञानस्वरूप और ईश्वरापेक्षा से जीव अज्ञ है। ईश्वर स्वामी है। जीव मिल्कियत के अन्दर है। जीव, ईश्वर 'अज' अर्थात् अनादि है। कभी किसी से उत्पन्न नहीं हुए। भोक्ता जीव तथा अन्न भोग्य है। इन दोनों से मेल रखने वाली तीसरी प्रकृति अजा अर्थात् अनादि है।[9]

इन्होंने इन सभी स्थलो पर तीनों तत्वों को अनादि स्वीकार करके त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

१—भोक्ताभोग्यं, चेतनमृजड़ं, पुरुषाः प्रकृतिश्चेति ययोनाम्नी अभिधीयेते तत्र चेतनो द्वौ स्तो जीवात्मा परमात्मा च तौ द्वावप्यात्मानौ सहस्थिति प्रलयदशासु परिणताया वृक्षरूपायाः प्रकृतेजर्डस्याश्रयंकृत्वाऽवस्थितौ। वहीं ३।१।१। भीमसेन भाष्य पृ० ६५।

२—देखिये उपनिषद् समुच्चय। प्रकाशक चौधरी एण्ड सन्स बनारस। १ म संकरण, १९३३।

३—एकोवशीत्यादि। श्वेता० ६।१२।

४—निष्क्रियाणाम् क्रियारहितानां बहूनां जीवानां एकोवशी वशे स्थापयिता एकं बीजं प्रकृत्याख्यंकारणं यो बहुधा नाना कार्यरूपं करोति विस्तारयति। उपनिषत्समुच्चय पृ० ५०२।

५—तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठा अक्षरं च। श्वेता० १।७।

६—तस्मिन् ब्रह्मणि जीवेश्वरप्रकृतिभेदे नत्रयोऽत्रयवाऽप्रलयकालेऽपि भवन्ति। उपनिषत्समुच्चय पृ० ३४६।

७—जीव ईश्वरः प्रकृतिश्चेति त्रयमेतदनादीनोति वैदिकसिद्धान्तः। वहीं पृ० ३५१।

८—ज्ञाज्ञौ द्वावित्यादि। श्वेता० १।९। ९—उपनिषत्समुच्चय पृ० ३५१-३५२।

३—गुरुदत्त एम० ए०

गुरुदत्त के दार्शनिक लेखों का संग्रह "गुरुदत्त लेखावली"[१] के नाम से प्रकाशित है। इन्होंने अपने लेखों में त्रैतवाद का समर्थन किया है।

मुण्डकोपनिषद् की श्रुति के[२] भाष्य में इन्होंने लिखा है—जब आत्मदर्शी ज्योति स्वरूप, जगत् के रचयिता, सर्वव्यापक, सब विद्याओं के आदिमूल ब्रह्म का अनुभव कर लेता है तो वह सारे पुण्य और पापकर्मों को फेंक कर प्रकृति के सब दोषों से रहित हो जाता है और उसकी आत्मा एकतानता आ जाती है।[३]

यहां तीनों तत्वों का उल्लेख है। 'द्वा सुपर्णा' का अर्थ भी इन्होंने ईश्वर, जीव, और प्रकृति के अर्थ में किया है।[४]

ईश्वर से जगत् की रचना कैसे होती है—इसका उत्तर इन्होंने मुण्डकोपनिषद् की श्रुति[५] का प्रमाण देते हुए हुए दिया है—"जैसे मकड़ी अपने अचेतन तत्व से जाला बुनती है, उसी प्रकार अविनाशी परमात्मा अचेतन प्रकृति से जगत् को रचता है।[६] इस श्रुति में चेतन तत्व मकड़ी—और परमात्मा को निमित्तकारण माना गया है तथा अचेतन तत्व को उपादान कारण माना गया है। जीवात्मा को गुरुदत्त ने प्रश्नोपनिषद् की श्रुति[७] के अनुसार द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता और घ्राता कहा है[८] तथा यह भी स्पष्ट किया है कि ईश्वर और जीव दोनों ही समान वृक्ष (प्रकृति) में रहते हैं।[९] इन सन्दर्भों में गुरुदत्त के त्रैतवादी विचार स्पष्ट हैं।

४— स्वामी श्रद्धानन्द

इन्होंने मुक्ति सोपान[१०] नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें वेदमन्त्रों के व्याख्यान में त्रैतवाद को स्वीकार किया है।

ईश्वर के विषय में ईश्वर की स्तुति प्रकरण में कहा है—हे मनुष्यों के पालक, तुम मनुष्यों में पवित्रता उत्पन्न करते हो[११]। तुम सबके राजा, वरण करने योग्य परमात्मा हो[१२]। वह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्व का स्वामी और रक्षक है।[१३]

१—गुरुदत्त लेखावली, प्रकाशक आर्य पुस्तकालय लाहौर। प्रथम संस्करण १९१८।

२—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति। मुण्डक० ३।१।३।

३—गुरुदत्त लेखावली पृ० २३६।

४—वहीं पृ० ३३५।

५—मुण्डक० १।१।७।

६—वहीं पृ० २२८।

७—प्रश्न उ० ३।४।६।

८—प्रश्न उ० ३।४।६। पृ० १४५।

९—मुण्डक० ३।१।२। पृ० २३६।

१०—स्वामी श्रद्धानन्द, मुक्तिसोपान, प्रकाशक—आर्यकुमार सभा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८।

११—त्वं नृणां नृपते जायते शुचिः। ऋ० २।१।१। स्वामी श्रद्धानन्द भाष्य मुक्तिसोपान, पृ० ११।

१२—त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा। ऋ० २।२७।१० पृष्ठ २६।

१३—इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः। ऋ० १।१६४।२१। वहीं पृ० ३०।

जीवात्मा के विषय में कहा है—जीवात्मा उस परमेश्वर के अमृतरूप को देखते हैं।[१] यह जीवात्मा स्वल्पज्ञ है।[२] यह मरण धर्म रहित जीवात्मा मरण धर्म सहित शरीरादि के साथ एक स्थान वाला हो रहा है।[३]

प्रकृति के विषय में स्वामी जी लिखते हैं प्रकृतिरूपी वृक्ष पर इन्द्रियों के भोगरूपी मधु का पान करने वाले जीवात्मा रूपी सुन्दर पंखों से युक्त पक्षी स्थिर होते हैं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसके निर्मल फल को स्वादिष्ट कहते हैं तथा वह विषय भोगों में लिप्त न होने वाला, प्रत्युत इन्द्रियों से काम लेने वाला प्राणी नष्ट नहीं होता, परन्तु जो पुरुष सारे जगत् के पालक परमात्मा को नहीं जानता वही नष्ट होता है।[४] इन सन्दर्भों में स्वामी जी ने तीनों तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया है।

५—स्वामी दर्शनानन्द

स्वामी जी ने छः आस्तिक दर्शनों पर भाष्य किया है। उनका उपनिषदों पर भाष्य "उपनिषद्प्रकाश" के नाम से प्रकाशित है। आत्म शिक्षा आदि पुस्तकों की भी इन्होंने रचना की है। वेद (ऋ० १।१६४।२० में इन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को नित्य और अनादि स्वीकार किया है[५]।

कठोपनिषद[६] के भाष्य में स्वामी जी लिखते हैं—जीव और ब्रह्म में भेद है। ब्रह्म जीव के भीतर भी व्यापक है। वह आत्मा में रहने वाला परमात्मा है। स्वामी दर्शनानन्द की दृष्टि में तीन पदार्थ अनादि हैं—एक देखने वाला जीवात्मा, दूसरा जिसको वह देखता है अर्थात् ब्रह्म। जीव, ब्रह्म, और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं।[७]

स्वामी जी ने जहां जीव और ब्रह्म का भेद माना है वहां परमात्मा और प्रकृति के अन्तर को भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और परमात्मा निमित्त कारण है।[८]

मुण्डकोपनिषद्[९] के भाष्य में स्वामी जी ने त्रैतवाद की पुष्टि करते हुए लिखा है—इस शरीर अथवा प्रकृति में दो चैतन्य पक्षी अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रहते हैं जो सदा परस्पर मिले हुए हैं।[१०]

'ओम्' की व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने 'अ' का अर्थ ब्रह्म 'उ' का अर्थ जीव और 'म्' का अर्थ प्रकृति

१—यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। वहीं

२—न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। ऋ० १।१६४। ३७। वहीं पृ० १३।

३—ऋ० १।१६४।३८। मुक्तिसोमान, पृ० १३।

४—यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोनशयः पितरं न वेद॥
ऋ० १।१६४।२२। वहीं पृ० ३४।

५—देखिये—दर्शनानन्द भाष्य, वेदान्त दर्शन पृ० ६०।

६—कठ० ५।१२।

७—उपनिषद् प्रकाश पृ० १५६।

८—मुण्डकोपनिषद १।१।७। उपनिषद् प्रकाश पृ० ८।

९—मुण्डक० ३।१।१

१०—वहीं पृ० ५७।

किया है[1]। इस प्रकार स्वामी जी के भाष्यों से त्रैतवाद की ही पुष्टि होती है।

मनुस्मृति[2] में त्रैतवाद का प्रतिपादन करते हुए स्वामी दर्शनानन्द ईश्वर के विषय में लिखते हैं—इसके पश्चात् अव्यक्त और अचिन्त्य शक्ति रखने वाले और अन्धकार का नाश करने वाले परमेश्वर ने महत् तत्व, आकाश, वायु आदि तथा सांकल्पिक अर्थात् मां बाप के बिना उत्पन्न होने वाले लोगों को पैदा किया।[3]

वहीं जीवात्मा के विषय में लिखा है—मुक्तजीव इन्द्रियों से अलग, सूक्ष्म तथा स्वयं ही सांकल्पिक शरीरों में प्रविष्ट हुए।[4] जीवात्मा जब प्रगाढ़ निद्रा में अचिन्त्यदशा को प्राप्त हो जाता है तब इन्द्रियां और मन अपने कर्म से मुक्त हो जाते हैं[5]। वहीं प्रकृति के विषय में लिखते हैं—यह सब जगत् पहले प्रकृति की दशा में छिपा हुआ था और न तर्क से मालूम हो सकता था। स्वप्न की सी दशा में था। स्वामी जी ने मनुस्मृति में तीनों तत्वों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है।

न्याय दर्शन[6] में त्रैतवाद की सत्ता मानते हुए स्वामी जी ने अपने भाष्य में स्वीकार किया है कि ईश्वर जीवात्मा के कर्मों का फल देने वाला है।[7] जीवात्मा के अनुमापक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान हैं।[8] जीवात्मा नित्य तत्व है।[9] परमाणु इस जड़ जगत् के उपादान कारण हैं। प्रलय के समय जड़ जगत् इनमें ही लीन हो जाता है। परमाणुओं का अभाव नहीं होता,[10] परमाणु नित्य तत्व हैं।[1]

वेदान्त दर्शन में स्वामी दर्शनानन्द ने ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण[12] तथा आनन्दमय[13] स्वीकार किया है। जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।[14] जीवात्मा और ब्रह्म में यथार्थ भेद हैं अतः जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला[15] नित्य[16] तत्व है।

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।[17] इस प्रकार स्वामी जी ने वेदान्त दर्शन में भी त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

१—माण्डूक्य० ८। पृ० २८।

२—दर्शनानन्द भाष्य, मनुस्मृति, पुस्तकमन्दिर मथुरा, तृतीय संस्करण, सं० २०१६।

३—मनु० १।६। पृ० २।

४—१।५३। पृ० १४।

५—मनु० १।५। पृ० २।

६—दर्शनानन्द भाष्य, न्यायदर्शन, पुस्तक मन्दिर मथुरा।

७—न्याय० ४।१।१६। पृ० १८८।

८—वहीं १।१।१०। पृ० १५।

९—वहीं ३।१।१९। पृ० १३५।

१०—वहीं ४।२।१७। पृ० २०६।

११—वहीं २।२।२५। पृ० १०६।

१२—दर्शनानन्द भाष्य वेदान्तदर्शन १।१।२। पृ० ७।

१३—वहीं १।१।१२। पृ० ४७।

१४—वहीं १।१।१६। पृ० ७।

१५—वहीं १।१।२१। पृ० ५६।

१६—वहीं २।३।१७। पृ० २१६।

१७—वेदान्तदर्शन १।४।२३। पृ० २१८।

वैशेषिक दर्शन[1] में स्वामी जी ने तत्,[2] शब्द का ईश्वर अर्थ करते हुए[3] वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार किया है। वही जीवात्मा को सुखदुःखादि लक्षणों से युक्त,[4] नित्य तथा[5] अनेक[6] स्वीकार किया है।

वही लिखा है, परमाणु जड़ जगत् का उपादान कारण है तथा नित्य तत्व है।[7] इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी स्वामी जी ने त्रैतवाद की पुष्टि की है।

६—पंडित शिवशंकर

पं० शिवशंकर ने छान्दोग्योपनिषद् पर संस्कृत में भाष्य किया है[8]। इन्होंने वेद तत्व प्रकाश नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। उसमें ऋग्वेद के मन्त्र[9] का भाष्य करते हुए लिखा है—प्रकृति, जीव और ब्रह्म ये तीनों अक्षर हैं क्योंकि इनका विनाश नहीं होता।[10] ऋग्वेद के मन्त्र[11] में 'व्योमन्' शब्द का अर्थ इन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति किया है।[12] इन प्रमाणों से ये वेद में त्रैतवाद के समर्थक विद्वानों में गिने जाते हैं।

इन्होंने छान्दोग्योपनिषद में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का अस्तित्व स्वीकार किया है।

ईश्वर के विषय में पं० शिवशंकर लिखते हैं कि इस उपनिषद् के प्रारम्भ में[13] तथा अन्यत्र अठारह वार 'ओम्' शब्द का प्रयोग हुआ है[14] तथा तीनों स्थान पर ओंकार शब्द का प्रयोग है।[15] ये शब्द ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[16] इन्होंने यहाँ 'तत्वमसि' पद का अर्थ (तत्वम्-असि) ब्रह्म किया है।[17]

जीवात्मा के विषय में वहीं निजी भाष्य में कहा है—ऐसा होने पर जिस काल में यह जीवात्मा सुप्त, समस्त और सम्प्रसन्न होता है तब स्वप्न नहीं जानता। तब इन नाड़ियों में से पूरीतति नाम नाड़ी में प्रविष्ट रहता है।[18] मृत्यु के समय जब यह आत्मा शरीर से निकलता है तब, जब तक शरीर में रहता है तब तक सब को जानता है।[19]

१—दर्शनानन्द भाष्य, वैशेषिकदर्शन, देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली-६
२—वैशेषिक दर्शन १।१।३।
३—वहीं पृ० ४।
४—वहीं ३।२।४। पृ० १०८।
५—वहीं ३।२।५। पृ० ११०।
६—वहीं ३।२।२०। पृ० १२३।
७—वहीं ४।१।१। पृ० १२५।
८—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यम् प्रकाशक वैदिक यन्त्रालय अजमेर, तृतीय संस्करण सम्वत् १९९३ वि०।
९—पृ० १।१६४।३९।
१०—वेदतत्व प्रकाश पृ० ३।
११—ऋ० १।१६४।३९।
१२—वहीं पर।
१३—ओमित्येतदक्षरम्। छान्दोग्य० उ० १।१।१।
१४—पं० शिव शंकर भाष्य छा० उ० पृ० ४३।
१५—देखिये वहीं पर।
१६—ओमिति शब्दो ब्रह्मवाचकोऽस्ति। वहीं पृ० १७।
१७—वहीं पृ० ७८०।
१८—छा० उ० ८।६।३। भाष्य पं० शिवशंकर पृ० ९२३।
१९—वहीं ८।६।४। वहीं पृ० ९२४।

उसके बाद जब यह मूर्धा की नाड़ी से निकलता है तब अमृतत्व को पाता है। अन्य नाड़ियों से निकलता हुआ अमृतत्व को नहीं पाता।[1]

इन्होंने छान्दोग्योपनिषद में 'आदित्य' शब्द का प्रयोग[2] प्रकृति के अर्थ में स्वीकार किया है।[3]

'सत्य'[4] शब्द की व्याख्या में शिवशंकर तीनों तत्वों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[5] इस प्रकार इन्होंने इस उपनिषद में त्रैतवाद को स्वीकार किया है।

इन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् पर भी संस्कृत और हिन्दी में भाष्य किया है।[6] इस में भी इन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन तथा त्रैतवाद का मण्डन किया है।

ईश्वर के विषय में इस उपनिषद् के भाष्य में ये लिखते हैं 'निश्चय से यह सर्वव्यापी परमात्मा, सब पृथ्वी आदि एवं मनुष्यादि भूत कहे जाते हैं। उन सबों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला अधिष्ठाता और रक्षक है।[7]

वहीं जीवात्मा का वर्णन याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद में है। वहां कहा है सब कुछ जीवात्मा के प्रिय होता है, अतः आत्मा (जीवात्मा) को देखना चाहिये।[8] इस उपनिषद् में प्रकृति के लिए 'अश्व' शब्द का प्रयोग स्वीकार करते हुए इन्होंने लिखा है—'यहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वा प्रधान (प्रकृति) का नाम अश्व है।[9] इन्होंने तीनों तत्वों की सत्ता इस उपनिषद् में मानी है।

बृहदारण्यक के अभेद सूचक वाक्यों का अर्थ इन्होंने इस प्रकार किया है—

१—अयं आत्मा ब्रह्म (बृहदा० २।५।१९) यह आत्मा (ब्रह्म) महान् है।[10]

२—अहं ब्रह्मास्मि। (बृहदा० १।४।१०) ब्रह्म ने स्वयं को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ।[11]

७—नारायण स्वामी

उपनिषदों के भाष्यकार तथा मृत्यु और परलोक आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री नारायण स्वामी ने भी त्रैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। स्वामी जी की दृष्टि में वेद ईश्वर, जीव और प्रकृति की नित्यता का प्रतिपादन

१—छा० उ० ८।६।६। पं० शिवशंकर भाष्य। पृ० ६२७।
२—आदित्य एवोद् छा० उ० १।३।७।
३—वहीं पृ० १४३।
४—छा० उ० ८।३।५।
५—वहीं पृ० ६०६।
६—बृहदा० उ० पं० शिवशंकर भाष्य प्रकाशक वैदिक यन्त्रालय अजमेर प्रथम संस्करण, १९६८
७—स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा। बृहदा० उ० २।५।१५। शिवशंकर भाष्य, पृ० ३८९।
८—देखिये बृहदा० उ० २।४।५। वहीं पृ० ३३६।
९—बृहदा०, १।१।१। शिव शंकर भाष्य, पृ० ८।
१०—वहीं पृ० ३९५।
११—वहीं पृ०१४०।

करते हैं।[१] स्वामी जी ने कठोपनिषद्,[२] मुण्डक,[३] ऐतरेय[४] और केनोपनिषद्[५] के भाष्य में त्रैतवाद की पुष्टि की

कठोपनिषद (३।१०।११) के भाष्य में स्वामी जी लिखते हैं—आत्मा के बाहर, स्थूल प्रकृति और अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म है।[६] तात्पर्य यह है कि प्रकृति से जीवात्मा सूक्ष्म है और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा है जो कि इन दोनों में व्यापक है।

इसी उपनिषद् की 'एकोवशी'[७] इस श्रुति का भाष्य करते हुए इन्होंने लिखा है—एक सब को वश में रखने वाला, सबका अन्तर्यामी, जो एक रूप वाली (प्रकृति) को बहुत प्रकार का करता है, जो वीर पुरुष उस जीवात्मा में स्थित (परमात्मा) को देखते हैं उनको चिरकाल तक रहने वाला सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं।[८]

मुण्डकोपनिषद् के 'समाने वृक्षे' (३।१।२) के भाष्य में इन्होंने लिखा है—उसी (प्रकृति रूप) वृक्ष पर जीवात्मा डूबा हुआ, असमर्थता से मोह में फसा हुआ दुःखी होता है। जो अपने से भिन्न ईश्वर को देखता है तब शोकरहित होता है[९]। इन सन्दर्भों में त्रैतवाद का प्रतिपादन स्पष्ट है।

अभेदाभासित उपनिषद्वाक्यों में से कुछ वाक्यों का अर्थ नारायण स्वामी ने इस प्रकार किया है—

१—'प्रज्ञानं ब्रह्म'[१०] — चेतन ब्रह्म है।[११]

२—'अहं ब्रह्मास्मि'[१२]— निश्चय पहले यह ब्रह्म था। उसने अपने ही को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ।[१३]

३—अयमात्मा ब्रह्म[१४]— यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म (महान्) है[१५]।

८—क्षेमकरण दास त्रिवेदी

त्रिवेदी जी ने अथर्ववेद का सम्पूर्ण भाष्य किया है। वेद भाष्य में इन्होंने सिद्धान्तरूप में त्रैतवाद को ही स्वीकार किया है।

१—नारायण स्वामी, आर्य समाज क्या है ? पृ० ३५।

२—कठ० ३।१। वहीं, नारायण भाष्य, पृ० ५०

३—देखिये मुण्डक० १।१।७ तथा ३।१।१,२ (संस्करण४१९७०)

४—ऐत्तरेय० उ० १।१ (संस्करण, सन् १९७१)

५—केन उ० पृ० ३३ (संस्करण ७(१०२८)

६—कठोपनिषद्, नारायण भाष्य, पृ० ५७।

७—कठ० ५।१२।

८—कठोपनिषद् नारायण भाष्य, पृ० ८०।

९—मुण्डकोपनिषद् नारायण भाष्य, पृ० ५४।

१०—ऐतरेय० उ० ३।३।

११—वहीं, नारायण भाष्य, पृ०४७।

१२—बृहदा० उ० १।४।१०।

१३—वहीं, नारायण भाष्य, पृ० १०२।

१४—बृहदा० उ० २।५।१९।

१५—वहीं पृ० २६२।

अथर्ववेद के मन्त्र[1] के भाष्य में वे लिखते हैं—तीनों ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण अनादि है। ब्रह्म और जीव व्यापक और व्याप्यभाव से संसार के बीच मित्र समान चले आते हैं। जीव कार्यरूप जगत् में शरीरधारण कर पुण्यपाप का फल भोगता है। सर्वशासक परमेश्वर सृष्टि और प्रलय में एकरस बना रहता है।[2]

त्रयः सुपर्णाः[3] मन्त्र के भाष्य में इन्होंने तीन ब्रह्म, जीव और प्रकृति को (जगत् की) पूर्ति करने वाले पदार्थ स्वीकार किया है।[4]

एक स्थान पर त्रिवेदी जी लिखते हैं—प्रकृति जगत् का कारण प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी के शरीर में है। परमेश्वर ने प्रकृति को अनेक उपकारों के लिए कार्यरूप जगत् में परिणत किया है। वह परमात्मा सबका उपास्य है।[5] इस प्रकार अपने भाष्य में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को अनादि स्वीकार करके क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने त्रैतवाद की ही पुष्टि की है।

९–पं० जयदेव शर्मा

पं० जयदेव शर्मा ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का भाष्य किया है। दार्शनिकता की दृष्टि से उसमें इन्होंने पूर्णरूप से त्रैतवाद की पुष्टि की है।

ऋग्वेद के मन्त्र[6] का भाष्य करते हुए शर्मा जी लिखते हैं—(वह ईश्वर) एक अद्वितीय सब शत्रुओं को हनन करने, सबके साथ संगति करने में समर्थ एवं उत्तम बुद्धिमान, सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला, इन्द्रियों के बीच आत्मा के तुल्य, समस्त पृथिव्यादि पदार्थों के बीच सब संसार के मूल कारणभूत प्रकृति को गृह को गृहपति के समान अध्यक्षरूप से अपने वश करता है।[7]

यहां तीनों तत्वों की सत्ता एक ही मन्त्र में वर्णित है। परमेश्वर को प्रकृति का प्रेरक मानते हुए आगे के मन्त्र[8] में लिखते हैं—वह (ईश्वर) एक अद्वितीय हाथ में पकड़े शस्त्र के समान स्वयं वीर्य बल को सर्वत्र व्यापक रूप से धारण करता है। उससे वह मेघस्थ जलों को विद्युत के तुल्य प्रकृति के आवरणकारक परमाणुओं को आघात करता, उनमें स्पन्द उत्पन्न करता और संचालित करता है।[9]

तीनों तत्वों की एक ही, काल में एकत्र स्थिति मानते हुए एक मन्त्र[10] के भाष्य में इन्होंने लिखा है—जिस प्रकार दो प्रवासी एक स्त्री के साथ प्रवास करें, उसी प्रकार दो-जीवात्मा और परमात्मा अपनी विषयभोग साधन इन्द्रियों,

---

१—अथर्व० ६।६।२०। २—क्षेमकरण भाष्य, अथर्ववेद पृ० २०१।

३—अथर्व० १९।४। ४—क्षेमकरण भाष्य, अथर्व० पृ० २९६।

५—इयं कल्याणी। अथर्व० १०।८।२६। पृ० ३१५।

६—योनिमेक आससाद द्योतनोऽन्तर्देवेषु मेधिरः। ऋ० ८।२९।२।

७—जयदेव भाष्य ऋग्वेद पृ० ४३०।

८—वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते। ऋ० ८।२९।४।

९—वहीं, पृ० ४३०।

१०—विभिर्द्वा चरत एकया सह प्रवासेव वसतः। ऋ० ८।२९।८।

प्राणों से जीवात्मा और ईश्वर व्यापक सामर्थ्य से एक प्रकृति के साथ एककाल में ही अच्छी प्रकार विचरते और रह हैं। जीव तो उस प्रकृति का उत्तम गृहस्थवत भोग करता है और दूसरा ईश्वर उसमें व्यापक होकर भी प्रवासगत विरहीपथिकवत्, उससे निःसंग रहता है।[1] यहां तीनों तत्वों का विशिष्ट वर्णन है।

इन्होंने अन्य वेद मन्त्रों[2] का भी भाष्य करते हुए त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।[3]

१०–आर्यमुनि

इन्होंने उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति और छः दर्शनों पर भाष्य किया है। अपने आर्य भाष्य में इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

कठोपनिषद्[4] की श्रुतियों का त्रैतवाद समर्थक भाष्य इस प्रकार किया है—एक सबको नियम में रखने वाला एक प्रकृतिरूपी बीज को बहुत प्रकार से करता है। जो धीर अपने अन्तःकरण में व्यापक रूप से उसे देखते हैं उन्हें सुख मिलता है।[5] इसी सन्दर्भ में वे लिखते हैं—इस श्लोक में उपास्य उपासक भाव से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। यहां जीव को शाश्वत सुख की प्राप्ति कथन करने से भी यह स्पष्ट है कि जीव आनन्दस्वरूप नहीं, आनन्दस्वरूप केवल ब्रह्म ही है।[6]

अन्य श्रुति में इन्होंने लिखा है—जो प्रकृत्यादि नित्य पदार्थों में नित्य है, जीवरूप चेतनों में चेतन है। बहुतों में एक है। कर्मफल को देता है।[7]

इसी प्रकार इनकी दृष्टि में कठोपनिषद् की कुछ श्रुतियों में 'अव्यक्त' से प्रकृति का, पुरुष से परमात्मा का तथा जन्तु शब्द से जीवात्मा का उल्लेख है[8]।

इन्होंने मुण्डकोपनिषद् में द्वा सुपर्णा[9] तथा समाने वृक्षे[10] इन श्रुतियों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का

१—जयदेव भाष्य ऋग्वेद पृ० ४३२।
२—ऋ० १०।१४३। १, २, ३, ४, ५।
३—देखिये-जयदेव भाष्य ऋ० पृ० ४२५-४२६।
४—कठोपनिषद् आर्य भाष्य, लाहौर संस्करण १९०६।
५—एकोवशी— कठ० ५।१२। आर्यभाष्य पृ० १८७। ६—वहीं।
७—नित्योनित्यानाम्—कठ० ५।१३। वहीं पृ० १८८।
८—इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। सत्वादधिमहानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।
कठ० ६।७,८। वही आर्य भाष्य पृ० २०२।
९—मुण्डक० ३।१। १। १०—वहीं ३।१।२।

प्रतिपादन किया है[१]। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'अजामेकाम्'[२] के भाष्य में ये लिखते हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अज हैं, अनादि हैं[३]। इसी प्रकार वहीं पर 'समाने वृक्षो'[४] तथा एकोवशी[५] इन श्रुतियों का त्रैतवाद समर्थक भाष्य किया है।[६]

छान्दोग्योपनिषद्[७] में तत्वमसि का अर्थ इनके मत में ऋषि द्वारा श्वेतकेतु को जीवात्मा के नित्यत्व का उपदेश है।[८] उपनिषदों के अभेदसूचक वाक्यों में इनके मत में अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती क्योंकि उपनिषदें जीव, ईश्वर तथा प्रकृति के भेद को स्पष्ट वर्णन करते हैं।[९]

'अयमात्मा ब्रह्म'[१०] इस वाक्य में इनके मत में आत्मा और ब्रह्म दोनों शब्द एक ईश्वर के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं। योगी समाधि की अवस्था में ऐसा अनुभव करता है। वह अपनी जीवात्मा को ब्रह्म न बतलाकर अपने से अन्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके कहता है कि यह आत्मा नामक ब्रह्म है[११] इसी प्रकार प्रज्ञानं ब्रह्म[१२]अर्थात् ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। यह वाक्य भी इनके मत में त्रैतवाद में ही संगत होता है।[१३] अहं ब्रह्मास्मि[१४] अर्थात मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जीव समाधि द्वारा ब्रह्मस्थ होकर कथन करता है। वास्तव में जीव को ब्रह्म बोधन करना इस वाक्य का तात्पर्य नहीं क्योंकि यह वाक्य जिस प्रकरण में आया है वहां साधर्म्य युक्त निकटस्थ होने के अभिप्राय से उक्त कथन किया है[१५], 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[१६] इस वाक्य में भी वस्तु मात्रा को ब्रह्म कथन करना ब्रह्माकारवृत्ति के अभिप्राय से है। यहां ब्रह्म को सबका कारण कथन किया गया है[१७] और उनके कार्यों को लय काल में उससे भिन्न नहीं कथन किया गया है। इस प्रकार आर्यमुनि ने उपनिषदों में त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

गीता पर इनका भाष्य गीता योगप्रदीपार्य भाष्य[१८] प्रसिद्ध है। गीता के श्लोकों पर त्रैतवाद समर्थक भाष्य करते हुए आर्य मुनि लिखते हैं —

१—आर्य भाष्य पृ० ३४७-३७५।

२—श्वेता० उ० ४।५।

३—आर्य भाष्य पृ० ४३५।

४—श्वेता० ४।७।

५—श्वेता० ६।१२।

६—देखिये वहीं पृ० ४३६ तथा ४४४।

७—छान्दोग्योपनिषद्, आर्यभाष्य, बाम्बे यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण, १९१० ई०।

८—वहीं पृ० ५४३।

९—वहीं पृ० १३।

१४—बृहदा० २।५।१९

११—देखिये उपनिषदार्य भाष्य पृ० ११।

१२—एत्तरेय० उ० ३।३।

१३—वहीं

१४—बृहदा० १।४।१०।

१५—वहीं

१६—छान्दोग्य० उ० ३।१४।१।

१७—छान्दोग्य० उ० ३।१४।१। पृ० २९७।

१८ आर्यमुनि-गीता योग प्रदीपार्य भाष्य। प्रकाशक पंजाबी यन्त्रालय, लाहौर। द्वितीय संस्करण, सन् १९०९ ई०।

इस श्लोक में क्षर शब्द से प्रकृति और प्रकृति के कार्यमात्र को कथन किया है। कूटस्थ तथा अक्षर शब्द से जीवात्मा को कथन किया है[1]।

"उत्तम पुरुष पुर्वोक्त प्रकृति और जीव से भिन्न है। वह परमात्मा नाम से कथन किया गया है।"[2]

इसी प्रकार गीता के अन्य श्लोकों में इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है[3]।

आर्यमुनि ने छः दर्शनों के भाष्य में त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

इनके मत में सांख्यदर्शन[4] में पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर की भी सत्ता स्वीकार की गई है[5]। 'ईश्वरासिद्धेः'[6] सूत्र का अर्थ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की ईश्वर में असिद्धि है यह किया है[7]। अन्य सांख्यसूत्र[8] में कहा है – वह परमात्मा सर्वत्र होने से सब संसार की रचना करने वाला है[9]। इस प्रकार से सर्वज्ञादि गुणयुक्त ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है[10]। सांख्य में ईश्वर की सिद्धि से त्रैतवाद की पूर्णपुष्टि हो जाती है।

योगदर्शन[11] में भी इन्होंने त्रैतवाद स्वीकार किया है। योगदर्शन में कहा है – ईश्वर के प्रणिधान से अर्थात् भक्तिविशेष से आसन्नतम समाधि का लाभ होता है[12]। वह ईश्वर जीवात्मा से विशेष है, पृथक् शक्ति है।[13] वह सर्वज्ञ है[14] तथा उसका वाचक प्रणव (ओम्) है।[15]

१—गीता० १५।१६। आर्य भाष्य पृ० ५०५।

२—गीता० १५।१७। आर्य भाष्य पृ० ५०६।

३—गीता १३।२१। आर्य भाष्य, पृ० ४५७।
गीता १३।२२। आर्य भाष्य पृ० ४५७। तथा गीता १३।३४। वहीं पृ० ४६६।

४—सांख्यदर्शन, आर्यमुनि भाष्य, प्रकाशक—हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक। प्रथम संस्करण, सं० २०३३।

५—वहीं पृ० ६।

६—सांख्य० १।९२।

७—वहीं पृ० ७१।

८—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। सां० ३।५६।

९—वहीं पृ० १६५।

१०—ईदृशेश्वरसिद्धिसिद्धा। सं० ३।५७।

११—प्रकाशक–हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०२९।

१२ – ईश्वरप्रणिधानाद्वा। योग० १।२३। वहीं पृ० २७।

१३—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। योग० १।२४। देखिये वहीं पृ० १४।

१४—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजफलम्। योग० १।२५। वहीं पृ० २८।

१५—तस्य वाचकः प्रणवः। योग १।२७। वहीं।

योग दर्शन में जीवात्मा को 'द्रष्टा' कहा है तथा प्रकृति को दृश्य कहा है[1]। विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों की वृत्ति का निरोध अज्ञानजन्य माना है[2]। इस प्रकार योग दर्शन में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों की पुष्टि की गई है।

न्यायदर्शन[3] में भी इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। न्यायसूक्त[4] में ईश्वर के विषय में कहा है—पुरुष कृतकर्मफलोत्पत्ति में स्वतन्त्र न होने से ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है।[5]

जीवात्मा इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुख, ज्ञानादि लक्षण युक्त है।[6]

सृष्टि के मूल उपादान कारण परमाणु है, अतः उपादान कारण परमाणुओं के पाये जाने से उनका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता[7]। त्रुटि से भी अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य का नाम परमाणु है[8]। झरोखे से सूर्य की किरणें पड़ने से जो सूक्ष्म रज प्रतीत होता है उसका नाम त्रुटि है[9]। इस प्रकार न्यायदर्शन में भी तीनों तत्वों की सत्ता इन्हें स्वीकार्य है।

वैशेषिक दर्शन[10] में भी इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। ईश्वर के विषय में वैशेषिक सूत्र[11] पर भाष्य करते हुए इन्होंने लिखा है पृथ्वी आदी की संज्ञा तथा यज्ञादि कर्मों का विधान, वेदके ईश्वरोक्त, होने में प्रमाण है, क्योंकि ऋग्वेदादि चारों वेदों की उत्पत्ति किसी सर्वज्ञ के बिना नहीं हो सकती[12]। अन्य सूत्र[13] भाष्य में लिखते हैं—संज्ञा तथा धर्म का प्रवर्तक ईश्वर हैं क्योंकि उसको सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं।[14] अन्य सूत्र भी ईश्वर के प्रमाण में प्रस्तुत किये हैं।[15]

जीवात्मा की सिद्धि में वैशेषिक सूत्र[16] के भाष्य में ये लिखते हैं—इन्द्रिय तथा विषयों की प्रसिद्धि उन दोनों से

१—देखिये— सां० १।१७। आर्यमुनि भाष्य पृ० ६७।

२—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिल्यानाम्। योग० १।१९। वहीं पृ० २३।

३—न्याय दर्शन आर्य भाष्य, प्रकाशक, बाम्बे यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण, सन् १९०९।

४—न्यायदर्शन ४।१।१९। ५—वहीं पृ० ५९३।

६—न्याय० १।१।१० वहीं पृ० ८५।

७—न प्रलयोऽणुसद्भावात्। न्याय० ४।२।१६। वहीं पृ० ६७०।

८—परं वा त्रुटेः। न्याय० ४।२।१७ ९—वहीं पृ० ६७१।

१०—वैशेषिकदर्शन, आर्य भाष्य, प्रकाशक- एंगलो संस्कृत यन्त्रालय, लाहौर, प्रथम संस्करण, सन् १९०७।

११—संज्ञाकर्मत्त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्। वै० १।१।१७।

१२—वैशेषिकनर्शन, आर्य भाष्य, पृ० ८७।

१३—प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः। वै० २।१।१८।

१४—वहीं पृ० ८८।

१५—देखिये वैशे० १०।२।९,१०। वहीं पृ० ५३५-३६।

१६—इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽ र्थान्तरस्य हेतुः। वै० ३।१।२।

अन्य पदार्थ (जीवात्मा) की सिद्धि का लिंग है[1] । जीवात्मा के ज्ञान के विषय में लिखते हैं—कूटस्थ नित्य जीवात्मा का स्वरूपभूत ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से भिन्न है[2] । सुखदुःखादि की व्यवस्था से जीवात्मा अनेक हैं ।[3]

प्रकृति के विषय में आर्यमुनि वैशेषिक सूत्र[4] का भाष्य करते हुए लिखते हैं—भावरूप, कारण से रहित जो नित्य पदार्थ है वही जगत का मूल कारण हैं[5] । मूलकारण प्रकृति की सिद्धि में जगत्‌रूप कार्य लिंग है[6] । क्योंकि कारण के होने से ही कार्य होता है ।[7]

वेदान्तदर्शन[8] में इन्होंने अद्वैतवाद का प्रवल खण्डन करके त्रैतवाद की सिद्धि की है । तीन तत्व सम्बन्धी वेदान्त-दर्शन के सूत्र का भाष्य करते हुए ये लिखते हैं—जीव, ईश्वर, प्रकृति तीनों का उपन्यास अर्थात् लेख वेदान्त में पाया जाता है ।[9]

ईश्वर संसार के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है[10] । वह जगत् का उपादान कारण नहीं निमित्त कारण है[11] । क्योंकि वह ऋग्वेदादि शास्त्रों का कर्ता है ।[12] जो शास्त्रों का कर्ता है वह चेतन हीं होगा जो चेतन होगा, वह कार्य जगत् का उपादान न होकर निमित्त कारण हो सकता है[13] । वह ईश्वर आनन्द मय है ।[14]

जीवात्मा आनन्दमय नहीं क्योंकि उनका ब्रह्म से भेद वर्णित है[15] । जीव के ब्रह्म होने की कोई युक्ति न होने से जीव ब्रह्म नहीं ।[16]

आर्यमुनि की दृष्टि में प्रकृति को वेदान्तदर्शन में उपादान कारण माना गया है । क्योंकि परमात्मा के यत्न से

१—वहीं पृ० १८६ ।

२—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्धिन्निष्पयते तदन्यत् वै० ३।१।१६ । वहीं आर्य भाष्य पृ० २५४ ।

३—व्यवस्थातोनाना । वै० ३।२।२० । वहीं पृ० २६०

४—सदकारणवन्नित्यम् । वै० ४।१।१ ।   ५—वैशेषिकार्य भाष्य पृ० २६४ ।

६—तस्यकार्यं लिंगम । वै० ४।१।२ । आर्य भाष्य, पृ० २६५

७—कारणभावात् कार्यभावः । वै० ४।१।३ । वहीं पृ० २६६ ।

८—वेदान्तार्थ भाष्य, लाहौर संस्करण ।

९—त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च वेदान्त, १।४।६ । वेदान्तार्यभाष्य, पृ० १०२ ।

१०—जन्माद्यस्ययतः । वेदान्त० १।१।२ ।   ११—वहीं पृ० ४ ।

१२—शास्त्रयोनित्वात् । वेदान्त० १।१।३ ।   १३—वहीं पृ० ५ ।

१४—आनन्दमयोऽभ्यासात् । वेदान्त० १।१।१२ ।

१५—भेदव्यपदेशाच्च । वेदान्त० १।१।१७ ।

१६—अनुपपत्तेस्तु न शरीरः । वेदान्त० १।२।३ ।

और प्रकृति के परिणाम से यह जगत् उत्पन्न होता है।[1] प्रतिज्ञा और दृष्टान्त भी तभी रह सकते हैं जबकि उपादान कारण कोई ब्रह्म से भिन्न हो और वह उपादान कारण प्रकृति है।[2]

इस प्रकार आर्यमुनि ने वेदों में[3] उपनिषदों में गीत, मनुस्मृति[4] और दर्शनों में त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

११—पं० तुलसीराम

इन्होंने ऋग्वेद, सामवेद, गीता, मनुस्मृति, न्याय, वैशेषिक, योग, वेदान्तादि शास्त्रों पर भाष्य करते हुए त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए तुलसीराम जी ऋग्वेद के एकमन्त्र[5] के भाष्य में लिखते हैं—

'यह मातृवत् प्रकृति मेरा आश्रय वा इस लोक में मुझे बांधने वाली है। इसमें ही मेरा अन्य जीवों के साथ रहने का स्थान है। यह मैं ही सब हूँ। मैं प्रभु परमेश्वर तथा प्रकृति दोनों से उसी प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ जैसे पुत्र माता और पिता दोनों से उत्पन्न होता है। व्यक्त रूप में आती हुई प्रकृति सूती गौ के समान सर्व प्रथम, प्रभु परमेश्वर द्वारा व्यक्त होकर परमसत् कारण के ही विकार रूप इस जगत् को पूर्ण करती है।[6]

इसी प्रकार इन्होंने ऋग्वेद के अन्य अनेक मन्त्रों[7] में त्रैतवाद समर्थक अर्थ किया है[8]।

तुलसीराम स्वामी ने श्वेताश्वतरोपनिषद्[9] में भी त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। एक श्रुति[10] के भाष्य में वे लिखते हैं—यहाँ जो दो अज हैं और एक अजा का वर्णन है। उसमें एक परमात्मा है जो सर्वज्ञ, अजन्मा और समर्थ है। दूसरा जीवात्मा अल्पज्ञ, अजन्मा और असमर्थ है। तीसरी प्रकृति अजा अनादि है। प्रकृति से बने इन्द्रिय और इनके विषयों सहित जीवात्मा इस प्रकृति रूप वृक्ष के फल खाता है।[11]

इसी उपनिषद् की एक अन्य श्रुति[12] के भाष्य में इन्होंने लिखा है—'प्रकृति परिणामिनी है। जीवात्मा

१—आत्मकृतेः परिणामात्। वेदान्त० १।४।२६। वेदान्तार्यभाष्य पु० १२५।

२—प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। वेदान्त० १।४।२३। लेखिये—आर्य-भाष्य पृ० १३२।

३—देखिये—पृ० १।१६४।२०। पर त्रैतवाद समर्थक वेदान्तार्यभाष्य पृ० ६।

४—देखिये—मनु० १।८। पर मानवार्यभाष्य पृ० ५। प्रकाशक बाम्बे यन्त्रालय, लाहौर, प्रथम संस्करण १९१३ ई०।

५—इयं मे नाभिरिह में सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः। द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना॥ ऋ० १०।६१।१९।

६—तुलसीराम भाष्य ऋग्वेद पृ० ७५ (सार्वदेशिक संस्करण १९७५)

७—ऋ० १०।१४३।१,२,४,५।

८—वहीं पृ० ५७७-५७८।

९—तुलसीराम भाष्य-श्वेता० उ०, मेरठ संस्करण, १९१३।

१०—ज्ञाज्ञौद्वावित्यादि। श्वेता० १।९।

११—वहीं तुलसीराम भाष्य, पृ० ११-१२।

१२—क्षरं प्रधानमित्यादि। श्वेता १।१०।

अपरिणामी है। सबका हरण नाश वा प्रलय करने वाला परमात्मा है। वह इन जीव और प्रकृति दोनों पर राज्य करता है।[1]

वहीं अन्य स्थल[2] पर लिखते हैं—'तीन, ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा प्रधान हैं। इन तीनों के भेद को जानकर (जीव) मुक्ति को पाता है[3]।

इन्होंने 'द्वा सुपर्णा:[4] का भी त्रैतवाद समर्थक अर्थ किया है[5]।

मनुस्मृति के श्लोकों[6] में त्रैतवाद का प्रतिपादन करते हुए पं० तुलसीराम लिखते हैं—'इसके अनन्तर, उत्पत्ति रहित, सर्वशक्ति मान्, इन्द्रियों से अतीत, (प्रलय काल के अन्त में) प्रकृति की प्रेरणा करने वाले, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आदि कारणों में युक्त है बल जिसका, उस परमात्मा ने इनको प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया[7]।

अग्रिम श्लोक के भाष्य में पुनः लिखते हैं—'जो इन्द्रियों से नहीं (किन्तु आत्मा से) जाना जाता है और परम सूक्ष्म अव्यक्त सनातन सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा अचिन्त्य है वही अपने आप प्रकट हुआ[8]।

यहां पं० तुलसीराम ने ईश्वर को प्रकृति का प्रेरक तथा उसे जीवात्मा के द्वारा जानने योग्य बतालकर त्रैतवाद की पुष्टि की है।

दर्शनों में इन्होंने त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर्ता[9] तथा आनन्दमय माना है[10]। परन्तु जीवात्मा को आनन्दमय नहीं माना है।[11] ईश्वर और जीव दोनों का परस्पर भेद[12] तथा सूक्ष्म प्रकृति[13] को ब्रह्म के अधीन स्वीकार किया है।[14]

योगदर्शन में ईश्वर की भक्ति से अति ही समीप समाधि लाभ मानकर[15] क्लेश, कर्मफल और वासनाओं से असम्बद्ध

१—श्वेता० १।१०। तुलसीराम भाष्य, पृ० १२।

२—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठा क्षरं च। श्वेता० १।७।

३—वहीं, पृ० १०। ४—श्वेता० ४।६।

५—वहीं पृ० ४४-४५।

६—ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तोव्यंजयन्निदम्। महाभूतादि वृतौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः

योऽसावतीन्द्रिय ग्राह्यः सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ मनु० १।६,७।

७—तुलसीराम भाष्य मनु० पृ० ४३। ८—वहीं।

९—वेदान्त दर्शन १।१।२। १०—वेदान्त दर्शन १।१।१२। ११—वेदान्त दर्शन १।१।१६।

१२— ,, ,, १।१।१७ तथा १।२।११। १३— ,, ,, १।४।२।

१४— ,, ,, १।४।१।

(देखिये इन सूत्रों पर तुलसीराम भाष्य, मेरठ संस्करण १९२९)

१५—योगदर्शन—१।२३। तुलसीराम भाष्य पृ० १६।

पुरुष (जीवात्मा) से विशेष ईश्वर स्वीकार किया है।[1] वहां कहा है जीवात्मा द्रष्टा है और प्रकृति दृश्य है, इनका संयोग ही दुःख का हेतु है[2]। यह प्रकृति अलिंग[3] है अर्थात् किसी भी मूल उपादान में लीन नहीं होती। यहां तीनों तत्व स्पष्ट हैं।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) के अस्तित्व में दार्शनिकों में कोई मतभेद नहीं है किन्तु कुछ दार्शनिक सांख्य में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते तथा कुछ दार्शनिक सांख्य को ईश्वरवादी मानते हैं। सांख्य में ईश्वर मानने वालों की परम्परा में तुलसीराम स्वामी भी एक हैं।[4]

इन्होंने ईश्वराऽसिद्धेः[5] सूत्र के प्रकरण में लिखा है कि इस सूत्र से प्रत्यक्ष लक्षण का अव्याप्ति दोष दूर किया गया है न कि ईश्वर की असिद्धि सिद्धान्ततः की गई है क्योंकि कुछ सूत्र ईश्वर की सांख्य में पूर्णरूप से सिद्धि करते हैं[6]। इस प्रकार तुलसीराम सांख्य दर्शन में त्रैतवाद स्वीकार करते हैं।

१२—स्वामी सत्यानन्द

इनकी ग्यारह उपनिषदों पर टीका 'एकादशोपनिषत् संग्रह'[7] नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषदों में इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

कठोपनिषद् की श्रुति[8] में तीनों तत्वों का प्रतिपादन करते हुए ये लिखते हैं—जो परमेश्वर, एक, सब का नियन्ता और सारे भूतों का साक्षी है वही एक वस्तु प्रकृति को बहुत प्रकार में रचता है। उसकी स्वाभाविकी इच्छा से प्रकृति में अनेक परिणाम होते हैं। जो बुद्धिमान भक्त उस परमेश्वर को अपने भीतर देखते हैं, ध्यान से आराधते हैं, उनको अविनाशी सुख मिलता है दूसरों को नहीं।[9]

द्वासुपर्णाः[10] के अर्थ में इन्होंने भी त्रैतवाद का समर्थन ही किया है।[11]

१—योग दर्शन—१।२४। वहीं २—योग दर्शन—२।१७। वही पृ० ३४।

३— ,, —१४५। वहीं पृ० २७।

प्रकाशक स्वामी यन्त्रालय मेरठ, पंचम संस्करण ।

४—देखिये सांख्यदर्शन, तुलसीराम भाष्य, प्रकाशक स्वामी यन्त्रालय, मेरठ, तृतीय संस्करण सन् १९२६।

५—सांख्य० १।९२।

६—सहि सर्ववित्सर्वकर्ता। सांख्य० ३।५६॥ ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा, सांख्य० ३।५७।

७—एकादशोपनिषत्संग्रह, प्रकाशक—विद्या प्रकाश प्रेस, अनारकली, लाहौर। प्रथम संस्करण। सम्वत् १९८७।

८—एकोवशी कठ० १।५।१२।

९—एकादशोपनिषत्संग्रह पृ० ३९। १०—मुण्डक० उ० ३।१।१।

११—देखिये वहीं पृ० ७२।

मुण्डकोपनिषद् की अन्य श्रुति[1] के भाष्य में इन्होंने लिखा है—'उसी एक पेड़ (प्रकृति) पर पुरुष (जीवात्मा) भोगों में निमग्न कर्म में बँधा जाकर अपनी असमर्थता से मोह में पड़ा शोक करता है। जब दूसरे अपने से भिन्न ईश्वर को अपना सखा देखता है और उसकी अपार दयादि महिमा को जानता है तो शोक रहित हो जाता है।[2]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में तीनों को अनादि बतलाते हुए स्वामी जी लिखते हैं—आकार का रूपवाली, बहुत प्रजा रचती हुई, रक्तवर्ण, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्ण, एक प्रकृति को, एक अनादि जीवात्मा सेवन करता हुआ अधिकार में करता है, उसमें बस जाता है अथवा सो जाता है तथा दूसरा अजन्मा भगवान् जीवात्मा द्वारा भोगी हुई इस प्रकृति को त्याग देता है, वह इसमें बद्ध नही होता[3]।

श्वेताश्वतरोपनिषद् की अन्य श्रुतियों का भी त्रैतवाद समर्थन किया है। कुछ श्रुतियों का भाष्य देखिये—

यह तीन का समुदाय ऊपर कहा गया है, उसमें एक तो परम ब्रह्म है, दूसरी सुन्दर स्थिति प्रकृति है और तीसरा अक्षर है जीवात्माओं का समूह[4]।

यह क्षर परिणाम को प्राप्त होने वाला, प्रकृति तत्व और अक्षर जीवात्मा तत्व परस्पर संयुक्त है। भोग्य भोक्तृभाव में सम्मलित हैं। व्यक्तायक्त सम्पूर्ण को परमेश्वर पालन करता है।[5]

परिणाम धर्मवाला क्षर, प्रधान, जगत् का उपादान कारण, दूसरा अमृत अविनाशी आत्म तत्व और तीसरा पापों को हरने वाला हर ईश्वर ये तीन है। इनमें एक देव परमेश्वर ही प्रकृति और जीवात्म तत्व को शासन करता है[6]।

ईश्वर, अनीश्वर, आत्मा-परमात्मा दोनों अजन्मा हैं, सर्वज्ञ अल्पज्ञ हैं। निश्चय एक प्रकृति भी अनुत्पन्ना है और भोक्ता के भोग्य के अर्थ से युक्त है, और अनन्त स्वरूप भगवान् विश्वरूप है, विश्व को रचता है परन्तु स्वरूप से जकड़ता है। जब मनुष्य इस त्रय को प्राप्त करता है। इन तीनों को पृथक् पृथक् जानता है तब इस ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है।[7]

१—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ मुण्डक० ३।१।२।

२—एकादशोपनिषत्संग्रह, पृ० ७३।

३—अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेता० ४।५। वहीं सत्यानन्द भाष्य, पृ० ४३५।

४—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च। श्वेता० १।७। एकादशोपनिषत्संग्रह, पृ० ४२४।

५—संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। श्वेता० १।८। वहीं सत्यानन्द भाष्य।, पृ० म२६

६—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देवएकः॥ श्वेता० १।१०। वहीं पृ० ४२५।

७—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।९। वहीं पृ० ४२४।

इन सन्दर्भों में स्वामी जी ने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। स्वामी सत्यानन्द ने उपनिषदों के अभेदसूचक वाक्यों का अर्थ इस प्रकार किया है—

१—प्रज्ञानं ब्रह्म[1] —वही पूर्णज्ञान ब्रह्म है।[2]

२—तत्वमसि[3] —वह शुद्ध आत्मा (जीवात्मा) तू है[4]

३—सर्वं खल्विदं ब्रह्म[5] —उपासना में जो आध्यात्म सूर्य प्रतीत होता है वह यह निश्चय से ब्रह्म है।[6]

४—अहं ब्रह्मास्मि[7] —सृष्टि से पूर्व ब्रह्म ही था। वह अपने को ही जानता था कि मैं ब्रह्म हूँ[8]

५—अयमात्मा ब्रह्म[9] —यह ही आत्मा ब्रह्म है। जो सर्वानुभव कर्ता सर्वज्ञ है।[10]

इन वाक्यों का इन्होंने त्रैतवाद समर्थक अर्थ ही किया है।

१३—पं० रघुनन्दन शर्मा

पं० रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें अन्य विषयों के साथ दार्शनिक विषय पर भी प्रकाश डाला है। दार्शनिक दृष्टिकोण से इन्होंने इस जगत् की रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों को आवश्यक मानते हुए त्रैतवाद की पुष्टि की है।

परमात्मा के विषय में वे लिखते हैं—जितने इस सृष्टि के स्थूल सूक्ष्म व्यवहार हैं सबमें व्यवस्था, प्रबन्ध और नियम पाया जाता है। इन प्रबल और चमत्कारिक नियमों से सूचित होता है कि इस सृष्टि के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूपा चेतनशक्ति विद्यमान है, जो अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य लोक-लोकान्तरों का भीतर और बाहरी प्रबन्ध किये हुए है। इसी को परमात्मा, ईश्वर, खुदा और गाड आदि कहते हैं।[11]

जीवात्मा के विषय में वे लिखते—इसलिये यह निश्चित और निर्विवाद है कि ज्ञानवाली शक्ति सारे शरीर में व्याप्त नहीं प्रत्युत् वह एक देशी परिच्छिन्न और अणुरूप ही है, क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमियों में भी मौजूद है। इसी को लोग जीव, रुह और सोल के नाम से पुकारते हैं और यही सृष्टि का दूसरा कारण है[12]।

प्रकृति के विषय में वे लिखते हैं—सिद्ध होता है कि समस्त संसार छोटे-छोटे परमाणुओं से ही बना है। इसी जड़, परिवर्तनशील और परमाणुरूप उपादन कारण को माया, प्रकृति, परमाणु, माद्दा और मैटर आदि नामों से कहा गया है।

१.—एतरेय० ५।३।३
२.—एकादशोपनिषत् संग्रह स्वामी सत्यानन्द भाष्य, पृ० १२१।
३.—छान्दोग्य० ६।८।७।
४.—वहीं, पृ० २२६।
५.—छान्दोग्य० ३।१४।१।
६.—वहीं पृ० १७०।
७.—बृहदा० १।४।१०।
८.—वहीं पृ० २८४।
६.—बृहदा० २।५।१६।
१०.—वहीं पृ० ३२०।
११—वैदिक सम्पत्ति पृ० ६७६-६७७।
१२—वहीं पृ० ६७६।

शर्मा जी ने जगत् के इन तीनों कारणों को स्वयं सिद्ध और अनादि माना है[1]।

इस मान्यता में शर्मा जी ने वेद[2] और श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

१४—राहुल सांकृत्यायन

इन्होंने 'दर्शन दिग्दर्शन' नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है। ये मुण्डकोपनिषद्[4] में त्रैतवाद स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

दो सहयोगी सखा पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्ष को आलिंगन कर रहे हैं। उनमें एक फल (कर्मभोग) को चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है। (उस) एक वृक्ष (प्रकृति) में निमग्न पुरुष परवश मूढ़ हो शोक करता है। दूसरे ईश को जब वह अपना साथी (तथा) उसकी महिमा को देखता है तो शोकरहित हो जाता है।[5]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में त्रैतवाद की पुष्टि में उद्धरण प्रस्तुत करते हुए[6] राहुल जी इस उपनिषद् के विषय में लिखते हैं—

इसके गुमनाम लेखक की मुख्य मंशा ही त्रैतवाद का प्रतिपादन करना था[7]।

१५—ब्रह्ममुनि परिव्राजक

इन्होंने 'दार्शनिक अध्यात्मतत्व,'[8] ग्रन्थ की रचना की है जिसमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला है। इन्होंने वेद, उपनिषद् और दर्शनों के आधार पर त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

ईश्वर का इन्होंने कर्मफल प्रदाता,[9] सर्वकर्त्ता,[10] आनन्दमय,[11] ज्योतिस्वरूप,[12] अर्न्तयामी,[13] अतिसूक्ष्म,[14]

१—वैदिक सम्पत्ति, पृ० ६७४-७५।
२—ऋ० १।१६४।२०।
३—श्वेत० उ० १।६। ४।५,७।
४—मुण्डक० उ० ३।१-२।
५—दर्शन दिग्दर्शन पृ० ४२६।
६—श्वेताश्वतर उ० १।६-१२। वहीं पर ४।५-१०।
७—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४३६।
८—दार्शनिक आध्यात्मतत्व, प्रकाशक वेद अनुसंधान सदन (आर्य वानप्रस्थ आश्रम) ज्वालापुर, सहारनपुर। प्रथम संस्करण १६५७ ई०।
६—न्याय० (४।१।१६।) (४।१।२०) (४।१।२१) वेदान्त० ३।२।३८। सांख्य० (५।२)। (५।७) श्वेता० उ० ६।११। ऋ० १०।४८।५।
१०—सांख्य० ३।५६। वेदान्त० १।१।२, ३।
११—वेदान्त० १।१।१२।
१२—ऋ० ६।६।५।
१३—वेदान्त० १।२।१८।
१४—अर्थ० १०।८।२५।

पुरुषविशेष,[1] सर्वज्ञ,[2] इत्यादि रूपों में प्रतिपादन किया है।[3]

जीवात्मा के अस्तित्व को सांख्यानुसार[4] स्वीकार करके, न्याय[5] और वैशेषिक[6] के अनुसार उसे सुख दुःख इच्छा द्वेष, प्रयत्न ज्ञानादि लक्षणयुक्त स्वीकार किया है, तथा जीवात्मा को नित्य,[7] ज्ञानवान्,[8] अणु[9] और अनेक[10] स्वीकार किया है।[11]

प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानते हुए[12] उसे ईश्वराधीन माना है।[13]

इन्होंने इन तीनों तत्वों की स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न सत्ता स्वीकार करके त्रैतवाद की पूर्णपुष्टि की है।

१६—स्वामी वेदानन्द तीर्थ

इन्होंने स्वाध्याय सन्दोह[14] नामक स्वरचित ग्रन्थ में त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

वेदों के अनुसार स्वामी जी ईश्वर को जीवों का तथा प्रकृति का अधिष्ठता,[15] असीम जगत् को धारण करने वाला,[16] सम्पूर्ण संसार का स्वामी[17] प्रतिपादित किया है।

जीवात्मा को अविनाशी, इन्द्रियों का स्वामी[18] तथा परिच्छिन्न[19] तत्व स्वीकार किया है।

प्रकृति को ऐसी माता स्वीकार किया है जो जीवात्मा को अपनी गोद में पालती है।[20]

१—योग० १।२४।

२—अथर्व० ३१।४।११। ऋ० १०।८२।३। योग० १।२३,२५।

३—देखिये इन सब पर ब्रह्ममुनि भाष्य, दार्शनिक आध्यात्मतत्व, ईश्वर प्रकरण, पृ० १-२६।

४—सांख्य० ६।१। ५—न्याय० १।१।१०। ६—वैशे० ३।२।४।

७—वेदान्त० २।३।१७। तथा २।४।१६। न्याय० ४।१।१०। ऋ० १।१४६।३०।

८—वेदान्त० २।३।१८। ९—अथर्व० १०।८।२५।, २६।

१०—वैशे० ३।२।२०, सांख्य० १।१४६। यजु० १६।४६।

११—देखिये इन सब पर ब्रह्ममुनि भाष्य दार्शनिक आध्यात्मतत्व जीवात्मा प्रकरण, पृ० ३०-५०।

१२—वेदान्त १।४।३ तथा १।४।२३,२५।

१३—देखिये दार्शनिक आध्यात्मतत्व, प्रकृति प्रकरण, पृ० ५१-५४।

१४—स्वाध्याय सन्दोह, प्रकाशक वैदिक संस्थान गाजियाबाद, चतुर्थ संस्करण, २०२५।

१५—विश्वरूपः अमृतानि तस्थौ। ऋ० ३।३८।४। स्वाध्याय सन्दोह, पृ० ६०।

१६—इन्द्र अमितम् ववक्ष। ऋ० ४।१६।५। वहीं पृ० ७२।

१७—पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ऋ० ६।८६।५। वहीं पृ० ७६।

१८—अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्। ऋ० १।१६४।३१। वहीं पृ० ३।

१९—अव्यसश्च। अथर्व० १९।६८।१। वहीं पृ० १०।

२०—कुमारंमातायुवतिः समुब्धं गुहाबिभर्ति। ऋ० ५।२।१। वहीं पृ० २६।

स्वामी जी लिखते हैं—इन तीनों में एक जीवात्मा बाल से भी अधिक सूक्ष्म है और एक प्रकृति मानों नहीं दीखती है, उससे अधिक सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा है। [१]

स्वामी वेदानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैदिक धर्म'[२] में ईश्वर, जीव और प्रकृति का पृथक् पृथक् वेदानुसार वर्णन किया है।

ईश्वर को निराकार[३], अजन्मा[४], अनन्त,[५] अनादि,[६] अनुपम,[७] सर्वान्तर्यामी,[८] अमर,[९] नित्य,[१०] तथा एक कहा है।[११]

जीवात्मा को ईश्वर के द्वारा शरीर सम्बन्ध से व्यक्त तथा गतिशील,[१२] मन के साथ वाणी की शक्ति को धारण करने वाला,[१३] शरीर के बीच में रहने वाला, विनाशरहित[१४] तथा अनुरूप स्वीकार किया है।[१५]

प्रकृति को नित्य, कार्यरूप में परिणत[१६] होने वाली माना है। इनके अनुसार वेद में प्रकृति का नाम 'अवि' है। यह सत्य नियम से ढकी रहती है,[१७] अजन्मा तथा प्रलयकाल में रूपों को निगलने वाली है।[१८]

१—अर्थव० १०।८।२५। वहीं पृ० १२।
२—वैदिक धर्म, प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली, सन् १९६२।
३—न तस्य प्रतिमा अस्ति। यजु ३२।३। वैदिक धर्म पृ० २०।
४—अजः। ऋ० १।६७।३। वहीं पृ० २५।
५—अनन्तं विततम्। अर्थव० १०।८।१२। वहीं पृ० २६।
६—जनुषा सनादसि। सा० पृ० ५।२।१। वहीं पृ० २८।
७—न त्वावां अन्यः। ऋ० ७।३२।२३। वहीं पृ० २९।
८—अन्तरं बभूव। ऋ० १०।८२।७। वहीं पृ० ३३।
९—तमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम् ऋ० ५।१४।२। वहीं पृ० ३५।
१०—सनातनम्। अर्थव० १०।८।२२। वहीं पृ० ३७।
११—यस्पतिरेक एव। अथर्व० २।२।१। वहीं० पृ० ४३।
१२—पतंगमक्तमसुरस्य माया। ऋ० १०।१७७।१ वहीं पृ० ५१।
१३—पतंनगो वाचं मनसा बिभर्ति। ऋ० १०।१७७।२। वहीं पृ० ५२
१४—अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ऋ०१।१६४।३०। वहीं पृ० ५०।
१५—अव्यसः। अर्थ० १९।६८।१। वहीं पृ० ५४।
१६—एषा सनत्नी सनमेव जातेषा पुराणी। अर्थव० १०।८।३०। वहीं पृ० ५५।
१७—अविर्वै नाम देवत ऋतेतास्ते परीवृता। अर्थव० १०।८।३०। वहीं पृ० ५६।
१८—अजारे पिशंगिला यजु० २३।५६। वहीं।

ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को वेद के एक ही मन्त्र में अनादि सिद्ध करते हुए स्वामी जी लिखते हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति यह तीन पदार्थ हैं। जो जगत् के कारण हैं। परमेश्वर जीवों के कर्मफल देने के लिए सृष्टि रचता हैं, यही उसका बीज डालना है। जीव स्वकर्मानुसार सुख दुःख का उपभोग करता है इसे संसार के दोनों ओर देखना कहा है। प्रकृति का वेगकार्य तो चर्म चक्षुओं से दीखता है, किन्तु उसका रूप दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् वह सूक्ष्म है। तीनों केशी अर्थात् प्रकाशमय हैं।[1]

दूसरे मन्त्र में तीनों की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—'परमेश्वर में अनन्त गुण होने से वह सब से श्रेष्ठ है। प्रकृति विकृति को प्राप्त होती है। जीव भी बन्धमोक्ष को प्राप्त करता है, किन्तु परमात्मा सदा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव और एक रस है अतः परमात्मा इनसे बड़ा है। प्रकृति जड़ होने से अपने आप कोई गति नहीं कर सकती, जीव कर सकता है। अतः प्रकृति से उत्कृष्ट किन्तु परमात्मा की अपेक्षा निकृष्ट होने से मध्यम कहलाता है। परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है, प्रकृति अज्ञ है, प्रकृति का एक नाम 'घृतपृष्ठ' है। महतत्व, अहंकार पांच तन्मात्राएँ ये सात, प्रकृति के सात पुत्र हैं।[2] इस प्रकार स्वामी वेदानन्द पूर्ण रूप से वेदों में त्रैतवाद के समर्थक हैं।

१७—चमूपति

इन्होंने वैदिक सिद्धान्त नामक ग्रन्थ की रचना की है[3] जिसमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के विषय में वेदानुसार विस्तार से वर्णन किया है। तीनों तत्वों के विषय में इनके विचार देखिये—

ईश्वर के विषय में ये लिखते हैं—'संसार को देखकर पहिला प्रश्न यह होता है कि इसका विकास कैसे होता है? विकास में नियम है, निश्चय है। सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति बुद्धि पूर्वक हुई प्रतीत होती है। यह बुद्धि प्रकृति की नहीं, न किसी जीवात्मा या जीवात्मसमूह की है। विभु परमात्मा की ही है।[4]

उस चतुष्पाद् पुरुष का एक पाद् (बहिःप्रज्ञ) इस संसार में प्रकट हुआ। उससे चेतन अचेतन सारा जगत् प्रवृत्त हुआ।[5]

आर्य धर्म परमात्मा को जगत् का निमित्त कारण मानता है उपादान नहीं। उपादान मानने से चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन विकसित होने की समस्या का कोई सुलझाव नही हो सकता।[6]

१—त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते सम्वत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभिचष्टेशचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ ऋ० १।१६४।४४। वैदिक धर्म पृ० ५८।

२—अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ ऋ० १।१६४।१। वहीं पृ० ५६।

३—वैदिक सिद्धान्त, प्रकाशक १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली, १९६६।

४—वैदिक सिद्धान्त, पृ० २३।

५—पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि। यजु० ३१।४।

६—वैदिक सिद्धान्त पृ० २३।

प्रवृति के पश्चात् धृति का प्रश्न है। संसार के विविध पदार्थ एक दूसरे की आकर्षण आदि शक्तियों से स्थिर है। परन्तु यह आकर्षण भी तो बुदिपूर्वक कार्य कर रहा है। सूर्य ने पृथ्वी को और पृथ्वी ने सूर्य को आकर्षण करना किसी की नियामिकता से स्वीकार किया है। इनमें यह धर्म कैसे आया? इस धर्म का संकेत ज्ञान स्वरूप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी की और है[1]। वेद कहता है, चेतन अचेतन का आधार प्रभु है।[2]

जहाँ प्रवृत्ति है, वृति है, वहाँ निवृत्ति भी है। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से परिणाम पाकर कार्यरूप धारण करता है और उससे पीछे फिर उसी कारण में लीन हो जाता है। यह क्षय या निवृति भी उसी व्यापक बुद्धि के अधीन है। संख्या कर्ता परमात्मा से सृष्टिकाल में सूर्य उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाता है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति दो विरोधी धर्म हैं। इनका समय और मर्यादा-पूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म या प्रवृत्ति हो सकता है या निवृत्ति। सृष्टि होते होते प्रलय और प्रयल होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति कौन करता है? कोई नियामिका शक्ति ही। यह नियामिका चेतन होना चाहिये और उसकी चेतना का प्रभाव विश्वव्यापी होना चाहिये।[4] वेदान्त दर्शन में उपरिलिखित सारे प्रकरण को एक सूत्र में कहा है— ब्रह्म वह है जिससे इस जगत् का जन्म, धारण और विनाश होता है।[5]

प्रेरक प्रभु का धर्म अटल है उसने सत्य को धर्म बनाया है[6] वह परमेश्वर किसी बात में ऊन (कम) नहीं[7] वह आनन्द स्वरूप[8], निराकार[9] सर्वशक्तिमान्,[10] अजन्मा,[11] अनन्त,[12] निर्विकार,[13] अनादि,[14] अनुपम,[15]

१—वैदिक सिद्धान्त, पृ० २३।

२—स्कोम्भेनेमे विष्टभिते द्योश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राण्निमिषच्च यत्। अथर्व० १०।८।२।

३—कालेनोदेतिसूर्यः काले निविशते पुनः। अथर्व० १९।५४।१ वैदिक सिद्धान्त, पृ० २५।

४—वही।

५—जन्माद्यस्ययतः। वेदान्त दर्शन १।१।२। पृ० २५।

६—सविता सत्यधर्मा। अथर्व० १०।८।४२। वही। पृ० २८।

७—न कुतश्चनोनः। अथर्व० १०।८।४४। वैदिक सिद्धान्त, पृ० ३०।

८—स्वर्यस्य च केवलम्। अर्थव० १०।७।१। वहीं पृ० ३२।

९—अकायमव्रणम्। यजु०४०।४। वहीं पृ० ३३।

१०—शुक्रम्। यजु० ४०।४। वहीं।

११—अजस्तद्ददर्शेक। अर्थव० १०।८।४। वहीं।

१२—अनन्तंविततं पुरुष। अर्थव० १०।८।१२। वहीं।

१३—अज एकपात्। यजु० ३४।५३। वहीं।

१४—सनातनम्। अथर्व० १०।८।२२। वहीं।

१५—अपूर्वेणोषिता वाचः। अथर्व १०।८।२३। वहीं।

सर्वाधार,[1] सर्व-व्यापक,[2] सर्वज्ञ,[3] अजर अमर,[4] अभय[5], नित्य[6], पवित्र[7], न्यायकारी[8] दयालु,[9] सर्वेश्वर,[10] सृष्टिकर्ता,[11] सर्वान्तर्यामी,[12] और एकमात्र उपास्य है।[13]

जीवात्मा के विषय में इन्होंने लिखा है —यह स्वयं अमरण-धर्मा है परन्तु मरण-धर्मा शरीर के साथ एक स्थानी होकर अपनी इच्छा से जकड़ा हुआ किसी वस्तु की ओर जाता है और किसी वस्तु से परे हटता है।[14] यह सुखदुःख का भोक्ता, इस सुन्दर वृद्ध हो जाने वाले दाना दानशील शरीर का भर्ता (अनादित्रयी में) मध्यम-स्थानीय (आत्मा) है।[15] जीवात्मा नित्य[16] है तथा अल्पज्ञ है।[17] यह स्वरूप से अणु है।[18] जीते शरीर में कुछ ऐसी चेष्टाएं होती हैं जो जड़ शरीर लिंग नहीं कर सकते, जैसे सुख-दुःख की अनुभूति, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान इन्हीं को न्यायदर्शनकार ने आत्मा के लिंग कहा है।[19] वैशेषिक कार ने इनके अतिरिक्त प्राणापान निमेषोन्मेष इन्द्रियान्तर्विकार ये भी आत्मा के लिंग कहे हैं।[20] वेद में कहा है यह जीवात्मा प्राण लेता है और नहीं लेता, आँख झपकाता है

१—सो दृहंयत् सोधारयत्। अथर्व० ४।११।७। वैदिक सिद्धान्त, पृ० ३३।

२—उरुकोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमाभुवनान्यन्तः। अथर्व० ११।२।२२। वहीं।

३—वेद भुवनानि विश्वा। यजु० ३२।१०। वहीं।

४—अथर्व० १०।८।४४। वहीं।

५—अभयंकरः। अथर्व० १०।२१।१। वहीं।

६—एकपाद्। यजु० ३४।५३। वहीं।

७—पवमानः। अथर्व० १०।८।४० वहीं।

८—सोऽर्यमा। अथर्व० १३।४।४। वहीं।

९—दयसे विजानन्। यजु० ३३।१४। वैदिक सिद्धान्त, पृ० ३३।

१०—सर्वस्येश्वरः। अथर्व० १०।४।१। वहीं।

११—य इदं विश्वं भुवनं जजान। अथर्व० १३।३।१५। वहीं।

१२—स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। यजु० ३२।८। वहीं।

१३—एकएव नमस्यः। अथर्व० २।२।१। वहीं।

१४—ऋ० १।१६४।३८। वहीं। पृ० १०।

१५—ऋ० १।१६४।१। वहीं, पृ० १४।

१६—ऋ० १।१६४।६। वहीं, पृ० १६

१७—अथर्व० १०।८।२५ वहीं।

१८—न्याय० १।१।१०।

१९—वैशे० ३।२।४

२०—यदेजति पतति यश्चनिष्ठति प्राणादप्राणन्निमिषच्च। ऋ० १०।८।११। वहीं, पृ० ११।

कांपता है, ठहरता है।[1] परिणामी शरीर में यह अपरिणामी है।[2]

प्रकृति के विषय में चमूपति लिखते हैं—कोई-कोई कहते हैं, परमात्मा ही प्रकृति और आत्मा को बनाता है। काहे से? अभाव से तो नहीं। तब अपने से बनाता होगा। चेतन (प्रभु) से अचेतन (जगत्) के प्रादुर्भाव की कल्पना इस धारणा को भी अयुक्त बना देती है। परमात्मा मात्र को अनादि मानने से इस शंका का किसी प्रकार समाधान नही हो सकता कि पाप की प्रवृत्ति किस से होता है।[3]

वेद में प्रलयावस्था की प्रकृति के विषय में कहा है—उस समय सत् न था, असत् न था।[4] उस समय अव्यक्त अक्रिया से ढंका हुआ था। उसको व्यक्त करने वाला कोई चिन्ह न था। प्रकृति थी।[5] यह प्रकृति प्राणियों को लिये सम्यक् फल दूहने और सम्यक् जीवन-निर्वाह कराने वाली है।[6] वेद में कहा है कि नौ दरवाजों वाला पुण्डरीक (शरीर) तीन गुणों से घिरा हुआ है।[7] ये तीन गुण क्या हैं? आत्मा स्वभाव से गुणातीत है। उसमें जो तारतम्य आता है और वह प्रकृति के संग से है। अतः प्रकृति त्रिगुणात्मिका है।[8]

त्रैतवाद को त्रित्ववाद[9] नाम देते हुए चमूपति लिखते हैं—अनादि तो तीन ही मानने पड़ते हैं। आत्मा को अनादि मानने से विकासवादियों की यह समस्या झट सुलझ जाती है कि जीवन कहां से आता है? प्रकृति को अनादि मानने से धर्म का विज्ञान से अज्ञान और अज्ञान से पैदा हुआ विरोध मिट जाता है। अर्थात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अनात्मा में परिणत नहीं होता। परमात्मा को अनादि मानने से जगत् की स्थिर, अनादि, अनन्त, व्यवस्था का रहस्य खुल जाता है[10]।

परमात्मा, आत्मा और भौतिक जगत् ये तीन भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। जैसा कि वेद में कहा है—धारणकर्त्ता (परमात्मा) में यह आकाश (सूक्ष्मतमभूत) से पृथिवी (स्थूल भूत) तक भौतिक प्रपंच स्थिर है। उसी परमात्मा में यह सब आत्मवान् जो सांस लेते और आंख झपकते हैं स्थिर हैं[11]।

१—ऋ० १।१६४। १। वही, १६।

२—ऋ० १।१६४।१। वैदिक सिद्धान्त, पृ० १६।

३—वहीं पृ० ४१।

४—नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। ऋ० १०।१२६।१। वहीं पृ० ४४।

५—तम आसीत् तमसोगूढ़हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्। ऋ० १।१२६।३। वहीं पृ० ४५।

६—सुदुघा पृश्निः मरुद्भ्यः। ऋ० ५।६०।५। वहीं, पृ ४३।

७—पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। अथर्व० १०।८।४३।

८—वहीं, पृ० ४४।

९—वैदिक सिद्धान्त, पृ० ४२। १०—वहीं।

११—स्वममेनेमेविष्टमिते द्यौश्च भूमिश्चतिष्ठतः। स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वत् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥

अथर्व० १०।८।२। वहीं।

इन तीनों तत्वों को सृष्टि में कारण मानते हुए चमूपति लिखते हैं—ये तीनों अनादि, सृष्टि होने में कारण बनते हैं। १- परमात्मा का नियन्त्रण रहता है। २- जीवों को अपने फल पाने होते हैं। ३—प्रकृति इस प्रपंच का उपादान कारण है।[1]

१८—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अथर्ववेद[2] के भाष्य में इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। अथर्ववेद के नौवें काण्ड के नौवें सूक्त के विषय में इन्होंने लिखा है—"इस सूक्त में, जीवात्मा, परमात्मा और संसार वृक्ष का उत्तम वर्णन है। वेद का जो उत्तम विषय है वह यही है।"

ईश्वर के विषय में अथर्व वेद के मन्त्र[3] के भाष्य में सातवलेकर लिखते हैं—एक ही सत्य तत्व है, एक ही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, देव, ईश्वर किंवा परमेश्वर है। जिसका कोई नाम नहीं है, परन्तु जिसके सब नाम भी हैं। उसको 'सत्' इतना ही यहाँ कहा है। 'सत्' का अर्थ है 'जो है' अर्थात् कोई ऐसी विलक्षण शक्ति है कि जो इस जगत् के पीछे रहकर सब जगत् के कार्य चला रही है—जिससे विद्युत चमकती है, वायु बहता, और जल प्रवाहित होता है। अतः अनाम सत्य तत्व को अग्नि सूर्य आदि नाम दिये हैं।[4]

जीवात्मा सम्बन्धी अथर्व वेद के मन्त्र भाष्य में इन्होंने लिखा है—'प्राणियों के शरीर में जीवात्मा है वह ध्रुव अर्थात् स्थिर, चालक, वेगवान प्राणों को चलाने वाला है और वह इस शरीर में रहता है[5]।

अन्य मन्त्र भाष्य में वे लिखते हैं—मृत मनुष्य का जीव वास्तविक रीति से अमर है, वह अपनी निज शक्तियों से कार्य करता है और इस देह के छोड़ देने के बाद दूसरे मर्त्य देह के साथ संयुक्त होता है[6]।

इनके मत में अथर्ववेद में अज शब्द जीवात्मा के लिए अनेकों स्थानों पर प्रयुक्त है।[7]

प्रकृति को अथर्ववेद में 'घृतपृष्ठ' अर्थात् भोग्य पदार्थों को ढोने वाला कहा है[8]।

इनके मत में अथर्व वेद के ९ वें काण्ड के ९ वें सूक्त में तीनों तत्वों का वर्णन है। कुछ मन्त्रों के भाष्य का भाव इस प्रकार है—

१—वहीं पृ० ४३।

२—अथर्व वेद, सातवलेकर सुबोध भाष्य, प्रकाशक-स्वाध्याय मण्डल, औंध, सितारा, प्रथम संस्करण सन् १९३१।

३—इन्द्रमित्रमित्यादि। अथर्व ९। १०।२८।

४—अथर्व वेद, सुबोध भाष्य पृ० १६७।

५—पस्त्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत्शये। अथर्व० ९।१०।८ देखिये वहीं सुबोध भाष्य, पृ० १५०

६—मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः। अथर्व० ९।१०।८ देखिये वहीं सुबोध भाष्य पृ० १५०।

७—अजो अग्निः। अथर्व० ९।५।७। अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत्। अथर्व० ९।५।२०।

अजः पक्वः। अथर्व० ९।५।१९। देखिये इन पर सुबोध भाष्य, पृ० ७४—७७।

८—अथर्व० ९।९।१। सुबोध भाष्य, पृ० ११९।

दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृति) पर रहते हैं।[1] उनमें से एक फलों को न भोगने वाला परमात्मा है क्योंकि वह भोग की कामना रहित[2] है। परन्तु दूसरा पक्षी मीठे फलों को चखता है वह एक नहीं अनेक हैं।[3] ये जीवात्मा 'अमृत' की पुकार करते रहते हैं[4]। जीवात्मा व्याप्य है। परमात्मा इन जीवों में भी प्रविष्ट है[5]। इन दोनों में मौलिक भेद है। परमात्मा एक, सर्व व्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, जीवात्मा अनेक, परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी है।[6]

प्रकरण के अन्त में सातवलेकर लिखते हैं—इतने विवरण से पाठकों को पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार, ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं[7]। इन तीनों को परस्पर 'भ्राता' कहा है[8]। ये तीनों एक दूसरे को भरते हैं पूर्ण करते हैं। इनमें से एक तो अति पुराणपुरुष परमात्मा है। दूसरा बीच का भाई (जीवात्मा) भोगों को भोगने वाला है। तीसरा भाई जड़ जगत् प्रकृति भोगों को वहन करने वाला है।[9]

इस प्रकार श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अथर्व वेद में त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

१९—विश्ववन्धु शास्त्री

इन्होंने वेद सन्देश[10] नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है। उसमें वेद और उपनिषदों के अनुसार त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।

'द्वा सुपर्णाः'[11] के भाष्य में ये लिखते हैं—तीन भिन्न भिन्न सत्ताओं का इसमें स्पष्ट वर्णन पाया जाता है।[12] इनके मत में इस मन्त्र में प्रयुक्त वृक्ष शब्द का अर्थ प्रकृति है।[13] तथा 'सखाया' शब्द जीवात्मा और ब्रह्म की भिन्नता सूचित कर रहा है क्योंकि मित्रता अकेले की नहीं होती दो की होती है।[14]

'बालादेकम्'[15] इस मन्त्र में इन्होंने ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का अस्तित्व स्वीकार किया है।[16]

१—अथर्व० ६।६।२०। २—अकामः। अथर्व० १.८।४४।
३—यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः निविशन्ते। अथर्व० ६।६।२१।
४—सुपर्णाः अमृतस्य, भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। अथर्व० ६।६।२२।
५—स मा धीरः पाकमत्राविवेश। अथर्व० ६।६।२२।
६—सुबोध भाष्य, पृ० ११६।
७—सुबोध भाष्य, पृ० ११८। ८—अथर्व० ६।६।१।
९—सुबोध भाष्य, पृ० ११८-११९।
१०—विश्व बन्धु शास्त्री, वेद सन्देश, १ भाग, २ य संस्करण, १९८३।
११—ऋ० १।१६४।२०। १२—वेद सन्देश, पृ० ५१। १३—वहीं
१४—सुबोध भाष्य, पृ० ६२। १५—अथर्व० १०।८।२५।
१६—वेद सन्देश, पृ० ६७।

श्वेताश्वतरोपनिषद् की त्रैतवाद समर्थक श्रुति[1] का भावार्थ इन्होंने इस प्रकार लिखा है—सत्व, रजस् और तमस् गुणमयी, सब विकारों की आदिमूल प्रकृति अजा न पैदा होने वाली है। भोग भोगने वाला जीव अज है। न भोक्ता सदा स्वतन्त्र परमात्मा तीसरा अज है[2]। यहां इन्होंने ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों को अजन्मा अर्थात् अनादि स्वीकार किया है। इस प्रकार विश्वबन्धु का शास्त्रीय मन्तव्य त्रैतवाद ही है।

२०—गंगा प्रसाद उपाध्याय

उपाध्याय जी ने फिलासफी आफ दयानन्द, मीमांसाप्रदीप, आस्तिकवाद, जीवात्मा, अद्वैतवाद, शांकरभाष्यमतावलोचन, जीवनचक्र, मनुस्मृति, एतरेय ब्राह्मण, सायण और दयानन्द, कम्युनिज़म, कर्मफलसिद्धान्त, सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह, शंकर रामानुज दयानन्द, आदि विपुल दार्शनिक साहित्य का निर्माण किया है। गंगा प्रसाद उपाध्याय त्रैतवाद के पूर्ण समर्थक विद्वानों में गिने जाते हैं। इन्होंने अपने साहित्य में दार्शनिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। सिद्धान्त रूप में इन्होंने त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। इनकी दृष्टि में सृष्टि की रचना तीन सत्ताओं की सूचक है—

१—जीव की, जिनके लिए सृष्टि की आवश्यकता है।

२—प्रकृति की, जिसका परिणाम स्वरूप यह सृष्टि है।

३—ईश्वर की, जो अपने ज्ञान और सामर्थ्य से सृष्टि की रचना कर सके।[3]

उपाध्याय जी ने त्रैतवाद सम्बन्धी इन विचारों का आधार सर्वप्रथम ऋग्वेद का नासदीय सूक्त[4] बनाया है। इनके मत में यहां ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का अस्तित्व विद्यमान है। उपाध्याय जी लिखते हैं—

प्रलय के समय प्रकृति के साथ एक ईश्वर था उससे बढ़कर कोई नहीं था[5] परन्तु 'रेतोधा'[6] (जीवात्मा) थे। रेतोधाः' शब्द के विषय में ये लिखते हैं—'रेतोधाः' का क्या अर्थ है? इससे ब्रह्म से तात्पर्य नहीं है। प्रथम तो 'रेतोधाः' बहुवचन है। दूसरे यह कि यदि सृष्टि के बीज को ब्रह्म में माना जाये तो ब्रह्म निर्विकार नहीं रहता। प्रश्न यह है ब्रह्म सृष्टि को क्यों बनाता है? यदि अपने सिवाय और कोई चेतन या इच्छा करने वाली वस्तु थी ही नहीं तो उसने अपने लिये सृष्टि बनाने की इच्छा की होगी। यदि स्वयं अपने लिये इच्छा की तो विकारी हो गया। वस्तुतः यहां कर्म का नाम 'रेत' है क्योंकि सृष्टि कर्म के ही वशीभूत है। किन्हीं जीवों के कर्म करने, किन्हीं के भोग

१—श्वेता० ४।५।
२—वेद सन्देश, पृ० ६१।
३—अद्वैतवाद, पृ० ३४४। प्रकाशक-कलाप्रेस इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९५७।
४—ऋ० १०।१२९।
५—आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनाऽस। ऋ० १०।१२९।२। देखिये उपाध्याय भाष्य, पृ० २९२।
६—रेतोधा—आसन्। ऋ० १०।१२९।५।

करने और किन्हीं के कर्म करने और भोग करने दोनों के लिए सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस कर्म अर्थात् रेत को धारण करने वाले का नाम 'जीव' है यह अनन्त हैं। और प्रलय अवस्था में भी रहते हैं।[1]

प्रकृति को यहां 'स्वधा' कहा है उसी प्रकृति के साथ प्रलयावस्था में ब्रह्म था। मूल उपादान के लिये ही इस सूक्त में 'अप्रकेतम् सलिलं सर्वमा इदम्'[2] कहा है अर्थात् उस समय 'सलिलं' था। उपाध्याय जी 'अप्रकेतम् सलिलम्' का अर्थ लिखते हैं अर्थात् परमाणुओं का समूह था, जिसमें वस्तुओं की पहचान न थी।[3] इनके मत में यहां स्वधा और सलिल शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

जीव और ब्रह्म के भेद के विषय में उपाध्याय जी लिखते हैं—देश और काल की अपेक्षा ब्रह्म और जीव में भेद नहीं। परन्तु जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ। जीव भोक्ता और ब्रह्म भोक्ता नहीं[4]। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। ईश्वर जीवात्मा का पिता, माता[5], बन्धु[6] और राजा है।[7]

अद्वैतवाद ग्रन्थ के अन्त में ये लिखते हैं—वैदिक सिद्धान्त यही है कि ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) तीनों ही मूलतत्व हैं। यह तीनों वस्तुएँ अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य होनी चाहिए।[8]

२१— डा० श्रीराम आर्य

इनके मत में वैदिक धर्म की मान्यता त्रैतवाद की है। वेद, आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति को अनादि स्वतन्त्र सत्तायें मानता[9] है।

स्वरचित 'ईश्वर सिद्धि' नामक ग्रन्थ में ये लिखते हैं—परमात्मा तथा जीवात्मा नित्य, सनातन पृथक् चैतन्य सत्ताएं हैं, तथा प्रकृति जड़ अनादि सत्ता है।[10]

ईश्वर के विषय में इन्होंने वेद के मन्त्रों का आश्रय लेकर कहा है कि यह सब ईश्वर से आच्छादित है[11]। वह परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व विद्यमान था।[12] वह एक है।[13]

१—अद्वैतवाद, पृ० २६८-२६६। २—ऋ० १०।१२६।३।

३—अद्वैतवाद, पृ० २६७।

४—जीवात्मा, पृ० ३११। प्रकाशक, कला प्रेस, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, १६६४।

५—त्वंहि नः पिता वसो त्वं माता। ऋ० ८।१०।६।

६—सनो बन्धुः। यजु० ३२।१०। ७—एक इत् राजा। यजु० ३२।३।

८—अद्वैतवाद, पृ० ३४४।

६—डा० श्रीराम, गीता विवेचन, पृ० ८१। प्रकाशक—वैदिक साहित्य प्रकाशक, कासगंज, द्वितीय संस्करण, १६६६ ई०।

१०—ईश्वर सिद्धि, पृ० ५२। प्रकाशक, वहीं द्वितीय संस्करण १६७१ ई०।

११—यजु० ४०।१। वहीं, पृ० ३१। १२—ऋ० १०।१२१।१। वहीं।

१३—श्वेता० ६।११। वहीं पृ० ३४

जीवात्मा के विषय में वेद का प्रमाण देते हुए ये लिखते हैं जीवात्मा शीघ्रगामी अविनाशी, प्रयत्नवाला, शरीर रूपी नगर में रहने वाला है[1]। जीवात्मा को इन्होंने न्याय[2] और वैशेषिक दर्शन[3] के अनुसार सुख दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न वाला माना है।

प्रकृति को इन्होंने सांख्य दर्शनानुसार सत्व, रज और तम की साम्यावस्था के रूप में स्वीकार किया है।[4]

इन्होंने ऋग्वेद के मन्त्र (द्वा सुपर्णा) में भी त्रैतवाद को स्वीकार किया है।[5]

२२—धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड

इन्होंने 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें वेदों में त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद के मन्त्र 'द्वा सुपर्णा'[6] के भाष्य में इन्होंने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है।[7] त्रैतवाद के समर्थन में इन्होंने एक वेद मन्त्र[8] और उपस्थित किया है जिसका भाष्य करते हुए लिखा है—तीन अनादि पदार्थ हैं, उनमें से एक जीव बाल से भी सूक्ष्म है और प्रकृति रूप नित्य पदार्थ अव्यक्त वा सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई देता। इन दोनों को भी अन्तर्यामी रूप से मानों आलिंगन करने वाली जो देवता है वह परमेश्वर रूप देवता मुझे सबसे अधिक प्रिय है।[9]

नासदीय सूक्त में अद्वैत का खन्डन करते हुए आप लिखते हैं—इस प्रकार विवेचन से यह स्पष्ट है कि नासदीय सूक्त[10] तथा अन्य मन्त्रों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता किन्तु ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन अनादि पदार्थों की सत्ता ही सिद्ध होती है।[11]

२३—डा०हरिदत्त शास्त्री

ये वेदों में त्रैतवाद का समर्थन करते हुए लिखते हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति प्रवाह से अनादि माने जाते हैं, यह वैदिक सिद्धान्त है[12]। इन्होंने यहां तक घोषणा की है, कि केवल त्रैतवाद ही वैदिक है।[13]

१—ऋ० १।१६४।३०। वहीं पृ० ५२।

२—वैशे० ३।१।४। वहीं।

३—न्याय० १।१० वहीं,।

४—सांख्य, १।६१। ईश्वर सिद्धि, पृ० ७४।

५—ऋ १।१६४।२०। वहीं, पृ० ७८।

६—ऋ० १।१६४।२०।

७—वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ० १६१।

८—अथर्व० १०।८।२५।

९—वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ० १६८।

१०—ऋ० १०।१२९।

११—वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ० १७३।

१२—वेदवाणी, पृ० १०। अंक ३। जनवरी १९६४। प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।

१३—वहीं पर।

ईश्वर के विषय में यजुर्वेद[1] का प्रमाण देते हुए ये लिखते हैं सृष्टि कर्त्ता परमेश्वर अनादि और अनन्त है[2]।

अथर्ववेद[3] का प्रमाण देते हुए जीवात्मा के विषय में इन्होंने लिखा है—यह जीवात्मा कल्याण करने वाला, जरारहित और अमर है[4]।

ऋग्वेद के मन्त्र[5] का प्रमाणदेकर प्रकृति को भी इन्होंने अनादि प्रतिपादित किया है।

इन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों की सत्ता एक ही मन्त्र में प्रतिपादित करते हुए लिखा है—तीन प्रकाशित पदार्थ (ईश्वर,जीव, प्रकृति) नियमानुसार विविध कार्य कर रहे हैं। इनमें से एक परमेश्वर सन्धिकाल (प्रलय और जगत्-के माध्य) में बीज डालता है। एक (दूसरा जीवात्मा) अपने सामर्थ्य से जगत् को दोनों और (लोक और-परलोक की दृष्टि) से देखता है। एक (तीसरी प्रकृति) का वेग दिखाई देता है, रूप नहीं अर्थात् प्रकृति का कार्य तो दिखाई देता है परन्तु प्रकृति को कोई नहीं देख सकता[6]। इसी प्रकार अथर्व वेद में भी इन्होंने तीनों तत्वों की एकत्र सत्ता स्वीकार की है।[7]

२४—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

इन्होंने ग्यारह उपनिषदों पर हिन्दी में भाष्य किया, जो 'एकादशोपनिषद्[8] नाम से प्रसिद्ध है। 'श्रीमद्भगवत् गीता[9] पर भी इन्होंने भाष्य किया है। इन दोनों ग्रन्थों में इन्होंने त्रैतवाद की पूर्ण पुष्टि की है।

कठोपनिषद् की श्रुति[10] का त्रैतवाद समर्थक अर्थ करते हुए इन्होंने लिखाहै—एक सब को वश में रखने वाला, सबका नियन्ता सब भूतों में व्याप्त अन्तर्यामी (परमेश्वर) एक रूप को, अनादि कारण रूप प्रकृति को अनेक प्रकार का करता है, आत्मा में व्याप्त उस को जो गहराई से जानते हैं, उनका ही आनन्द निरन्तर रहने वाला होता है दूसरों का नहीं।[11]

१—स्वयम्भूः। यजु० ४०।८।   २—वेदवाणी, पृ० १०।

३—इयं कल्याण्यजरामर्त्यस्यामृतागृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥अथर्व० १०।८।२६।

४—वेदवाणी, पृ० १०।   ५—ऋ० १।१६४।२० वहीं

६—त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥
ऋ० १।१६४।४४। वेदवाणी, पृ० १०।

७—अथर्व० १०।८।२५। वहीं।

८—एकादशोपनिषद्, प्रकाशक विद्याविहार, ४ बलवीर ऐवेन्यु देहरादून।

९—श्रीमद्भगवत् गीता, प्रकाशक, वही।

१०—एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
कठ० ५।१२

११—एकादशोपनिषद्, पृ० ६८।

मुण्डकोपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा,'[१] का अर्थ भी इन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति से सम्बन्धित ही किया है[२]। मुण्डकोपनिषद् की अन्य श्रुति[३] का भाष्य करते हुए ये लिखते हैं—'प्रकृतिरूपी वृक्ष तो दोनों के लिये समान ही है, परन्तु जीवात्मा तो उसके फल को देखकर बेबस हो जाता है, सामर्थ्यहीन हो जाता है, उसी के खाने में निमग्न हो जाता है और पीछे अपनी मूर्खता पर पछताने लगता है और परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष के फल को नहीं खाता। जीवात्मा जब परमात्मा की इस महिमा को देख लेता है तब शोक करना छोड़ देता है।[४]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति का स्पष्ट वर्णन स्वीकार किया है तथा तीनों के अनादित्व को स्वीकार किया है।[५] इनके कुछ भाष्य देखिये—

'हमने यह जो कुछ गाया वह परम-ब्रह्म-चक्र का गीत गाया। इस ब्रह्म-चक्र में 'ईश्वर, जीव, प्रकृति' ये तीन अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्व सुप्रतिष्ठित हैं।[१]'

दो 'अजे' (अजन्मा) हैं....'ज्ञ' और 'अज्ञ'। ज्ञ ईश है, अज्ञ अनीश है। इन दो अजों के अतिरिक्त एक तीसरी अजा (अजन्मा) है। दो अज (ईश्वर और जीव) और एक अजा (प्रकृति) है—यह अजा भोक्ता (जीव) के भोग के लिये है।[६]

प्रधान अर्थात् प्रकृति क्षर है, खर जाने वाली है. अमृत अर्थात् ईश्वर अक्षर है। क्षररूपा प्रकृति तथा जीवात्मा इन दोनों पर स्वामित्व उसी एक देव का—ईश्वर का है।[८]

वह नित्य देव कहीं दूर नहीं, आत्मा में हीं स्थित है, उसी को जानना चाहिये। उसे जानने के बाद, उससे परे जानने योग्य कुछ भी नहीं रहता। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है, ईश्वर प्रेरक है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक यह त्रिविध ब्रह्म है। ब्रह्म अर्थात् महानता के ये ही तो तीन रूप हैं।[९]

१—मुण्डक० उ० ३।१।१।

२—देखिये एकादशोपनिषद् पृ० १७६।

३—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।
मुण्डक० ३।१।२।

४—एकादशोपनिषद्, पृ० १७८।

५—एकादशोपनिषद्, पृ० ६८६।

६—उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च। श्वेता० उ० १।७ वहीं, पृ० ६८६।

७—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। श्वेता० १।९। वहीं, पृ० ६८७।

८—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। श्वेता० १।१०। वहीं।

९—एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किं चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।१२ पृ० ६८८।

वह इकला अनेक निष्क्रिय तत्वों को वश में करने वाला है। वह एक बीज-रूप प्रकृति को अनेक बना देता है। जो वीर लोग आत्मा में स्थित उसे निकट से देखते हैं उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं[1]। इस भाष्य से त्रैतवाद का पूर्ण प्रतिपादन स्पष्ट हो जाता है।

प्रो० सत्यव्रत का मत है कि गीता में त्रैतवाद तथा ब्रह्मात्मैकत्ववाद दोनों पाये जाते हैं[2]। इसका कारण है कि गीता का सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी विशेष सिद्धान्त पर आग्रह नहीं है। गीताकार के समय जो भी सिद्धान्त प्रचलित थे उन सबका उसने आश्रय लिया है।[3]

इनकी दृष्टि में गीता में १३ वें अध्याय में त्रैतवाद पाया जाता है। इस अध्यायके २२ वें श्लोक में कहा है—पुरुष अर्थात् जीव प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है[4]। इसका आशय यह है कि पुरुष अर्थात् जीवात्मा तथा प्रकृति - ये दो अलग-अलग तत्व हैं। इसी से अगले २३ वें श्लोक में कहा है—पुरुष अर्थात् जीव से अतिरिक्त परमात्मा नाम का एक परम पुरुष हैं।[5] वहीं पर ये लिखते हैं 'इनसे स्पष्ट है कि गीता ने यहाँ पुरुष, प्रकृति, परमात्मा इन तीनों तत्वों का प्रतिपादन करते हुए त्रैतवाद का समर्थन किया है[6]

गीता के १५ वें अध्याय में भी त्रैतवाद स्वीकार करते हुए ये लिखते हैं—गीता के १५ वें अध्याय के १६ वें श्लोक में कहा है—इस लोक में क्षर अर्थात् प्रकृति तथा अक्षर अर्थात् जीव ये दो तत्व हैं[7]। इसी से आगे के श्लोक में कहा है—इन दोनों के अतिरिक्त परमातमा नाम का अन्य तत्व है[8]।

उपनिषदों में जिन वाक्यों का अद्वैतवादी अद्वैतवाद समर्थक अर्थ करते हैं उनका प्रो० सत्यव्रत ने त्रैतवाद समर्थक अर्थ इस प्रकार किया है—

१—'प्रज्ञानम् ब्रह्म' (एतरेय० ३।३) बुद्धि का अधिष्ठाता आदि गुरु ब्रह्म है[9]।

२—'तत्त्वमसि' (छोन्दोग्य, ६।८।७) तत्वम् + असि तू तत्व है, सत् है[10]।

३—'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१) जिस ब्रह्म ज्योति का अभी वर्णन किया, यह सब 'ब्रह्म' है।[11]

४—'अयमात्मा ब्रह्म' (बृहदा० २।५।१९) यह सतत ज्ञान, गमन, प्राप्तिशील, सबसे बड़ा (ब्रह्म) है।[12]

१—एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
श्वेता० ६।१२। एकादशोपनिषद् पृ० १०३२।

२—प्रो० सत्यव्रत भाष्य, गीता पृ० ६।
३—वहीं, पृ० ८।

४—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
५—परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष।

६—वहीं पर, पृ० ६।

७—द्वाविमौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। प्रो० सत्यव्रत भाष्य, गीता पृ० ६।

८—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। वहीं, पृ० ७।

९—एकादशोपनिषद् प्रो० सत्यव्रत भाष्य, पृ० २८८।
१०—वहीं, पृ० ५५४।

११—वहीं, पृ० ४१३।
१२—वहीं, पृ० ७७३।

५—'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० १।४।१०) ब्रह्म सृष्टि रचना से पहले सत्तावाला था। तो उसने अपने स्वरूप को जाना मैं ब्रह्म (बड़ा महान्) हूँ[1]।

प्रकृति के विषय में उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—ऋग्वेदादि संहिता ग्रन्थों में स्वधा[2], अदिति[3], त्रिगुण[4] तथा वृक्ष[5] आदि पदों से प्रकृति का जगत् उपादान के रूप में स्पष्ट तथा विशद वर्णन मिलता है[6]।

इनके अनुसार मैत्र्युपनिषद् में त्रैतवाद है—इस उपनिषद में[7] कर्मफलों से अनभिभूत, शुद्ध, स्थिर, अचल, निःस्पृह परमात्मा का निर्देश है। जो अकेला सर्वसंसार में व्याप्त हो रहा है, वह कभी शरीर के बन्धन में न आने के कारण कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों से रहित है[8]। पुरुष (जीवात्मा) भोक्ता है तथा प्रकृति भोग्य है।[9]

कठोपनिषद् में त्रैतवाद के विषय में इनका निम्नलिखित मत है—

इस उपनिषद् में एक सबका नियन्त्रण करने वाले सर्वान्तर्यामी, जगत्कर्ता, परमात्मा को जीवात्मा में स्थित रहने वाला कहा गया है[10]।

रथ रथी के रूपक की कल्पना करके आत्मा, स्थूल शरीर बुद्धि, मन, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय तथा आत्मा के भोक्ता रूप का स्पष्ट उल्लेख है[11]।

२५—उदयवीर शास्त्री

उदयवीर शास्त्री ने सांख्य दर्शन का इतिहास, सांख्य सिद्धान्त, वेदान्तदर्शन का इतिहास ग्रन्थ लिखे हैं तथा सांख्य, वेदान्त, और वैशेषिक आदि दर्शनों पर भाष्य किया है। इन्होंने त्रैतवाद को वेदमूलक मानते हुए ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के विषय में वैदिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

ऋग्वेद के मन्त्र का भाष्य करते हुए परमेश्वर को जगत् का निमित्तकारण सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—देवों के आदिसर्गकाल में परमात्मा ने इनकी उसी प्रकार रचना की जिस प्रकार कोई शिल्पी वस्तुओं को बनाता है। उस समय यह जगत् अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आ जाता है।[12] उनकी दृष्टि में—यह उपमा एक अर्थ को

१—वहीं, पृ० ६६३।

२—ऋ० १।१६४।३८ तथा वहीं १।१६५।५,६, तथा वहीं ५।३४। १।

३—ऋ० १०।७२।

४—अथर्व० १०।८।४३।

५—ऋ० १।१६४।२०।

६—सांख्य सिद्धान्त, पृ० १४८।

७—मैत्र्युपनिषद् २।७।

८—सांख्यसिद्धान्त पृ० ४११।

९—पुरुषश्चेता प्रधानान्तःस्थः स एव भोक्ता। मैत्र्युपनिषद् ६।१०। सांख्यसिद्धान्त, पृ० ४०७।

१०—कठ० २।२।१२, १३।

११—क० १।३।३,४।

१२—ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगे सतःसदजायत्। ऋ० १०।७२।२।

देखिये इस पर उदयवीर भाष्य सांख्य सिद्धान्त पृ० ३४२।

अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित करती है और वह यह कि कोई शिल्पी अन्य उपादान से किसी वस्तु की रचना करता है इसी प्रकार परमात्मा अन्य उपादान से उन देवों की रचना करता है।[1] वेद में जीवात्मा के लिये इनके मत में 'यक्ष[2]' शब्द का प्रयोग है। वह जीवात्मा इस शरीर में 'हिरण्यय' कोश में रहता है। हिरण्यय कोश क्योंकि मस्तिष्क में है अतः जीवात्मा मस्तिष्क में रहता है।[3]

प्रकृति को अव्यक्त[4] कहा गया है। इस प्रकार तीनों तत्वों का उल्लेख इस उपनिषद् में उदयवीर शास्त्री स्वीकार करते हैं।[5]

शास्त्री जी की दृष्टि में मुण्डकोपनिषद् में आत्मा और परमात्मा को सर्वथा भिन्नरूप में वर्णन किया गया है तथा इन चेतन सत्ताओं से सर्वथा भिन्न अचेतन प्रकृति का निर्देश है।[6]

उदयवीर शास्त्री के अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों का वर्णन है। एक कण्डिका[7] के भाष्य में ये लिखते हैं—सर्वज्ञ अनादि परमात्मा, अल्पज्ञ भोक्ता जीव तथा भोक्ता जीव के भोगों के लिये अर्थों को प्रस्तुत करने वाला अनादि प्रकृति इन तीनों तत्वों का स्पष्ट उल्लेख है, ये तीनों अनादि हैं।[8]

पुनः एक कण्डिका में कहा है—संसार में तीन प्रकार के तत्व बताये गये हैं—भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता। भोक्ता जीवात्मा है, भोग्य प्रकृति तथा प्रेरिता परमात्मा। भोग्य जड़ प्रकृति परमात्मा की प्रेरणा के बिना कुछ नहीं कर सकती[9]। इनके अतिरिक्त 'अजामेकाम्' द्वा सुपर्णाः, 'समाने वृक्षे'[10] इन कण्डिकाओं में तीन तत्वों का विशद वर्णन है।

दर्शनों में शास्त्री जी ने त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है—इनके मत में सांख्यदर्शन में उपादानभूत ईश्वर असिद्ध है[11]। परन्तु ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है[12]। वह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। जगत् के अधिष्ठातृभूत ईश्वर की सिद्धि निश्चित है जो सर्वान्तर्यामी होता हुआ सकल जगत् की रचना करता है।[13] सांख्य में प्रकृति और जीवात्मा का विषय

१—वहीं पृ० ३४६।

२—तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः। अथर्व० १०।२।३२।

३—सांख्य सिद्धान्त, पृ० ११६।

४—कठ० १।३।१०, ११।

५—सांख्य सिद्धान्त, पृ० ४२५।

६—मुण्डक० ३।१।१। सांख्य सिद्धान्त, पृ० ४२७।

७—श्वेता० १।६।

८—सांख्यसिद्धान्त, पृ० ४१६।

९—भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १।१२।
देखिये उदयवीर भाष्य, सांख्यसिद्धान्त, पृ० ४२०।

१०—श्वेता० ४।५,६,७।

वहीं, पृ० ४२०-४२१।

११—सांख्य० १।५७। सांख्यदर्शन, उदयवीर भाष्य पृ० ४२

१२—तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। सांख्य १।६१। वहीं, पृ० ४६

१३—सांख्य० ३।५६, वहीं पृ० १४६।

विवादास्पद नहीं है। अतः इस दर्शन में शास्त्री जी त्रैतवाद को स्वीकार करते हैं।

वेदान्त दर्शन पर विद्योदय भाष्य[1] करते हुए उदयवीर शास्त्री अपने भाष्य की प्रस्तावना में लिखते हैं—दृष्टादृष्ट जगद्रूपी पहेली का हल आर्य लोग सदा इस वैदिक त्रैतवाद का सहारा लेकर करते आये हैं। उनका विचार रहा है कि संसार में ईश्वर, जीव, और प्रकृति ये तीन अनादि हैं। प्रकृति को केवल सत्, जीव को सच्चित और ईश्वर को सच्चिदानन्द मानते थे। महर्षि वेद व्यास ने वेदान्त दर्शन इन्हीं विचारों की पुष्टि करने के लिए प्रणीत किया है।[2]

इन आचार्यों के अतिरिक्त त्रैतवाद के समर्थक आधुनिक विद्वानों में पं० श्रीराम शर्मा,[3] चन्द्रमणि विद्यालंकार,[4] वैद्यनाथ शास्त्री[5], डा० अमरसिंह[6], श्री घासी राम[7], बिहारीलाल शास्त्री[8], बाबा विष्णुदयाल[9], पं० राजा राम[10] आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है।

२६—मूल्यांकन

चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन के बाद निराशा में डूबे हुए आस्तिकों के लिये आचार्य शंकर आशा का पीयूष लेकर अवतरित हुए। उनके द्वारा नास्तिक दर्शनों का खण्डन तथा ब्रह्म की सत्ता का मण्डन, एक क्रान्तिकारी घटना सिद्ध हुई। केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड में व्यस्त व्यक्तियों के सामने आचार्य शंकर का 'अद्वैत' दर्शन एक अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुआ। इनका दर्शन लगभग समस्त भारत में फैल गया।

उसके बाद १४ वीं शताब्दी के लगभग एक घटना और घटित हुई। जिस प्रकार राज्याश्रय पाकर बौध धर्म विदेशों में भी फैला था, उसी प्रकार अद्वैतदर्शन ने भी राज्याश्रय पाकर विदेशों में भी अपने पैर जमाये। आचार्य सायण जो कि अद्वैतवाद सिद्धान्त को मानने वाले थे उन्हें अद्वैतवाद समर्थक राजा 'बुक्क' आश्रयदाता के रूप में मिला। उन्हीं के सहयोग से आचार्य सायण ने अद्वैतवाद से अनुप्राणित होकर वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों पर विशाल भाष्य किया। इन सभी ग्रन्थों में इन्होंने जब अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। संस्कृत प्रेमी विदेशी विद्वान मोक्षमूलर

१—वेदान्तदर्शन विद्योदय भाष्य, प्रकाशक, विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, सम्वत् २०२३।

२—देखिये विद्योदय भाष्य, वेदान्त दर्शन, पृ० ५।

३—इनके साहित्य प्रकाशन स्थान—संस्कृति संस्थान बरेली, उ० प्र।

४—चन्द्रमणि भाष्य मनुस्मृति, भास्कर प्रेस, देहरादून, द्वितीय संस्करण, १९४६।

५—वैद्यनाथ शास्त्री सामवेद भाष्य, प्रकाशक आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, प्रथम संस्करण १९६६।

६—डा० अमरसिंह, वैदिक ईश्वरवाद, आत्माराम एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट दिल्ली—६, प्रथम संस्करण १९७०।

७—देखिये—लेख-ईश्वर, जीव, प्रकृति का अनादित्व। श्रीमद्दयानन्द शताब्दि वृतान्त—
प्रकाशक सार्वदेशिक सभा, देहली।

८—वेदान्तदर्शन, पृ० २०। प्रकाशक आर्य पुस्तकालय बरेली: द्वितीय संस्करण।

९—देखिये बाबा विष्णुदयाल का लेख—बहुचर्चित त्रैतवाद। वेदवाणी अंक १०। १९६३ ई०, पृ० १३।

१०—देखिये पं० राजाराम भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्; बाम्बे मशीन प्रेस, लाहौर। तृतीय संस्करण १९७९।

(मेक्समूलर) आदि ने लगभग सायण के भाष्य का ही अंग्रेजी में अनुवाद किया। अंग्रेजी जानने वाले दार्शनिक जिज्ञासुओं को भारतीय दर्शन के रूप में अद्वैतवाद के ही विशेष दर्शन हुए।

उसके बाद रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में जाकर अद्वैत दर्शन को ही भारतीय दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

इधर भारत में शास्त्रीय दृष्टि से कम पठित परन्तु बहुश्रुत महात्मा कबीर, गुरु नानक, दादूयाल, रैदास, मलूकदास, पल्टूदास आदि ज्ञानमार्गी सन्त तथा सूफीसन्त जायसी, कुतुबन, मन्झन, उसमान आदि भी अपने समय के बहुचर्चित अद्वैतदर्शन से प्रभावित हुए।

यद्यपि आचार्य शंकर ने जिस प्रस्थानत्रीय (गीता, उपनिषद्, वेदान्तदर्शन) पर भाष्य किया उसी पर श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत तथा मध्वाचार्य ने द्वैत दर्शन की आधारशिला रखी तथा अद्वैतवाद का प्रबल खण्डन किया। परन्तु ये दोनों दर्शन भी इतने प्रभावशाली ढंग से विख्यात न हो सके जितना कि 'अद्वैतदर्शन'। इसका एक मुख्य कारण यह भी रहा कि अद्वैतदर्शन में ज्ञान की प्रधानता दी गई। जबकि श्री रामानुज और मध्व के दर्शन में अवतारवाद के साथ भक्ति को प्रधानता दी गई। भक्ति प्रधान विचारों में ज्ञान को नीरस समझ कर उसे उपेक्षणीय सिद्ध किया गया।[१] इसका परिणाम यह हुआ कि रामानुज सम्प्रदाय में और मध्व सम्प्रदाय में ज्ञानप्रधान दार्शनिक विचार केवल ग्रन्थों में रह गये। भक्ति तथा मूर्ति पूजा का अधिक प्रचार रहा। परन्तु अद्वैतदर्शन ज्ञान प्रधान होने के कारण वह मनीषियों के मष्तिष्क का अविच्छिन्न रूप में भोज्य बना रहा।

परन्तु युगप्रवर्तक आचार्य महर्षि दयानन्द ने इन प्रचलित सम्प्रदायों की लीक पर न चलकर स्वतन्त्र दार्शनिक विचारधारा का प्रचार किया। उन्होंने अपने दर्शन का आधार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और छः आस्तिक दर्शनों को बनाया।

उन्होंने कल्पना प्रधान दर्शन अद्वैत का, जिसमें यह सृष्टि केवल अबोध बालक का खेल तथा मिथ्या बतलाई गई, प्रबल खण्डन किया तथा दार्शनिक विचारों का भवन यर्थार्थ के आधार पर खड़ा किया।

मनीषीगण यह सोचने के लिये विवश हो गये कि अद्वैत के अनुसार सर्वज्ञ ईश्वर अविद्या में क्यों फंसता है। यदि हम केवल व्यष्टि अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही हैं तो यह पाप, पुण्य का कर्ता भी वही सिद्ध हो जाता है। यह सोचकर एक स्वतन्त्र आचरण की प्रवृत्ति जीवन में आ जाती है जिसमें धर्म, अधर्म सब कुछ करना उचित हो जाता है क्योंकि इन सबका कर्त्ता और भोक्ता वही ब्रह्म सिद्ध होता है।

महर्षि दयानन्द ने कहा कि न ब्रह्म मिथ्या है, न जीवात्मा मिथ्या है, और न प्रकृति मिथ्या है। यह कार्य रूप जगत् भी मिथ्या नहीं क्योंकि यह भाव रूप में अपने मूल उपादान में विद्यमान रहता है। ये तीनों अनादि हैं।

१—देखिये—सूर के सूरसागर में 'भ्रमरगीत प्रसंग' जिसमें भक्ति और प्रेम के सम्मुख ज्ञान की पराजय दिखलाई है।

इस त्रैत दर्शन में ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, जन्म मृत्यु, मोक्ष आदि की व्याख्या यथार्थ और वैज्ञानिक ढंग से हो जाती है।

इस विज्ञान प्रधान युग में यह दर्शन मान्य हुआ। महर्षि दयानन्द की ही परम्परा में इन सभी आचार्यों और विद्वानों ने इस दर्शन के प्रचार और प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

त्रैतदर्शन के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के बाद उनके सुयोग्य शिष्यों ने तथा दार्शनिक विद्वानों ने दार्शनिक साहित्य पर विशाल भाष्य करके त्रैतदर्शन का भव्य भवन खड़ा किया। पं० भीमसेन शर्मा, पं० शिवशंकर आदि विद्वानों ने संस्कृत भाषा में दार्शनिक साहित्य का पर्याप्त भाष्य करके त्रैतदर्शन को परिपक्वता प्रदान करके प्रशंसनीय कार्य किया है। उसी प्रकार आर्य मुनि तुलसीराम, प्रो० सत्यव्रत, उदयवीर शास्त्री, आदि ने भी दार्शनिक साहित्य का हिन्दी में भाष्य करके त्रैतदर्शन के भवन को सुदृढ़ किया है।

सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य पर यथार्थ पर आधारित वैज्ञानिक व्याख्या इन विद्वानों की प्रमुख विशेषता रही है। इन्होंने त्रैतवाद दर्शन का अन्य दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्हीं विद्वानों के फलस्वरूप यह त्रैतवादी दार्शनिक विचारधारा अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

षष्ठाध्याय

दार्शनिक विचारधाराओं में त्रैतवाद का स्थान

१—चार्वाक दर्शन

इस मत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कहते हैं कि बृहस्पति ने इसके सिद्धान्तों को लेकर एक सूत्र ग्रन्थ बनाया था। कुछ सूत्रों का सार यह है—

१—पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्वानि।	पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार तत्व हैं।
२—तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषयसंज्ञा।	इन्हीं भूतों के संगठन को शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया है।
३—तेभ्यश्चैतन्यम्।	इन्हीं भूतों के संगठन से चेतन्य उत्पन्न होता है।
४—चेतन्याविशिष्टः कायः पुरुषः।	चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही आत्मा है।
५—जलबुद्बुदवज्जीवः।	जल के बुलबुले के समान जीव है।
६—परलोकिनो भावात् परलोकाभावः।	परलोक में रहने वाले कोई नहीं, अतः परलोक नहीं।
७—मरणमेवापवर्गः।	मरण ही मोक्ष है।
८—अर्थकामौ पुरुषार्थौ।	अर्थ और काम ये पुरुषार्थ हैं।
९—प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।	प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।
१०—लौकिक मार्गोऽनुसर्तव्यः।	लौकिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[1]

चार्वाकों की दृष्टि में नारी-आलिंगनजन्य सुख ही पुरुषार्थ है[2]। ये पुनर्जन्म को नहीं मानते, इनका कहना है कि जब तक जीवे सुख से जीवे ऋण करके घी को पीवे। भस्मीभूत देह का पुनरागमन नहीं होता[3]। चार्वाकों ने वेदों की निन्दा करते हुए कहा है कि ये तो बुद्धि और पुरुषार्थहीन व्यक्तियों की जीविका है[4]। इन वेदों के कर्ता भण्ड, धूर्त और निशाचर हैं।[5]

१—उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन पृ० ८६-८७।

२—अंगनालिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। माधवाचार्य-सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २।

३—यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः॥ वहीं पृ० ८।

४—अग्निहोत्रं त्रयोवेदा—। बुद्धिपौरुष हीनानां जीविका—॥ वहीं पृ० ७।

५—त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। वहीं पृ० ८।

२—तुलनात्मक समीक्षा

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन है। इसमें न तो ईश्वर नाम की कोई सत्ता स्वीकार की जाती है और न चेतन नामक कोई नित्य अनादि जीवात्मा। यह केवल पृथ्वी आदि चार भौतिक तत्वों को मानता है। इसमें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों में से किसी एक को भी स्वीकार नहीं किया जाता। चार्वाक दर्शन में केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण को माना जाता है। अतएव उनकी दृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय न होने के कारण हैं ही नहीं।

त्रैतवाद दर्शन में जो कुछ आधार तत्व माने जाते हैं उन्हें चार्वाक दर्शन बिलकुल स्वीकार नहीं करता। त्रैतवाद दर्शन में तीनों तत्व अनादि स्वीकार किये जाते हैं तथा पुनर्जन्म, मोक्ष आदि विषयों को भी माना जाता है, परन्तु चार्वाक इन्हें नहीं मानता। चार्वाक दर्शन का त्रैतवादियों ने खण्डन किया है[1]।

३—जैन दर्शन

इस दर्शन में परमात्मा नामक सर्वशक्तिमान चेतना सत्ता को नहीं माना जाता,[2] किन्तु आत्मा का अस्तित्व माना है। जैनों की आत्मा परिणामी है। इनके जीव 'अस्तिकाय' कहलाते हैं अर्थात् जीव एक प्रकार से शरीरधारी है। यह छोटा बड़ा हो सकता है। इसके टुकड़े भी किये जा सकते हैं। भूतों से पृथक् होते हुए भी इनकी आत्मा भूतों जैसी ही है[3]। प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है। दर्शन, ज्ञानादिगुणों के विपुल तारतम्य से जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है। यह माध्यम परिणाम वाला है, अपने निवास भूत शरीर के परिमाण को धारण करने वाला है। इसी कारण से हस्ती के विशालकाय में रहने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है।[4]

जैन दार्शनिक इस जगत् के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है[5]। जैनदर्शन विश्व के कण कण में जीवों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा किसी प्रकार की इन्हें हानि न पहुँचाने के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अहिंसा को परम धर्म मानता है।[6]

१—देखिये—महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास १२, पृ० ५४७।

२—एम० हिरियन्ना—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १५६।

३—उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ६७।

४—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० १०६-११०।

५—राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३३४।

६—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ११७।

जैन न्याय में सत्ता के सापेक्षा रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे 'सप्तभंगी नय' के नाम से पुकारते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—स्यादस्ति— किसी प्रकार में है।

२—स्यान्नास्ति— किसी प्रकार में नहीं भी है।

३—स्यादस्ति च नास्ति च— कथंचित है और नहीं है।

४—स्यादवक्तव्यम्— कथंचित् वर्णनातीत है।

५—स्यादस्ति च अवक्तव्यं च— किसी प्रकार में है और अवक्तव्य है।

६—स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च— कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है।

७—स्यादस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यम् च— कथंचित् है, नहीं है तथा अवक्तव्य है।[1]

जैनधर्म में सात प्रकार के मूल तत्व माने जाते हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, तथा मोक्ष।[2]

(१) जीव—जितना जिस प्राणी का शरीर है उतना ही जीव होता है।[3]

(२) अजीव—अजीवों में जिनके शरीर होते हैं ये अजीवकाय कहलाते हैं। ये बहुत व्यापक होते हैं।[4] अजीव को जैनदर्शन में 'पुद्गले' भी कहा जाता है। अन्य दर्शनों में पुद्गल स्थानीय तत्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं।[5]

(३) आश्रव— जैनों ने काय, वचन तथा मन में क्रिया मानी है जिसे ये योग कहते हैं। इन्हीं क्रियाओं के द्वारा कर्म पुद्गल जीव में प्रवेश करता है। कर्म पुदगलों का जीव में योग्य के द्वारा प्रवेश करने को आश्रव कहते हैं। इस प्रकार आश्रव से जीव कर्म बन्धन में पड़ जाता है अतएव आश्रव बन्धन का एक कारण है।

(४) बन्धन—उपर्युक्त क्रिया को ही बन्धन कहा जाता है।

(५) सम्वर—बन्धन के कारण को दूर करने को सम्वर कहते हैं।

(६) निर्जरा—जीव से चिमटे हुए कर्म पुद्गलों के नाश को निर्जरा कहते हैं।

(७) मोक्ष—सिद्ध शिला में अनन्त काल तक वास करना।[6]

१—वहीं पृ० १०५

२—जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरमोक्षास्तत्वानीति। माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४४।

३—उमेश मिश्र – भारतीय दर्शन, पृ० १२०।

४—बलदेव उपाध्याय —भारतीय दर्शन, पृ० ११०।

५—उमेश मिश्र —भारतीय दर्शन, पृ० ११०।

६—उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० १२०।

४—तुलनात्मक समीक्षा

जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता नहीं मानता।[1] ईश्वर को त्रैतवाद में सर्वोपरि सत्ता के रूप में माना जाता है।

जैन दर्शन में जीवात्मा का विचित्र तथा परस्पर विरोधी स्वरूप माना है। उसे नित्य भी माना है तथा परिणामी भी। साथ ही उसमें ही अनन्तता मानी है। संसार में जीवात्मायें छोटी बड़ी हैं।

त्रैतवाद में जीवात्मा अपरिणामी स्वरूप से अणु है तथा उसके कर्म और ज्ञान सान्त हैं। अनन्तशक्ति तो केवल ईश्वर है।

अजीव तत्व से जैनों ने अचेतन तत्व की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है परन्तु इससे अचेतन जगत् के मूल तत्व का सन्तोषजनक समाधान नहीं हो पाता।

त्रैतवाद में मूलभूत तत्वों के स्वरूप को सम्यक् प्रकार समझाया गया है। त्रैतवाद में ईश्वर प्रेरक तथा निमित कारण है, प्रकृति त्रिगुणात्मिका और भोग्य है तथा जीव भोक्ता है। तीनो ही अनादि तत्व हैं।

जैन धर्म में कर्मकर्ता भी जीव है और फल प्राप्ति भी उसी के अधीन है। त्रैतवाद में जीव कर्म कर्ता है तथा फल ईश्वराधीन हैं। जैनों में सिद्धशिला में अनन्त काल तक एक स्थान पर ही वास करना जीव का मोक्ष माना जाता है। त्रैतवाद में जीवात्मा मुक्तावस्था में ब्रह्म में सर्वत्र विचरता है। त्रैतवादियों ने इस दर्शन का भी खण्डन किया है[2]।

५—बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म ५६३ ई० पू० के आसपास हुआ। बौद्ध दर्शन में विश्व को क्षण-भंगुर माना गया है[3]। बौद्धदर्शन में चार बातें मुख्य हैं—

१—ईश्वर को न मानना।

बौद्ध दर्शन में उपादान कारण रूप या निमित्त कारण रूप ईश्वर को नहीं माना जाता। वे कहते हैं—यदि ईश्वर उपादान कारण है तो जगत् ईश्वर का रूपान्तर है। फिर संसार में जो भी बुराई-भलाई, सुख-दुःख, दया-क्रूरता देखी जाती है वह सभी ईश्वर से और ईश्वर में है। फिर तो ईश्वर सुखमय की अपेक्षा दुःखमय है क्योंकि संसार में दुःख का पलड़ा भारी है। ईश्वर दयालु की अपेक्षा क्रूर अधिक है क्योंकि दुनिया में चारों तरफ क्रूरता का राज्य है[4]।

यदि ईश्वर को निमित्तकारण माना जाय अर्थात् वह जगत् को वैसे ही बनाता है जैसे कुम्हार घड़े को तो क्या वह बिना किसी उपादान कारण के जगत् को बनाता है या उपादान कारण से? यदि बिना उपादान कारण के, तो अभाव

१—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ११८।

२—देखिये—सत्यार्थ प्रकाश १२ वां समुल्लास, पृ० ५६४।

३—बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्। माधवाचार्य—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २८।

४—राहुल सांकृत्यायन बौद्धदर्शन, पृ० २।

से भाव की उत्पत्ति माननी होगी। यदि इन्द्रजाल की तरह उसने जगत् को उपादान के बिना मायामय रूप से उत्पन्न किया है तो प्रत्यक्ष के मायामय होने पर ईश्वर के होने का अनुमान ही किस सामग्री के बल पर होगा[1] ?

यदि सृष्टि अनादि है, तो उसके किसी कर्ता की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः ईश्वर मनुष्य की मानसिक सृष्टि है[2]।

२—आत्मा को नित्य न मानना :—

आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है। बल्कि खास कारणों से स्कन्धों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतों की भांति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है[3]।

३—किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना :—

सभी धर्म वाले अपने-अपने ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण मानते हैं और मनवाने की कोशिश करते हैं। ब्राह्मण वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं जिसकी बहुत सी बातें अन्य धर्म वालों की पुस्तकों से एवं विज्ञान की कितनी ही प्रयोग सिद्ध बातों से विरुद्ध पड़ती है। यदि कहो वेद विज्ञान के प्रयोग सिद्ध सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं तो सवाल होगा—यह कैसे मालूम ? इसकी सिद्धि के लिये अन्त में बुद्धि का सहारा लेना पड़ेगा, फिर क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि वेद की प्रामाणिकता भी बुद्धि पर निर्भर है ? फिर तो वेद की अपेक्षा बुद्धि ही स्वतः प्रमाण हुई। वस्तुतः जब ईश्वर ही नहीं तो ईश्वर की पुस्तक कहां से होगी[4]। किसी ग्रन्थ का स्वतः प्रमाण मानना, उसमें वर्णित विषयों पर सन्देह न करना आगे की जिज्ञासा को रोक देना है[5]।

४—जीवन-प्रवाह को इस शरीर के पूर्व और पश्चात् भी मानना :—

आत्मा और मन एक ही हैं। शरीर और आत्मा दोनों बदल रहे हैं। हमारा इस शरीर का जीवन प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाह का छोटा सा बीच का अंश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकाल से आ रहा है और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। जीवन प्रवाह इस शरीर से पूर्व से आ रहा है और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नहीं है। इसका प्रारम्भ तृष्णा से है और तृष्णा के क्षय के साथ इसका क्षय हो जाता है[6]। बुद्ध की शिक्षा और दर्शन इन चार बातों पर अवलम्बित है।

१—राहुल सांकृत्यायन—बौद्धदर्शन, पृ० ३।
२—वहीं , पृ० ४।
३—वहीं , पृ० ५।
४—राहुल सांकृत्यायन—बौद्ध दर्शन, पृ० १२।
५—वहीं , पृ० १३।
६—वहीं , पृ० १६।

६—तुलनात्मक समीक्षा

बौध दर्शन के प्रथम तीन सिद्धान्त बौद्ध धर्म को दुनियाँ के अन्य धर्मों से पृथक् करते हैं। ये तीनों सिद्धान्त बौद्ध धर्म और भौतिकवाद में समान हैं। किन्तु चौथी बात अर्थात् जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक सीमित न मानना इसे भौतिकवाद से पृथक् करता है[१]।

त्रैतवाद का स्वरूप बौद्धदर्शन से पर्याप्त भिन्न है। बौद्धदर्शन ईश्वर को नहीं मानता परन्तु त्रैतवाद जगत् के निमित्त कारण ईश्वर को मानता है। बौद्ध दर्शन में आत्मा को परिणामी माना है परन्तु त्रैतवाद में उसे नित्य, अनादि तथा अपरिणामी माना जाता है। त्रैतवाद में आत्मा और मन में अन्तर है। जबकि बौद्धदर्शन में ये दोनों एक हैं। बौद्धदर्शन में निर्वाण का अर्थ है बुझना—दीप या आत्मा का जलते जलते बुझ जाना। जीवन-प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है[२]। वस्तुतः त्रैतवाद में जीवात्मा अजन्मा है। वह मुक्ति की अवस्था में भी नित्य रूप में विद्यमान रहता है। उसका अत्यन्त उच्छेद कदापि किसी काल में भी नहीं हो सकता।

बौद्धदर्शन किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण नहीं मानता परन्तु त्रतवाद वेद को स्वतः प्रमाण मानता है। दोनों दर्शनों के अनुसार भौतिक तत्व परिवर्तनशील है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवात्मा में भी जो परिवर्तन कहा गया है वह परिवर्तन त्रैतवाद में नहीं माना जाता। त्रैतवाद के अनुसार परिणाम केवल प्रकृति का धर्म हैं ईश्वर और जीवात्मा में परिणाम नहीं होते। बौद्ध दर्शन में चेतन तत्व की सम्यक् व्याख्या उपलब्ध नहीं। वह लगभग उसे भौतिक तत्व ही मान कर चला है जिसका जन्म भी होता है और निर्वाण (बुझना) भी होता है जबकि त्रैतवाद ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के अनादित्व रूप आधार पर खड़ा है। त्रैतवादियों ने बौद्धदर्शन का भी खण्डन किया है।[३]

७—शंकर दर्शन (अद्वैतवाद)

तैलंग के अनुसार शंकर ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के मध्य अथवा अन्त में हुए। सर आर० जी० भण्डारकर का कहना है कि शंकर का जन्म सन् ६८० ईस्वी में हुआ। मेक्समूलर तथा प्रो० मैकडोनल का मत है कि शंकर का जन्म ७८८ ईस्वी का है[४]।

शंकर का अद्वैतवाद, एक महान् कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है[५]। वह अपनी पूर्वनिर्धारित कल्पनाओं को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करता है, अपने ही लक्ष्य द्वारा शासित है[६]। शंकर के दर्शन का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—वहीं , पृ० १७।
२—बौद्धदर्शन, पृ० ५३।
३—देखिये—सत्यार्थ प्रकाश १२ वां समुल्लास, पृ० ५५५।
४—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ४४०।
५—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ४३८।
६—वहीं, पृ० ४३६।

ब्रह्म—

शंकर ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किये हैं सगुण और निर्गुण[1]। सगुण नाम, रूप, विकार भेदोपाधि विशिष्ट है तथा निर्गुण सब उपाधियों से रहित है। इनमें से प्रथम को उपास्य माना है दूसरे को ज्ञेय।[2] ब्रह्म के इसी निर्गुण और सगुण भेद को उन्होंने 'परब्रह्म' और 'अपर ब्रह्म' भी नाम दिया है।[3]

ईश्वर—

सगुण या अपरब्रह्म को शंकर ने ईश्वर कहा है। अर्थात् उपयुक्त निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म माया के द्वारा आवृत होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है तब उसे ईश्वर कहते हैं।[4] इसे ही शंकर ने उपास्य माना है। अज्ञान के दो भेद हैं 'समष्टि और व्यष्टि'। समष्टि अज्ञान से युक्त ईश्वर है और व्यष्टि अज्ञान से युक्त जीव है।[5]

जीव—

जीवात्मा को शंकर ने शरीर, इन्द्रियों के पंजर का अध्यक्ष तथा कर्मफल से सम्बन्धित माना है[6]। चैतन्य ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया या अविद्या में पड़ता है तब ईश्वरचैतन्य कहलाता है और जब वही प्रमिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ता है तब जीव कहलाता है[7]। शंकर निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म (ईश्वर) और जीव में एक ही चेतन सत्ता स्वीकार करते हैं यह भेद तो माया जन्य है।

माया—

शंकर माया के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—सर्वज्ञ ईश्वर के मानो आत्मभूत, अविद्या से कल्पित, सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय एवं संसार प्रपंच के बीजभूत नाम और रूप, सर्वज्ञ ईश्वर की माया

१—निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते ।। ब्रह्म सूत्र शंकर भाष्य, पृ० १९९।

२—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधि विशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिवर्जितम्।—एवं एकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते। वहीं, पृ० ९९-१०१।

३—यत्राविद्याकृतनामरूपादि विशेष प्रतिशोधादस्थूलादि शब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादि विशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते तदपरम्।। वहीं, पृ० ८६४।

४—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ३५९।

५—इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्य —जगत्कारणमीश्वरः ।।—व्यष्टि निकृष्टोपाधितया मलिन सत्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं—प्राज्ञ इत्युच्यते ।। वेदान्तसार, पृ० १५-१६।

६—अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रिय पंजरा ध्यक्षः कर्मफल सम्बन्धी। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ४९६।

७—आचार्यबलदेव भारतीय दर्शन, पृ० ३६३।

शक्ति और प्रकृति रूप से श्रुति और स्मृति में कहे जाते हैं[१]। माया को अज्ञान भी कहा जाता है। यह अज्ञान त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भाव रूप है[२]। इस अज्ञान के दो भेद हैं। समष्टि और व्यष्टि[३]। समष्टि अज्ञान से युक्त चैतन्य ईश्वर कहलाता है और व्यष्टि अज्ञान से युक्त चैतन्य जीव कहलाता है। इसी अज्ञान की दो प्रकार की शक्तियां हैं, आवरण और विक्षेप[४]। आवरण शक्ति आत्मा में आकाशादि सृष्टि प्रपंच की उद्भावना करती है। यह माया परमेश्वराश्रित रहती है[५]।

सृष्टि रचना—

जिस प्रकार मकड़ी जाले के प्रति स्वप्रधानतया निमित्त कारण है और शरीरांश से उपादान कारण है। उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि की रचना में स्वप्रधानतया निमित्तकारण है और स्वोपाधिप्रधानतया उपादान कारण है।[६] इसीलिए अद्वैतवादी ब्रह्म को निमित्तोपादन कारण कहते हैं। तमोगुणप्रधान अज्ञान की विक्षेप शक्ति वाली उपाधि से युक्त आत्मा आकाशादि जगत् की कल्पना करता है[७]। वस्तुतः अज्ञान की दो शक्तियाँ आवरण और विक्षेप हैं। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानों ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस बल में आकाशादि प्रपंच की उत्पत्ति कर देती है[८]।

सृष्टि का प्रयोजन कुछ नहीं जिस प्रकार शिशु के खेल प्रयोजन कुछ नहीं। शिशुस्वभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्म का सृष्टि प्रलय में कोई प्रयोजन नहीं स्वभाव ही है[९]। यह विश्व स्वप्न में दृष्ट गन्धर्वनगर की तरह है।[१०]

मोक्ष—

शंकरमत में मोक्ष का तात्पर्य है अपने ब्रह्मस्वरूप को जान लेना। मुक्तपुरुष अपनी एकता सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रतिष्ठित करता है।

१—सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वातत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपंच बीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, पृ० ३६६।

२—अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम् त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभास्वरूपम्॥ वेदान्तसार, पृ० १४।

३—वहीं, १५।

४—वहीं, पृ० २४।

५—अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः॥
ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० २८८।

६—अज्ञानोपहित चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। वेदान्तसार पृ० २६।

७—वेदान्तसार, पृ० २८।

८—आचार्य बलदेव, भारतीय दर्शन, पृ० ३५८

९—देखिये—वेदान्तसार की भूमिका—ले० नरेन्द्रदेव, पृ० १८।

१०—स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः। गोडपादकरिका। २।३१

८— तुलनात्मक समीक्षा

'ब्रह्म' के विषय में अद्वैतवाद से त्रैतवाद का दृष्टिकोण पृथक् है। अद्वैतवाद में ब्रह्म के दो भेद किये गये हैं— निर्गुण और सगुण। उनके अनुसार सगुणरूप अज्ञानावृत है परन्तु त्रैतवाद में सगुण का तात्पर्य है सर्वज्ञादि गुणों से युक्त ब्रह्म[१]। त्रैतवादानुसार ब्रह्म किसी भी अवस्था में अज्ञानावृत नहीं हो सकता। जैसा अद्वैतवाद में समष्टि अज्ञानावृत ईश्वर माना जाता है वैसा ईश्वर भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों में नहीं है। यह शंकर की निजी कल्पना है। मूलग्रन्थों में ईश्वर शब्द का प्रयोग एकमात्र अज्ञानादि से रहित सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, परमेश्वर के लिये किया गया है[२]। त्रैतवाद में ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, परमब्रह्म, ओम् आदि शब्द एक ही सता के लिए प्रयुक्त हैं।

अद्वैतवाद में ब्रह्म व्यष्टि अज्ञानावृत होकर जीव बन जाता है परन्तु त्रैतवाद में जीवात्मा स्वतन्त्र, ब्रह्म के रूप से भिन्न तथा अनादि सत्ता है[३]।

अद्वैतवाद में संसार केवल ब्रह्म का खेलमात्र है, इस प्रकार तो पाप-पुण्य धर्म-अधर्म की व्यवस्था भी खेल ही रह जाती है क्योंकि इनका करने वाला भी तो ब्रह्म ही है परन्तु त्रैतवाद में पाप-पुण्यादि खेल नहीं है। जीवात्मा जैसा करता है ईश्वर उसको वैसा ही फल देता है। अतः जीवात्मा पाप के दण्ड से डरता है। तथा पुण्य के शुभ फल प्राप्ति से उत्साहित होता है। यह यथार्थ व्यवस्था सत्य के आधार पर है।

अद्वैतवाद में सृष्टिरचना का कोई प्रयोजन नहीं परन्तु त्रैतवाद में ब्रह्म का सृष्टिसृजन का प्रयोजन जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्यपदार्थ देकर परोपकार करना है[४]।

अद्वैतवाद में ब्रह्म को सगुण मानकर अवतारवाद को भी स्वीकार किया गया है। शंकर ने गीता में श्री कृष्ण को अवतार स्वीकार किया है[५]। तथा ब्रह्मसूत्र के माध्यम में शलिग्राम आदि की पूजा को विहित माना है[६]।

त्रैतवाद में अवतारवाद को स्वीकार नहीं किया जाता। त्रैतवाद के अनुसार वेद[७], उपनिषद्[८], दर्शन[९] आदि साहित्य में परमेश्वर को निराकार ही स्वीकार किया गया है।

१—देखिये सत्यार्थप्रकाश, पृ० ८१७।

२—ईशावास्यम्। यजु० ४०।१ तथा
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः। योग० १।२४।

३—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३६६। तथा देखिये—गंगाप्रसाद उपाध्याय—शंकर भाष्यालोचन, पृ० २६६।

४—सत्यार्थप्रकाश पृ० २७७। तथा स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०।८। देखिये वहीं म० दयानन्द, भाष्य पृ० १२०६।

५—स आदिकर्ता नारायणाख्योविष्णुः देववायसुदेवात् कृष्णः किल सम्बधूव। देखिये शंकरगीता भाष्य भूमिका।

६—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्धयर्थ स्थानविशेषो न निरुध्यते। शालग्राम इव विष्णोः॥ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० १६६।

७ - न तस्य प्रतिमा अस्ति यजु० ३२।३। ८—अरूपम। कठ० उ० १।३।१५।

९—अरुपवदेव हितत्प्रधानत्वात्। वेदान्त० ३।२।१४।

अद्वैतवाद के अनुसार मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म हो जाता है परन्तु त्रैतवाद के अनुसार जीव ब्रह्म में रहता है। मुक्ति की अवस्था में भी जीवात्मा ब्रह्म नहीं बनता। अद्वैतवाद का त्रैतवादियों ने प्रमाण और युक्तियों से प्रबल खण्डन किया है।[1]

६—रामानुज दर्शन (विशिष्टाद्वैत)

श्रीरामानुज का जन्म १०१७ ई० में हुआ[2]। श्रीरामानुज के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर ये ही तीन मूल तत्व हैं[3]। इनमें ईश्वर तो प्रधानअंगी है और चित् तथा अचित् इसके दो विशेषण या अंग हैं। इसलिये इनका दर्शन विशिष्टाद्वैत कहलाता है[4]। चित् का अर्थ है जीव और अचित् का प्रकृति या जड़ तत्व और सबके अन्तर्यामी तत्व को ईश्वर कहते है। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ है, तथापि वे ईश्वर के अधीन ही होकर रहते हैं, क्योंकि ईश्वर भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड़पदार्थ) इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है।[5]

ईश्वर सगुण तथा सविशेष है। श्रीरामानुज जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना को असम्भव मानते हैं।[6] उपनिषदों में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा है[7] उनके अनुसार उसका यही तात्पर्य है कि अल्पज्ञ जीव के रागद्वेषादि गुण उसमें विद्यमान नहीं हैं[8]। ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है। प्रलयमयी दशा में जगजीवों का तथा भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है, तब भी चित् तथा अचित् दोनों तत्व ब्रह्म में रहते हैं। उस दशा में ब्रह्म शुद्धचित् (शरीररहित जीव) से तथा अव्यक्त अचित् से युक्त रहता है और वह कारण ब्रह्म कहलाता है। पुनः जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है उस समय वह कार्य ब्रह्म कहलाता है[9]।

चिदचित् का समन्वन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के नितरां अनुरूप है शरीर वही है जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये कार्य में प्रवृत करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचित् को आश्रित करता है तथा कार्य में प्रवृत करता है। इनमें से जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा विशेष्य कहलाता है, जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा विशेषण कहलाता है। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है नियम्य तथा अप्रधान होने के कारण जीव तथा जगत् विशेषण है[10]। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। ब्रह्म अद्वैतरूप है क्योंकि अंगभूत चिदचित् की अंगी से पृथक्

१—देखिये-सत्यार्थप्रकाश ७ वां समुलास। देखिये गंगाप्रसाद उपाध्याय- अद्वैतवाद, तथा शंकर भाष्यालोचन।

२—उमेशमिश्र भारतीय दर्शन, पृ० ४०६।

३—ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ त्रितयं हरिः। माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५५।

४—उमेश मिश्र —भारतीय दर्शन, पृ० ४०७।

५—आचार्य बलदेव भारतीय दर्शन, पृ ३६२।

६—वहीं

७—केवलोनिर्गुणश्च। श्वेता० उ० ६।११।

८—आचार्य बलदेव भारतीय दर्शन, पृ० ३६२।

९—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ३६२-३६३।

१०—वहीं

सत्ता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर सकल जगत् का निमित्तोपादान करण है[१]।

रचना का प्रयोजन केवल लीला है अन्य कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार वह लीला धाम भगवान, जगत् को उत्पन्न कर खेल किया करता है[२]।

जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल रूप धारण करने से है। ईश्वर प्रलयावस्था में तथा सृष्टि अवस्था में भी निर्विशेष नहीं होता। चिदचित् से विशिष्ट रहता है। शंकराचार्य की मान्यता की तरह केवल ब्रह्म का अद्वैतभाव नहीं होता। यही अद्वैत से विशिष्टाद्वैत का अन्तर है[३]।

जीव आनन्दरूप, नित्य तथा अणु है[४]। वह अव्यक्त निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। जीवात्मा एक नहीं अनन्त हैं[५]। एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर धारण कर सकता है[६]।

रामानुज प्रकृति को एक, अनादि तथा अपने समान ही बहुत सी प्रजाओं की सृष्टि करने वाली मानते हैं[७]।

मोक्ष—

अद्वैतवेदान्त अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न हो जाता है परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के समान हो जाता है। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के साथ ही रहता है[८]। विशिष्टाद्वैत में जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है, केवल विदेहमुक्ति को पाकर जीव वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बन जाता है[९]।

१०--तुलनात्मक समीक्षा

विशिष्टाद्वैत में ईश्वर को 'सगुण' साकार सा ही माना जाता है परन्तु त्रैतवाद में वह निराकार ही है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर अवतार भी लेता है[१०] परन्तु त्रैतवाद में ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता नहीं वह व्यापकता से सबके सब समय पास है सर्वव्यापक होने से भी वह रक्षा करने योग्यों की रक्षा करता है। विशिष्टद्वैत में भी सृष्टि ईश्वर का खेलमात्र है परन्तु त्रैतवाद में सृष्टि प्रयोजन है।[११]

विशिष्टाद्वैत में जीव मुक्तावस्था में सर्वगुण को त्रैतवादश्य धारण करता है परन्तु त्रैतवाद में ऐसा नहीं माना

१—वहीं पृ० ३९३

२—वहीं

३—आचार्य बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ३९४।

४—माधवाचार्य—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६४।

५—आचार्य बलदेव- -भारतीय दर्शन, पृ० ३९६।

६—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० १०७।

७—आचार्य बलदेव- -भारतीय दर्शन, पृ० ३९८

८—वहीं पृ० ४०१

९—वहीं

१०—स एव करुणासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः। उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपंचकम्॥
माधवाचार्य-सर्वदर्शन संग्रह पृ० ६८।

११—देखिये इसी शोध प्रबन्ध का पृ० ३४४।

जाता। सर्वज्ञता तो केवल ईश्वर का ही गुण है। जीवात्मा स्वरूप से स्वल्पज्ञ है। हां, वह बहुज्ञ बन सकता है। सर्वज्ञ कदापि नहीं।

विशिष्टाद्वैत में मुक्तावस्था में वैकुण्ठ नामक विशेष स्थान पर जीवात्मा का रहना माना गया है, परन्तु त्रैतवाद में मोक्ष में जीवात्मा एक स्थान पर न रहकर अव्याहतगति से ब्रह्म में सर्वत्र विचरण कर सकता है। विशिष्टाद्वैत में नित्यमुक्त जीव भी माने जाते हैं[1]। परन्तु त्रैतवाद में नित्यमुक्त कोई जीवात्मा नहीं है।

विशिष्टाद्वैत में जीव और प्रकृति को ईश्वर का विशेषण माना जाता है जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है परन्तु त्रैतवाद में जीव और प्रकृति को विशेषण नहीं माना जाता। वहां ये तीनों अनादि तथा देश और काल से अभिन्न परन्तु स्वरूप से भिन्न माने जाते हैं।

विशिष्टाद्वैत में एक ही आत्मा एक ही समय में अनेक शरीर धारण कर सकता है परन्तु त्रैतवाद में ऐसा नहीं माना जाता। उनके मतानुसार यह सम्भव नहीं है। एक ही जीवात्मा जब एक ही समय में अनेक शरीर धारण करेगा तब अणु रूप होने से तथा एकदेशी होने से सब शरीरों में चेतनत्व एक ही समय में कैसे सम्भव हो सकेगा। त्रैतवाद के आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत के कई पहलुओं का खण्डन किया है[2]।

११—मध्वदर्शन (द्वैतवाद)

मध्वाचार्य का जन्म ११९९ ई० में हुआ[3]। शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में एक प्रमुख प्रतिक्रिया स्वरूप द्वैतदर्शन है[4]। इस दर्शन में परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। भगवान के गुण अनन्त हैं। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष इन आठों के कर्ता भगवान ही हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं। उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं[5]। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह केवल परमात्मा के ही अधीन रहती है[6]। यह चिद्रूप और अनन्त है[7]।

जीव अणु है और प्रत्येक में भिन्न है। वह कभी भगवान् के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। जीव चेतन है परन्तु उसका ज्ञान ससीम है[8]। जीव तीन प्रकार के हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य[9]। नित्यसंसारी जीव कभी मुक्ति नहीं पाते[10]।

१—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ४०७-४११

२—देखिये—सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४७८।

३—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ७४०।

४—वहीं ७३६।

५—आचार्य बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४०४।

६—वहीं, पृ० ४०५।

७—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ४३०।

८—रामदासगौड, हिन्दुत्व पृ० ६६७।

९—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४०५।

१०— वहीं

मध्वदर्शन में पंचभेद का बहुत महत्व है :—

१—ईश्वर का जीव से भेद ।

२—ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद ।

३—जीव का जीव से भेद ।

४—जीव का जड़ पदार्थ से भेद ।

५—जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद[1] ।

१२—तुलनात्मक समीक्षा

माध्वदर्शन में मत्स्य आदि भगवान् के अवतार माने गये हैं परन्तु त्रैतवाद के अनुसार भगवान् अवतार नहीं लेता। माध्वदर्शन में लक्ष्मी को भगवान् की भार्या माना है। परन्तु त्रैतवाद में ऐसी शक्ति स्वीकार्य नहीं। वेद में[2] लक्ष्मी को परमात्मा की पत्नी कहा तो है परन्तु त्रैतवाद के अनुसार वह ऐसी पत्नी नहीं जैसी लोक में विवाहित पत्नी होती है। वस्तुतः लक्ष्मी का अर्थ है शोभा बढ़ाने वाली शक्ति। सृष्टि का ऐश्वर्य ही शोभा बढाने वाला है अतः यही लक्ष्मी है, जो कि अचेतन है, इसका स्वामी परमात्मा है, यही वेद मन्त्र का तात्पर्य है।

द्वैतदर्शन में नित्य संसारी जीव माने गये हैं परन्तु त्रैतवाद में न रामानुज की तरह नित्यमुक्त जीव माने जाते हैं और न मध्व की तरह नित्य संसारी। त्रैतवाद में स्वरूप से सभी जीवात्मायें नित्य माने जाते हैं। कोई भी जीवात्मा साधना से मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है तथा अविद्यावश प्रकृति में बद्ध भी हो सकता है।

१३—निम्बार्क दर्शन (द्वैताद्वैत या भेदाभेद)

निम्बार्क का जन्म लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। ये द्वैताद्वैत के प्रवर्तक हैं। इस मत में जीवात्मा, ईश्वर और जड़ प्रकृति ये तीन तत्व हैं। ये तीनों आपस में भिन्न हैं। इसीलिये ये द्वैतवादी हैं। जीव तथा प्रकृति ये दोनों परमात्मा के आधीन हैं। परमात्मा से उनका इतना ही अन्तर है जितना कि समुद्र का उसकी तरंग से। इसलिये एक प्रकार से ये अभेदवादी भी हैं[3]।

निम्बार्क मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। परब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि परमात्मा की ही संज्ञायें हैं[4]। उसके चार स्वरूप हैं और वह अपने को अवतारों के रूप में प्रकट करता है। वह विश्व का उपादान और निमित्त कारण है[5]।

१—जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा। जीवभेदो मिथं चैव जड़जीवभिदा तथा॥ मिथं च जड़ भेदो यः प्रपंचो भेदपंचकः॥ माधवाचार्य-सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७८। (पंचभेद के विस्तुत विवेचन के लिये देखिये डा० कृष्ण-कान्त-द्वैतवेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० ११६)

२—श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यौ। यजु० ३१। २२।

३—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ४२१।

४—आचार्य बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४११।

५—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ७५४।

निम्बार्क मत में जीव अणु है तथा नित्य है। प्रत्येक प्राणी में जीव भिन्न-भिन्न है और इसीसे सुख दुःख के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह अनन्त गुणमयी माया से बद्ध है। इन्द्रियों के बिना भी जीव में ज्ञान रहता है। यह आनन्दमय नहीं हो सकता। अपने कर्मों का भोग यह स्वयं करता है। जीव के दो प्रकार हैं—बद्ध और मुक्त। बद्ध अनादि कर्म और वासना के फलस्वरूप देव, मनुष्य तथा तिर्यक् आदि का शरीर धारण कर उसमें आत्मा या आत्मीय वस्तु का दृढ़ अभिमान रखते हैं। इनके अतिरिक्त जीव मुक्त दो प्रकार के हैं। एक नित्य मुक्त जैसे गरुड़, भगवान् के विविध-आभूषण, वंशी आदि। एक वे जो संसार के बन्धन में आकर फिर उससे मुक्त होते हैं, वे पुनः संसार में नहीं आते[1]।

जड़ तत्व तीन प्रकार का है :—

१—प्राकृत—प्रकृति से उत्पन्न जगत्। महतत्व से लेकर महाभूत तक।

२—अप्राकृत—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत् जिसमें प्रकृति का किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं है जैसे भगवान् का लोक।

३—काल—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। काल अखण्ड रूप है, स्वरूप से वह नित्य है परन्तु कार्य रूप से वह अनित्य है।[2]

निम्बार्क विश्वविषयक विवर्तवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं और तर्क करते हैं कि यदि वह संसार यथार्थ न होता तो इसे दूसरे के ऊपर अध्यस्त नहीं किया जा सकता[3]।

१४—तुलनात्मक समीक्षा

यद्यपि ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों को निम्बार्क ने नित्य स्वीकार किया है जिसे त्रैतवाद भी स्वीकार करता है परन्तु निम्बार्क ने ब्रह्म को सगुण माना है जब कि त्रैतवाद में केवल निराकार ही स्वीकार किया जाता है। निम्बार्क मत में कृष्ण भगवान् के अवतार माने गये हैं। जब कि त्रैतवाद में उन्हें केवल महापुरुष, योगी स्वीकार किया जाता है। उन्हें भगवान् का अवतार नहीं माना जाता। जीवात्माओं को निम्बार्क ने भी अणु नित्य तथा अनेक माना है। त्रैतवाद में भी यही सिद्धान्त स्वीकार है परन्तु निम्बार्क की तरह त्रैतवाद में आभूषण, वंशी आदि अचेतन पदार्थों को नित्य मुक्त जीव नहीं माना जाता।

निम्बार्क की तरह त्रैतवाद में किसी विशेष ब्रह्म लोक की मान्यता स्वीकार नहीं है, त्रैतवाद की दृष्टि में सर्वत्र ब्रह्म लोक है क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है।

१—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ४२२।

२—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४१०।

३—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, ७५४।

१५—वल्लभदर्शन (शुद्धाद्वैत)

वल्लभ (१४०१ ई०) दक्षिण भारत के एक तेलगू ब्राह्मण थे[1]। इनके मत की संज्ञा शुद्धाद्वैत है अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवाद। उनका कहना है कि समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्मरूप में ब्रह्म है। जीवात्माएं और जड़ जगत् तात्विक रूप में ब्रह्म ही हैं। ऐसे व्यक्ति, जो माया की शक्ति को जगत् का कारण मानते हैं, शुद्ध अद्वैतवादी नहीं है क्योंकि वे ब्रह्म के अतिरिक्त भी एक दूसरी सत्ता को स्वीकार करते हैं। जहाँ शंकर जगत् की उत्पत्ति माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म से मानते हैं वहाँ दूसरी ओर वल्लभ मानते हैं कि ब्रह्म माया जैसे तत्व के साथ सम्बन्ध के विना भी जगत् का निर्माण करने में समर्थ है[2]। ईश्वर शरीरधारी कृष्ण हैं। वह अपनी इच्छाशक्ति से ही समस्त जगत् की रचना करता है। वह केवल कर्त्ता ही नहीं भोक्ता भी है। भक्तों को प्रसन्न करने लिये वह प्रकट होता है[3]। जगत् ब्रह्म का ही कार्य है। शंकरमत की आलोचना करते हुए निम्बार्क लिखते हैं—जगत् इस प्रकार ब्रह्म पर मिथ्या आरोपण नहीं है किन्तु ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का परिणाम है[4]।

१६—तुलनात्मक समीक्षा

वल्लभदर्शन में प्रकृति और जीवात्मा की ब्रह्म से अतिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती है, जबकि त्रैतवाद में इन दोनों तत्वों की ब्रह्म भिन्न सत्ता है। वल्लभदर्शन में जड़ जगत् को भी ब्रह्म का ही रूप माना गया है। इस दर्शन के अनुसार यदि ब्रह्म ही सब कुछ है तब पाप, पुण्य, धर्माधर्म का भी वही कर्त्ता माना जाना चाहिये। इस प्रकार संसार की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। न बुराइयों से बचने की आवश्यकता रह जाती है और न जीव का ही कोई अस्तित्व रह जाता है। पाप-पुण्यों का कर्त्ता तथा इनके फलों का भोक्ता ईश्वर ही हो जाता है।

त्रैतवाद में ईश्वर को चेतन, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् माना गया है। वह अपने स्वरूप से अपरिणामी है। इसीलिए जगत् का निमित्त कारण है। उपादान कारण नहीं। संसार के अन्दर ईश्वर शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता नहीं है। जीवात्मायें कर्म करने में स्वतंत्र हैं तथा फल पाने में ईश्वराधीन है। त्रैतवाद ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के पृथक्-पृथक् नित्य अस्तित्व में ही जगत् की यथार्थता स्वीकार करता है। इस व्यवस्था में ईश्वर पर कोई दोष आरोपित नहीं हो सकता। वल्लभदर्शन में श्रीकृष्ण को भगवान् माना गया है, जबकि त्रैतवाद में ऐसा नहीं माना जाता।

१७—चैतन्यदर्शन (अचिन्त्यभेदाभेदवाद)

महाप्रभु चैतन्य देव का समय १४८५-१५३३ ई० माना जाता है। ये वल्लभाचार्य के समकालीन थे[5]। इनके अनुसार

१—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ७५७। २—वहीं

३—डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, पृ० ७५८।

४—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता—भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० ४०४।

५—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४२१।

भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूपादि शक्तियों का अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य है। वह भिन्न प्रतीत होता है। उधर उनसे भिन्न रूप चिन्तन करना भी अशक्य है, फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् (भगवान्) तथा शक्ति (स्वरूपादि) में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं, ये दोनों ही अचिन्त्य शक्ति के कारण यह प्रपंच न तो भगवान् के साथ बिल्कुल भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इस विलक्षण दृष्टिकोण के कारण ही यह मत अचिन्त्य भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है[1]। शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय तथा स्वगत-भेद से शून्य है। भगवान् मूर्त होकर भी त्रिक हैं[2]। ब्रह्म जगत् का कर्ता और निमित्त कारण है। वही उपादान कारण भी है[3]। भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है, परन्तु तीन ही शक्तियां मुख्य हैं—स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति स्वरूप शक्ति को चित्शक्ति तथा अन्तरंग शक्ति भी कहते हैं, यह शक्ति त्रिविधरूप में अभिव्यक्त होती है।

१—सन्धिनी—इसके बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं तथा समस्त देश, काल एवं द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं।

२—संवित्—इसी से स्वयं जानते हैं तथा दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं।

३—अह्लादिनी—इससे स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं।

जो शक्ति परिच्छिन्नस्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है वह तटस्था या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव-साधन होता है[4]।

भगवान् जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए भक्तों की रुचि के अनुसार अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं[5]। चैतन्यमत में जगत् प्रपंच नितरां सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह हरि की बहिरंग शक्ति का विलास है[6]।

१८—तुलनात्मक समीक्षा

चैतन्य दर्शन में जीव और जगत् को भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु त्रैतवाद में जीव और जगत् भगवान् के स्वरूप से भिन्न शक्तियां मानी गई हैं। चैतन्य दर्शन में ब्रह्म विजातीय भेद से शून्य है। परन्तु त्रैतवाद में सजातीय भेद तो बिलकुल माना ही नहीं जाता परन्तु ब्रह्म से भिन्न विजातीय तत्व जीवात्मा और प्रकृति अवश्य माने जाते हैं। निम्बार्क दर्शन में शंकरदर्शन की तरह ही ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादानकारण

१—वहीं बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४२५।
२—वहीं ,, पृ० ४२४।
३—उमेशमिश्र—भारतीय दर्शन ,, पृ० ६८३।
४—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४२५।
५—बलदेव—भारतीय दर्शन , पृ० ४२५।
६—वहीं ,, पृ० ४२५।

माना जाता है परन्तु द्वैतवाद में ब्रह्म को किसी भी अवस्था में उपादान कारण नहीं माना जाता क्योंकि उसमें परिणामी होने का दोष उत्पन्न होने की आशंका है।

चैतन्यदर्शन में भी अन्य वैष्णवदर्शनों की तरह अवतारवाद स्वीकार किया है, जबकि द्वैतवाद किसी भी अवस्था में भगवान का मानव शरीर में अवतरित होना स्वीकार नहीं करता।

१६—माहेश्वर दर्शन

माहेश्वर सम्प्रदाय में बहुत से अवान्तरभेद हैं। धार्मिक दृष्टि से इनके चार भेद हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इनके मूल ग्रन्थ शैवागम कहलाते हैं। ये आगम वैदिक और अवैदिक दोनों हैं। माहेश्वर सम्प्रदाय में दार्शनिक दृष्टिकोण से चार भेद हैं। पाशुपत दर्शन (गुजरात और राजपूताना), शैव (तामिलदेश में), वीरशैव दर्शन (कर्णाटक में), प्रत्यभिज्ञादर्शन या त्रिक या स्पन्द (काश्मीर में)[1]

(क) पाशुपत दर्शन

पशुपतों के मतानुसार पांच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त।

१—कार्य—उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो। जीव और जड़ दोनों का अन्तर्भाव कार्य में होता है क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वर के अधीन हैं।

२—कारण—महेश्वर ही जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने हेतु 'कारण' पदवाच्य है। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य, एक तथा कर्त्ता है[2]।
वह क्रीडा के लिए जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव करता है[3]।

३—योग—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं। पातंजल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होता है, परन्तु पाशुपतयोग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ साथ परमेश्वर्य का लाभ है[4]।

४—विधि—महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्यविधि की संज्ञा चर्या है, जो व्रत और द्वारभेद से दो प्रकार की है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय—हँसने, गाने, नाचने, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज करने का अभ्यास करना चाहिए[5]। भस्मस्नान, भस्मशयन, आदि करना चाहिये।

५—दुःखान्त—दुखों की अत्यन्त निवृत्ति या मोक्ष को दुःखान्त कहते हैं[6]। जीव सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ प्राप्त करता है[7]।

१—प्रो० उमाशंकर—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २६०
२—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४७६।
३—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४७६।
४—वहीं पृ० ४८०।
५—माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६०-६१।
६—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४८०।
७—वहीं पृ० ४८१।

(ख) तुलनात्मक समीक्षा

पाशुपत दर्शन में जीव और जड़ दोनों का कार्य माना है परन्तु त्रैतवाद में जीवात्मा किसी का कार्य नहीं है। पाशुपत दर्शन में महेश्वरी क्रीड़ा के लिए जगत् का आविर्भाव करता है परन्तु त्रैतवाद जगत् की उत्पत्ति सप्रयोजन मानता है। पाशुपत दर्शन में जो विधि महेश्वर की प्राप्ति के लिए लिखी है उन्हें त्रैतवाद बाह्याडम्बर मात्र मानता है। पाशुपत में जीव सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त करता है परन्तु त्रैतवाद में मुक्ति की (परान्तकाल तक) सीमा है। ३६,००० बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीवात्मा मुक्ति के आनन्द को भोगकर फिर संसार में आता है[1]।

(ग) शैवदर्शन

शैवदर्शन में पति (ईश्वर), पशु (जीव) और पाश (बन्धन) ये तीन पदार्थ हैं[2]। परमेश्वर शरीरधारी हैं परन्तु उसका शरीर प्रकृति से उत्पन्न हम लोगों की तरह नहीं है। उसका शरीर शक्ति से बना है। तन्त्र-शास्त्रों में मन्त्रों को ही शक्ति माना है। मन्त्रों से ही उसका शरीर स्वतः सिद्ध है[3]। पशु (जीव) मुक्त और बद्ध दो प्रकार के हैं[4]। माया (बन्धन) अत्यन्त सूक्ष्म है। यह प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होने वाला तत्व है। परमेश्वर के साथ सृष्टि के आरम्भ में उसका सम्पर्क होता है और उसमें परिणाम उत्पन्न होते हैं। माया तीन गुणों से परे है क्योंकि तीन गुण बाद में उत्पन्न होते हैं[5]। शैवदर्शन में जीव को अणु नहीं माना जाता। इनका कहना है –

१—चार्वाकों की तरह आत्मा शरीर नहीं।

२—नैयायिकों की तरह आत्मा प्रकाश्य नहीं।

३—जैनों की तरह आत्मा अव्यापक नहीं।

४—बौद्धों की तरह आत्मा क्षणिक नहीं। आत्मा व्यापक और नित्य है।

५—अद्वैत की तरह आत्मा एक नहीं अपितु अनेक हैं।

६—सांख्यों की तरह जीवात्मा अकर्ता भी नहीं, वही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है[6]।

(घ) तुलनात्मक समीक्षा

शैव दर्शन में त्रैतवाद की तरह तत्वों की संख्या तीन ही है। परन्तु उनके स्वरूप वर्णन में त्रैतवाद से भिन्नता

१—ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक ३।२।६ ॥
तथा देखिये महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१६।

२—प्रो० उमाशंकर—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३३६। ३—वहीं, पृ० ३३०।

४—वहीं, पृ० ३३६। ५—वहीं, पृ० ३३६।

६—प्रो० उमाशंकर—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३३३। देखिये—मूल—माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६७-६८।

है। शैवदर्शन में परमेश्वर को शरीरधारी माना है जबकि त्रैतवाद में वह शरीर रहित है। शैवदर्शन में जीवात्मा को व्यापक माना है जबकि त्रैतवाद में उसे अणु माना गया है। शैवदर्शन में माया की विचित्र कल्पना की गयी है। अधिकांश दर्शन माया को त्रिगुणात्मक मानते हैं परन्तु शैवदर्शन में माया के बाद तीनगुणों की उत्पत्ति मानी गई है। त्रैतवाद माया या प्रकृति को त्रिगुणस्वरूप नहीं मानता है।

(ङ) वीर शैवदर्शन

वीर शैवमत के अनुयाइयों के नाम लिंगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते। ये लोग शंकर की लिंगायत मूर्ति को गले में हर समय लटकाये हुए रहते हैं[१]।

(च) तुलनात्मक समीक्षा

वीर शैवदर्शन की दोनों बातें त्रैतवाद को स्वीकार नहीं हैं।

(६) प्रत्यभिज्ञा दर्शन

काश्मीर में पनपने वाला अद्वैतवाद दर्शन अनेक नामों से प्रख्यात है। यह प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द, षडर्धशास्त्र, तथा षडर्धक्रम-विज्ञान के नामों से प्रसिद्ध है[२]। इस दर्शन का अन्यतम नाम है 'प्रत्यभिज्ञा'। प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त यह है कि अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर गुरुवचन से जीव को ज्यों ही यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं शिव हूँ' त्यों ही उसे तुरन्त आत्मस्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। भारतीय दर्शन में इसी महत्वशाली 'प्रत्यभिज्ञा' तथ्य के कारण यह दर्शन इस नाम से प्रख्यात है[३]। माहेश्वर सम्प्रदाय के ही कुछ दार्शनिक शैवदर्शन से असन्तुष्ट हैं। क्योंकि उस दर्शन के अनुसार अपेक्षारहित जड़पदार्थों को कारण माना गया है जो दोषपूर्ण है। क्योंकि अपेक्षा चेतन को होती है। यदि कर्मों की अपेक्षा रखने वाले ईश्वर को संसार का कारण मानें तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर संसार के निर्माण में ईश्वर पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं रहेगा। ये लोग घोषणा करते हैं कि परमेश्वर की इच्छामात्र से संसार का निर्माण हुआ है। वह ऐसी स्वतन्त्रता धारण करता है जिसमें दूसरे की आवश्यकता नहीं। वह अपनी आत्मा पर आकाशादि भावों को उसी प्रकार अवभासित करता है जिस प्रकार किसी दर्पण पर प्रतिबिम्ब पड़ता है[४]। चेतन अचेतन सभी पदार्थ परमेश्वर के अन्तर्गत हैं। कोई उससे पृथक् नहीं यही अद्वैततत्व है। इस दर्शन में माया न मानकर ईश्वर में ही अवभासन माना जाता है। शिव अपने चैतन्यात्मक स्वातन्त्र्य के विलास से ही अपने ही भीतर शुद्ध, अशुद्ध, गुणातीत, गुणमय आदि

१—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४६६।
२—बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० ४६६।
३—वहीं
४—प्रो० उमाशंकर सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३४८-३४६।
देखिये मूल—माधवाचार्य—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १०४।

सभी प्रकार के तत्वों, भुवनों और भावों को प्रतिविम्ब के तौर पर प्रकट करता रहता है।[1] जीव को ज्ञान कैसे होता है इसके विषय में प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में कहा है—

स्वात्मेव सर्वजन्तूनामेकएव महेश्वर:।
विश्वरूपोऽइमिदमित्यखण्डामर्शं बृहित:॥[2]

अर्थात् सब प्राणियों की जीवात्माएँ एक महेश्वर ही हैं। यह विश्वरूप में है। अखण्ड ज्ञान उसे होता है। महेश्वर ने अपने आत्मा में ही (जैसे दर्पण में छाया होती है) जीव को बनाया[3]। अपने स्वरूप का ज्ञान न रखने वाले अनेक जीव हैं[4]। परमार्थ में किसी का बन्धन नहीं। माया भगवान् की शक्ति है। वह त्रिगुणत्मिका है। ज्ञान, क्रिया और माया ये भगवान् की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं[5]। प्रत्यभिज्ञा में जीव और ईश्वर का तदात्म्य स्थापित होता है। मैं ही ईश्वर हूँ दूसरा कोई नहीं इस अनुमान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में बाह्यचर्या (भस्मादि) तथा आभ्यन्तरचर्या (प्राणायामादि) से दूर रह कर केवल प्रत्यभिज्ञा के आभ्यास पर बल दिया जाता है[6]।

तुलनात्मक समीक्षा—

प्रत्यभिज्ञा दर्शन शैवसिद्धान्त का ही एक भेद है। यह दर्शन अद्वैतवादी विचारों से परिपूर्ण है[7]। इस दर्शन में एकमात्र ईश्वर को माना जाता है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्व की सता नहीं है। ईश्वर अपनी इच्छा से ही संसार को बना और मिटा सकता है[8]। ईश्वर स्वस्वरूप में ही जीव और माया को अवभासित देखता है। इस दर्शन में जीव और माया ईश्वर से भिन्न कोई तत्व नहीं उसी के स्वरूप माया को त्रिगुणत्मक भी माना है तथा उसे ईश्वर का ही स्वरूप माना हैं। इससे सिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ईश्वर त्रिगुणात्मक भी है।

त्रैतवाद में ईश्वर का ऐसा स्वरूप नहीं माना जाता। जीव का भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन में कोई स्वतन्त्र सत्तात्मक अस्तित्व नहीं। अभमारस सिद्धान्त से तो पाप पुण्य, धर्माधर्म, भी ईश्वर में ही मानने पड़ेंगे और ऐसा ईश्वर सदोष ही कहलायेगा। वस्तुतः जीवात्मा की मान्यता त्रैतवाद में अधिक वैज्ञानिक है। जीवात्मा के विषय में त्रैतवाद की व्यवस्था उचित बैठ जाती है।

१—बलजिन्नाथ शास्त्री—काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११२]

२—उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञा भाग—२ । ४।१।३।

३—तत्रैव स्वात्मनि महेश्वरे स्थिते तस्मिन्नेवप्रकाशरूपे स्वात्मदर्पणे तेनैव परमेश्वरेण स्वातन्त्र्यात् तावत्सृष्टः संकोच पुरःसर इदं भागः (जीवभागः) वहीं ४ । १ । २ । अभिनवगुप्त भाष्य, पृ० २५२ ।

४—स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान् मतः । वहीं ४ । १ । ३ ।

५—स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युज्ञान क्रिया च या । माया तृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः । वहीं ४ । १ । ४ ।

६—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३४६ ।

७—प्रो० उमाशंकर—सर्वदर्शन, पृ० ३५० । ८—वहीं „ पृ० ३४६ ।

त्रैतवाद में जीव और ईश्वर का ही स्वरूप न होकर उससे विशिष्ट अस्तित्व रखते हैं। काश्मीर शैवदर्शन में वेदोक्त मुक्ति में दोष बतलाया गया है[1]। परन्तु त्रैतवाद वेदोक्त मुक्ति को ही मान्यता देता है।

२०–क्रमिक दार्शनिक प्रतिक्रियाएं और त्रैतवाद

जिस प्रकार मध्यकाल में धर्म के नाम पर निर्बाध हिंसा होने लगी थी। स्वार्थी पण्डितों ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का उद्घोष करके वेदों में भी हिंसा को विहित बतलाया। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये पशुबलि और नरबलियां भी दी जाने लगीं। धर्म के नाम पर इन क्रूरकर्मों के प्रतिक्रियास्वरूप जैन और बौद्ध जैसे अहिंसावादी सम्प्रदाय पैदा हुए। इन्होंने ऐसे वेदों को ही मानने से इन्कार कर दिया जिनमें हिंसा को विहित बतलाया गया। और यदि ऐसे वेदों का रचियता इतना निर्दयी है तो ऐसे परमेश्वर को भी मानने से इन्कार कर दिया।

जब अहिंसा की भी अति हो गई तथा घोर नास्तिकता का प्रचार होने लगा तब भारतीय आत्मा तिलमिला उठी क्योंकि भारत मुख्य रूप से आस्तिक विचारों से ही अनुप्राणित चला आ रहा था। भारतीय प्राचीन साहित्य में भी आस्तिकता का ही प्राधान्य था तब इस नास्तिकता को कैसे सहन किया जा सकता था। इस नास्तिकता के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई और शंकराचार्य जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिक प्रादुर्भूत हुए जिन्होंने 'सब कुछ ब्रह्म है' यही नारा लगाया। आस्तिकता की किरणों की आशा लगाये हुए लोगों ने एक साथ इस दर्शन को अपना लिया। परन्तु यह दर्शन भी कल्पना पर अधिक आधारित रहा। संसार को खेलमात्र या मिथ्या बतलाना बुद्धि को ग्राह्य न हो सका। ब्रह्म ही सब कुछ है जीवात्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तो फिर हम भी कुछ नहीं है, इस प्रकार सोचे जाने पर अद्वैतवाद दर्शन के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हुई। और अद्वैतवाद के विरोध में वैष्णव दर्शन उत्पन्न हुए। श्रीरामानुज और मध्व आदि ने नई दिशा प्रदान की। वैष्णवदर्शन में भी अवतारवाद की अति हो गई जिनने मूर्तिपूजा का बहुत प्रचार कर दिया। श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत तथा माहेश्वर दर्शन में प्रत्यभिज्ञादि साम्प्रदायिक दर्शन भी ईश्वर, जीवात्मा और अचेतन तत्वों की सम्यक् वैज्ञानिक व्याख्या न कर सके।

इन सभी दर्शनों के प्रति पुनः एक क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया ने जन्म लिया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक तरफ तो नास्तिक दर्शनों की असारता को स्पष्ट किया दूसरी तरफ अद्वैतवाद को निःसार सिद्ध किया तथा अवतारवाद को भी दोषयुक्त तथा वेदविरुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया। धर्म के नाम पर जितने भी चमत्कार, हिंसा, आडम्बर और पाखण्ड चल रहे थे उन सबका प्रबल खण्डन करके वैज्ञानिक आधार पर त्रैतवाद दर्शन की नींव रखी और अपने दर्शन का आधार वेदों से लेकर जैमिनि ऋषि तक स्वीकार किया[2]। उन्होंने इस्लाम, ईसाई, चार्वाक, जैन, बौद्ध, शंकर, श्रीरामानुज, वल्लभ, शैव, आदि दर्शनों की न्यूनताओं को प्रबल तर्क और युक्तियों से सिद्ध करके सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ में त्रैतवाद की स्थापना की। इस दर्शन के संस्थापक महर्षि दयानन्द हैं। उन्होंने अन्य दर्शन से त्रैतवाद दर्शन की तुलना करके इस दर्शन की मौलिकता को संसार के सम्मुख रखा।

१—सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे। सृजत्येव पुनस्तेन न स्पृह मुक्तिरीदृशी॥ तन्त्रालोके ६।१५२।

२—महर्षिदयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ८१०।

(२१) त्रैतवाद का वैशिष्ट्य

(क) ईश्वर

त्रैतवाद में केवल ईश्वर नाम की एक ही शक्ति मानी गई है। वह स्वरूप से अद्वितीय है। उसके समान दूसरा नहीं। अन्य दर्शनों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, देवी, आदि विशिष्ट शक्तियों को आधार बना कर अपने सम्प्रदाय की नींव रखी गई। शैव और वैष्णव दर्शन इस बात के प्रमाण हैं परन्तु त्रैतवाद ने इन सबका समन्वय किया और कहा कि ये सभी नाम एक ही ईश्वर के वाचक हैं[1]।

इसी प्रकार सगुण और निर्गुण शब्दों को लेकर दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद चल रहा था। अद्वैतदर्शन में उपाधिरहित ब्रह्म को निर्गुण तथा उपाधिसहित ब्रह्म को सगुण माना गया। वैष्णव दर्शन में प्रायः सगुण का अर्थ सशरीर समझा गया। परन्तु त्रैतवाद में इन दोनों का समन्वय किया गया। ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार का स्वीकार किया गया साथ ही इन दोनों शब्दों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई। महर्षि दयानन्द ने कहा कि सगुण का अर्थ साकार करना तथा निर्गुण का अर्थ निराकार करना अनुचित है[2]। सगुण का अर्थ है गुण सहित और निर्गुण का अर्थ है गुण रहित। परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से युक्त होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण है[3]।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है परन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह नहीं कि वह सब कुछ कर सकता है। क्या ईश्वर स्वयं को सदा के लिए समाप्त कर सकता है? उत्तर होगा नहीं। तब वह सब कुछ करने वाला कैसे सिद्ध होगा। अतः सर्वशक्तिमान् का अर्थ वैष्णव दार्शनिकों की तरह शरीर आदि धारण करने की शक्तिवाला नहीं अपितु सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्यपाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता[4]। यही अर्थ उचित है। त्रैतवाद में ईश्वर को केवल निमित्त कारण माना जाता है। न उसे उपादान कारण माना जाता है और न अभिन्न निमित्तोपादान कारण[5]। त्रैतवाद में ईश्वर का स्वरूप निराकार ही है। वह अवतार कभी नहीं लेता। अन्य दर्शनों में भगवान् मनुष्य आदि बन सकता है तथा मनुष्य भगवान् बन सकता है। परन्तु त्रैतवाद की मान्यता है कि ईश्वर कभी भी मनुष्य नहीं बन सकता और मनुष्य कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता[6]।

त्रैतवाद में ईश्वर को एकदेशी नहीं सर्वव्यापक माना जाता है। वह सभी सूक्ष्म तत्वों में, प्रकृति और जीवात्मा में

१—देखिये—महर्षि दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास। तथा देखिये—ऋ० १।१६४।४६।
२—सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६०।
३—वहीं पृ० २६०।
४—वहीं, पृ० २३२।
५—वहीं पृ० २४३।
६—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४४।

भी[1] व्यापक रूप से एक रस होकर विद्यमान है। त्रैतवाद में ईश्वर को सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्यपवित्र और सृष्टि का कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता माना जाता है[2]। ईश्वर के विषय में इस मान्यता का आधार वेदादि शास्त्र माने गये हैं[3]।

(ख) देवता और त्रैतवाद

अन्य बहुत से दार्शनिक सम्प्रदायों में विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है। उनकी संख्या भी कहीं अधिक कहीं कम मानी गई है। कहीं ३३ करोड़ तक देवता माने गये हैं। परन्तु त्रैतवाद में देवतावाद की स्पष्ट व्याख्या की गई है। त्रैतवाद में ३३ देवता स्वीकार किये गये हैं[4]। वे ३३ देवता हैं—आठ वसु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अकाश, चन्द्रमा, सूर्य, और नक्षत्र)। ११ रुद्र (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा)। १२ आदित्य (संवत्सर के १२ महीने)। इन्द्र, बिजली और यज्ञ[5]। इन सब में जीवात्मा को छोड़कर अन्य सभी अचेतन तत्व हैं। इनकी चेतन की तरह पूजा कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इनमें पूजा की ग्रहणशक्ति नहीं है। चेतन तत्व ही पूजनीय है। इन सबका स्वामी परमात्मा ही उपास्य देव है[6]।

(ग) जीवात्मा

अन्य दर्शनों में कहीं जीवात्मा भौतिक, कहीं शरीर परिमाणमात्र, कहीं व्यापक, कहीं ईश्वर का अंश, कही ब्रह्म का ही रूप माना गया है परन्तु त्रैतवाद में उसे परिच्छिन्न, अणु, चेतन, ब्रह्म और प्रकृति से भिन्न, अल्पज्ञ, व्याप्य, शरीर से भिन्न, अजन्मा, अनादि, अमर, अजर और अनेक स्वीकार किया गया है[7]। जीवात्मा का अविद्या से प्रकृति में बन्धन होता है[8]। और विद्या, विवेक से मोक्ष होता है[9]। मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म में लय नहीं होता। जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर स्वकर्मानुसार अन्य शरीरों में मृत्यु के उपरान्त आता जाता रहता है। त्रैतवाद में जीवात्माएँ स्वरूप से एक जैसे हैं परन्तु भिन्न-भिन्न हैं। त्रैतवाद में जीवात्माओं को कर्मानुसार इतनी अवस्थाओं में माना जा सकता है :—

१—मुक्तात्मा परन्तु नित्यमुक्त नहीं।
२—कर्म और भोग योनियों में जैसे मनुष्ययोनि।

१—वहीं सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ८१३।
२—देखिये—आर्यसमाज के दस नियमों में द्वितीय नियम।
३—देखिये चमूपति—वैदिक सिद्धान्त—पृ० २९-३४। तथा स्वामी वेदानन्त—वैदिक धर्म, पृ० १७-४१।
४—त्रयस्त्रिंशता। यजु० १४।३१।
५—सत्यार्थप्रकाश पृ० २२७।
६—वहीं
७—देखिये—चमूपति—वैदिक सिद्धान्त, पृ० ९-२०।
८—तस्य हेतुरविद्या। योग० २।२४। तथा तद्योगोऽप्यविवेकान्नसमानत्वम्। सांख्य १।२०।
९—नियतकारणात् तदुच्छित्ति र्ध्वान्तवत्। वहीं १।२१।

३—केवल भोग योनियों में जैसे पशु पक्षी, कीट, पतंगादि।

जीवात्मा स्वरूप से आनन्दमय नहीं। वह ईश्वर के आनन्द से आनन्दवाला होता है। यह कर्मकर्ता भी है और सुखदुख रूप फलों का भोक्ता भी है। त्रैतवाद जीवात्माओं की भूतप्रेतादि कल्पित योनियाँ नहीं मानता[1]। उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में जीवात्मा रहता है। ईश्वर और जीवात्मा के विषय में त्रैतवाद की मान्यता के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपना एक अस्तित्व स्वीकार करता है और ब्रह्म को अपने से बड़ी शक्ति मानकर उसके दण्डों से भयभीत होकर बुराई से बचता है। कुछ अन्य दर्शनों की यह मान्यता कि ईश्वर ही खेल मात्र से पाप-पुण्य करता है इसे त्रैतवाद नहीं मानता। त्रैतवाद की दृष्टि में ईश्वर कदापि पाप, पुण्य के चक्कर में नहीं आता। अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा ही पाप-पुण्य के चक्करों में फंसता है यही मान्यता बुद्धिग्राह्य तथा तर्कसम्मत है।

(घ) प्रकृति

अन्य दर्शनों में प्रकृति को अनिर्वचनीय फिर भी त्रिगुणात्मक (जैसे शांकर दर्शन में)। कहीं ईश्वर का अवभासित रूप (जैसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में) माना जाता है परन्तु त्रैतवाद में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति मानी गई है। अर्थात् जब सत्व, रज, और तम के परमाणु प्रलयावस्था में साम्यावस्था में रहते हैं वहीं प्रकृति है, उसे ही मूल उपादान, अव्यक्त, प्रधान या माया कहते हैं। यह मूल उपादान नित्य और अनादि है। यही अचेतन जगत् का उपादान कारण है। परन्तु चेतन ईश्वर के बिना यह जगद्रचना में प्रवृत नहीं हो सकती इसका प्रेरक ईश्वर है।

२२– सृष्टि

ईश्वर की प्रेरणा से यह प्रकृति साम्यावस्था से जब विषमावस्था में आ जाती है तब अपने स्वरूपवाली सृष्टि बना देती है। यह सृष्टि प्रलय के बाद यथापूर्व बनती चली आ रही है[2] तथा प्रवाह से अनादि है[3]। यह सृष्टि सप्रयोजन है[4]। इसका निर्माण जीवात्माओं के लिए होता हैं। इसी सृष्टि से ईश्वरत्व, उसकी शक्ति तथा उसकी सता का ज्ञान जीवात्माओं को होता है। जीवात्मा इसी सृष्टि को देखकर यह मानने के लिए विवश होता है कि यह जड़ जगत् उपादान कारण से स्वयं नहीं बना अपितु इसका कोई निमित्तकारण है जो चेतन अर्वोपरि है। वही ईश्वर है।

सम्पूर्ण अचेतन सृष्टि बनने के बाद जीवात्माओं का प्रादुभाव होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में जीवात्माओं का प्रादुर्भाव माता पिता के बिना अमैथुनी सृष्टि के रूप में होता है। उन्हें त्रैतवाद में युवा शरीर में ही प्रादुर्भूत हुआ

१—देखिये सत्यार्थ प्रकाश—द्वितीय समुल्लास, पृ० ४० जम्मू, प्रथम संस्करण।
तथा देखिये—मेरी पुस्तक-भूत और प्रेत-प्रकाशक क्रान्तिप्रेस।

२—यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० १०। १९०। ३।   ३—सत्यार्थप्रकाश, पृ० ८१३।

४—सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त, गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना—और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

माना जाता है। क्योंकि प्रलयावस्था में प्रत्येक जीव अपनी योनि के संस्कार लेकर विद्यमान रहता है। उनके कर्मानुसार ही नई सृष्टि में उन्हें जन्म मिलता है। सृष्टि के आदि में विभिन्न जन्मों के भेद का यही कारण है।

(च) प्रलय

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं, अतः ये किसी भी अवस्था में अपने किसी उपादान कारण में लीन नहीं होते। इन तीनों का कोई उपादान करण नहीं है। प्रलयावस्था में यह कार्य जगत् अपने उपादान कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। उस समय प्रकृति के परमाणु तथा जीवात्माएँ अनन्त ब्रह्म में सोये हुए से रहते हैं[२]।

(छ) बन्ध और मोक्ष

कतिपय दर्शनों में (जैसे शंकर दर्शन में) ब्रह्म का ही बन्ध और मोक्ष माना जाता है। परन्तु त्रैतवाद में ईश्वर का सर्वज्ञता के कारण बन्ध और मोक्ष नहीं होता। जीवात्मा क्योंकि अल्पज्ञ है अतः इसी का अविद्या के कारण बन्ध होता है। इस अविद्या के कारण ही क्रमशः अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये क्लेश उत्पन्न होते हैं।

मोक्ष में जीवात्मा ज्ञान के द्वारा दुःखों से छूट जाता है तथा ब्रह्म में सर्वत्र अव्याहतगति से आ और जा सकता है[३]। त्रैतवाद में विदेह मुक्ति मानी जाती है[४]। मोक्ष में जीव नित्य मुक्त नहीं होता वह निश्चित् समय के बाद पुनः लौटकर आता है। क्योंकि सान्त कर्मों का फल सान्त ही होना चाहिए, अनन्त नहीं[५]।

(ज) जन्म और मृत्यु

त्रैतवाद में जन्म से तात्पर्य है किसी वस्तु का अपने उपादान कारण से प्रादुर्भूत होना[६]। तथा मृत्यु या विनाश से तात्पर्य है अपने उपादान कारण में लीन हो जाना[७]।

(झ) कर्मवाद

कतिपय दर्शनों में कर्म की उतनी सम्यक व्याख्या नहीं हो सकी है जितनी की त्रैतवाद में। अद्वैतवाद में तो

१—वहीं, पृ० २९२।

२—प्रसुप्तमिव सर्वतः। मनु० १।५।

३—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१२ तथा ब्रह्म लोके महीयते। कठ० १।२।१५।

४—प्रश्न—मुक्तजीव का स्थूलशरीर होता है वा नहीं ? उत्तर—नहीं रहता। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१२।

५—वहीं, पृ० ३१७-३१८ तथा देखिये :—ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक० ३।२।६।

६—जनिप्रादुर्भाव (दि० आ०)

७—नाशः कारणलयः। सांख्य १।८६।

शुभाशुभ कर्मों का कर्ता ब्रह्म ही माना जाता है। भारतीय दर्शनों में विशेषकर शैव और वैष्णव दर्शनों में पापों का नाश भी माना जाता है, परन्तु त्रैतवाद में ऐसा नहीं माना जाता। त्रैतवाद की मान्यता है कि कर्म जीवात्मा करता है और कर्म करने में वह स्वतन्त्र है परन्तु फल ईश्वर देता है[1]। पापकर्म भोगकर ही समाप्त होते हैं। अच्छे कर्मों का फल अच्छा ही मिलता है और बुरे कर्मों का फल बुरा ही मिलता है। कर्मफल के रूप में जाति, आयु और भोगों की प्राप्ति होती है[2]।

(ञ) प्रमाण

त्रैतवाद में गणना आठ प्रमाणों की गई है परन्तु मूलतः चार प्रमाण ही माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ऐतिह्य अनुमान में तथा अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव शब्द में अन्तर्भूत मान लिये गये हैं[3]।

इस प्रकार त्रैतवाद अपने स्वरूप से एक विशेष वैशिष्ट्य लेकर अवस्थित है।

२३—उपसंहार

आस्तिक परम्परा में दार्शनिक साहित्य के आधार ग्रन्थों में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, गीता, और षड्दर्शन आदि ग्रन्थ चर्चा के विषय रहे हैं। भारतीय दार्शनिक मूलग्रन्थ तो एक जैसे ही हैं, परन्तु उन्हीं ग्रन्थों पर विभिन्न दृष्टिकोण के भाष्यों के आधार पर यदि, शंकर, श्रीरामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्यों के दर्शनों के अलग अलग भवन खड़े हो सकते हैं तो इन्हीं आधारग्रन्थों के भाष्यों के आधार पर त्रैतवाद के उद्भावक आचार्य महर्षि दयानन्द के दर्शन का भवन क्यों नहीं खड़ा हो सकता ?

'प्रस्थानत्रयी' शब्द दार्शनिक क्षेत्र में उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन के लिए रूढ़ हो गया है। प्रस्थान का अर्थ है जीवन की यात्रा में प्रस्थान, किसी उद्देश्य के लिए चल पड़ना, निरुद्देश्य न भटकते रहना। इस प्रकार के जीवन की दिशा का निर्देश करने वाले ये तीनों ग्रन्थ हैं[4]। यद्यपि दार्शनिक विचारधारा को इन तीनों ग्रन्थों में ही बांधना उचित नहीं है तथापि ये तीनों ग्रन्थ लगभग सभी भारतीय आस्तिक सम्प्रदायों के आधार ग्रन्थ रहे हैं। यद्यपि त्रैतदर्शन अपने विचारों की अविच्छिन्न परम्परा वेदों से लेकर षड्दर्शनों तक मानता है और उसने प्रस्थानत्रयी तक ही दार्शनिक विचारों की सीमा स्वीकार नहीं की, फिर भी उसने प्रस्थानत्रयी की उपेक्षा नहीं की। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की तरह त्रैतवादियों ने भी इन तीन ग्रन्थों पर मौलिक भाष्य किये हैं। अतः प्रस्थानत्रयी भाष्य हेतु भी त्रैतवाद दर्शन की मान्यता को परिपुष्टि करता है।

किसी भी दार्शनिक मत की स्थापना के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होती है :—

१— फलमत उपमतेः। वेदान्त० ३।२।३८।

२—तस्य विपाकः जाति आयुर्भोगः। योग० २।१३।

३—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ७०—७३।

४—प्रो० सत्यव्रत—गीता भाष्य, पृ० १७।

१—उस दार्शनिक विचारधारा का प्रवर्तक कोई विशेष आचार्य।

२—उस आचार्य की दार्शनिक मान्यता की एक अविच्छिन्न परम्परा।

३—कतिपय दार्शनिक आधारग्रन्थों का स्वदर्शनानुमोदित भाष्य।

४—उस दर्शन को मानने वालों का एक विशिष्ट समुदाय।

ये चारों बातें त्रैतदर्शन में भी पूर्णरूप से सही घटती है देखिये :—

१—त्रैतवाद के प्रवर्तक आचार्य महर्षि दयानन्द हैं[1]।

२—महर्षि दयानन्द से लेकर अद्यावधि त्रैतवाद की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है[2]।

३ –वेद, ब्राह्मण, आरण्यक. उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, छः दर्शन आदि दार्शनिक ग्रन्थों पर त्रैतवाद समर्थक विशाल भाष्य विद्वानों द्वारा हो चुका है[3]।

४—आर्यसमाज नामक संस्था जिसके अनुयाई बहु संख्या में भारत तथा भारतेतर देशों में विद्यमान है। वे इसी दर्शन को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं।

त्रैतवाद भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करता है तथा विभिन्न साम्प्रदायिक दर्शनों के किसी न किसी तत्व का प्रतिनिधित्व भी करता है। साथ ही दर्शनों से इसका एक विशिष्ट, मौलिक, व्यक्तित्व भी है। यह दर्शन कल्पना, मिथ्याप्रतीति, तथा असम्भाव्यता के आधार पर नहीं खड़ा। अपितु वास्तविकता, बुद्धिग्राह्यता, सत्य, सम्भाव्यता और वैज्ञानिक यथार्थ आधार पर प्रतिष्ठित है।

'भारतीय दर्शन' के नाम से दर्शनग्रन्थ लिखने वाले विद्वानों ने लगभग सौ वर्ष से त्रैतदर्शन की उपेक्षा क्योंकी? जैसे अन्य दार्शनिक मतों को भारतीयदर्शन में सम्मिलित करके विद्वानों ने उनका परिचय अपने ग्रन्थों में दिया है वैसे ही 'त्रैतवाद' के नाम से इस दर्शन का परिचय उन्होंने क्यों नहीं दिया? यह एक आश्चर्य का विषय है[4]। निःसन्देह त्रैतवाद आज प्रामाणिक रूप से मौलिक मान्यता को लेकर प्रतिष्ठित है।

१—देखिये—डा० वेदगुप्त द्वारा प्रस्तुत दयानन्द दर्शन शोधप्रबन्ध।

२—देखिये—पीछे पंचमाध्याय, पृ०—

३—देखिये—डा० भवानीलाल—भारतीय द्वारा प्रस्तुत शोधप्रबन्ध आर्य समाज का संस्कृत भाषा और साहित्य को योगदान।

४—हाँ वर्तमान काल में डा० सुधीर कुमार गुप्त ने भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय नामक दार्शनिक ग्रन्थ में दयानन्द सरस्वती का दर्शन शीर्षक से त्रैतवाद दर्शन को अपने ग्रन्थ में स्थान देकर सराहनीय प्रयास किया है। (लेखक)
देखिये—डा० सुधीर कुमार गुप्त, भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय, परिच्छेद १०, पृ० १४४।
प्रकाशक—भारतीय मन्दिर अनुसन्धान शाला, जयपुर-४ प्रथम संस्करण १९६९ ई०।

●

शोध ग्रन्थ में प्रयुक्त पुस्तकों की सूची

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
	वैदिक साहित्य		
१-	अथर्ववेदसंहिता	भा० महर्षि दयान्द	सार्वदेशिक सभा, नई दिल्ली, १ शताब्दी संस्करण १९७५ ई०।
२-	अथर्ववेदसंहिता	भा० सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल औंध, सितारा, प्रथमसंस्करण, १९३१ ई०।
३-	अथर्ववेदसंहिता	भा० क्षेमकरणदास त्रिवेदी	सार्वदेशिक सभा, नई दिल्ली—१, २०३० वि०।
४-	उपनिषद् प्रकाश	भा० स्वा० दर्शनानन्द	सत्यप्रकाश मार्ग मथुरा, २०२६ वि०।
५-	उपनिषद् समुच्चय	भा० भीमसेन शर्मा	चौधरी एण्ड सन्ज, बनारस, प्रथमसंस्करण, १९३३ ई०।
६-	ऋग्वेद संहिता	भा० महर्षि दयानन्द	सार्वदेशिक सभा, नई दिल्ली—१, प्रथम संस्करण, १९७२ ई०।
७-	ऋग्वेद संहिता	भा० सायणाचार्य	समर्थ भारतप्रेस, पूना—२, १९३३ ई०।
८-	ऋग्वेद संहिता	भा० सायणाचार्य	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना—२, १९३३ ई०।
९-	ऋग्वेद संहिता	भा० श्री जयदेव	आर्य साहित्य मन्दिर, लिमिटेड, अजमेर, प्रथम संस्करण १९३५ ई०।
१०-	ऋग्वेद संहिता	भा श्री तुलसीराम	सार्वदेशिक सभा, संस्करण १९७५।
११-	ऋग्वेद संहिता	भा० म० दयानन्द	आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, प्रथम संस्करण १९९१ वि०।
१२-	ऋग्वेद संहिता	भा० म० दयानन्द	अजमेर नगर वैदिक यन्त्रालय, १९९१ ई०।
१३-	एकादशोपनिषद् संग्रह	भा० स्वा० सत्यानन्द	अमृतधारा भवन, लाहौर, द्वितीय संस्करण १९९५ वि०।
१४-	एकादशोपनिषद्	भा० स्वा० सत्यानन्द	विद्याप्रकाश प्रेस लाहौर, प्रथम संस्करण, १९८७ वि०।
१५-	एकादशोपनिषद्	भा० प्रो० सत्यव्रत	विद्याविहार ४ बल्बीर एवेन्यू, देहरादून।
१६-	एकादशोपनिषद्	भा० अमरदास	मोतीलाल बनारसीदास, बाराणसी—१, छठा संस्करण, १९६६ ई०।

क्रमकां	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१७-	एतरेयोपनिषद्	भा० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक सभा, नई दिल्ली—१, १९७१ ई० ।
१८-	कठोपनिषद्	भा० भीमसेन शर्मा	देशोपकारक यन्त्रालय, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९९० वि० ।
१९-	कठोपनिषद्	भा० शंकराचार्य	१७६, विवेकानन्द रोड, कलकत्ता-६, १९९२, वि०
२०-	कठोपनिषद्	भा० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक सभा, संस्करण दसवां, २०३१ वि० ।
२१-	कठोपनिषद्	भा० आर्यमुनि	लाहौर संस्करण, १९०६ ई० ।
२२-	कठोपनिषद्	भा० भीमसेन शर्मा	देशोपकारक यन्त्रालय इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९९० वि० ।
२३-	केनोपनिषद्	भा० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक सभा, सातवां संस्करण, २०२८ वि० ।
२४-	छान्दोग्योपनिषद्	भा० पं० शिव शंकर	वैदिक यन्त्रालय अजमेर, प्रथम संस्करण, १९६८ वि० ।
२५-	छान्दोग्योपनिषद्	भा० आर्यमुनि	बाम्बे यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण १९१० ई० ।
२६-	छान्दोग्योपनिषद्	भा० पं० शिव शंकर	वैदिक यन्त्रालय अजमेर, तृतीय संस्करण १९९३ वि० ।
२७-	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण	—	विद्या प्रकाश प्रेस, वंगड़ मोहल्ला लाहौर, प्रथम संस्करण १९२१ ई० ।
२८-	जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण	—	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, प्रथम संस्करण १९६६ ई० ।
२९-	ताण्ड्य ब्राह्मण	—	जयकृष्णदास चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस, छठा संस्करण १९३५ ई० ।
३०-	तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृ० य०)	—	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १८९८ ई० ।
३१-	तैत्तिरीयारण्यक	भा० सायणाचार्य	वापटिष्ट मिशन यन्त्र, कलकत्ता १८७१ ई० ।
३२-	देवताध्याय ब्राह्मण	—	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, प्रथम संस्करण १९६५ ई० ।
३३-	वृहदारण्यकोपनिषद्	भा० पं० शिवशंकर	वैदिक यन्त्रालय अजमेर, प्रथम संस्करण १९६८ वि० ।
३४-	वृहदारण्यकोपनिषद्	भा० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक सभा, प्रथम संस्करण २००० वि० ।
३५-	वृहदारण्यकोपनिषद्	भा० शंकराचार्य	वाणी विलास संस्कृत पुस्तकालय कचौड़ी गली, काशी, प्रथम संस्करण २०११ वि०
३६-	मुण्डकोपनिषद्	भा० भीमसेन शर्मा	सरस्वती यन्त्रालय इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १८९१ ई० ।
३७-	मुण्डकोपनिषद्	भा० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक सभा पांचवां संस्करण १९७० ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
३८-	मुण्डकोपनिषद्	भा० सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्लापारड़ी, सूरत, प्रथम संस्करण १९५२ ई० ।
३९-	यजुर्वेद संहिता	भा० म० दयानन्द	सार्वदेशिक सभा, आर्य समाज स्थापना शताब्दी संस्करण ।
४०-	सामविधान ब्राह्मण	भा० सायणाचार्य	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति, प्रथम संस्करण १९६५ ई० ।
४१-	शतपथ ब्राह्मण	बेबर, बर्लिन संस्करण	बेबर, बर्लिन संस्करण १८५५ वि० ।
४२-	श्वेताश्वतरोपनिषद्	भा० तुलसीराम	मेरठ संस्करण १९१३ ई० ।

व्याकरण तथा कोषग्रन्थ

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
४३-	आप्टे संस्कृत हिन्दी कोष	—	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९६६ ई० ।
४४-	निरुक्तम्	ले० यास्काचार्य	क्षेमराज कृष्णदास सेठ बम्बई १९६६ वि० ।
४५-	निरुक्तम्	भा० सत्यार्थ सामश्रमी	बापटिष्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता १८८६ ई० ।
४६-	निरुक्तम्	भा० भगवद्दत	वैदिक यन्त्रालय अजमेर, प्रथम संस्करण, २०२१ वि० ।
४७-	वाचस्पत्य (भाग ५)	—	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१ १९६१ ई० ।
४८-	सिद्धान्त कौमुदी	ले० भट्टोजी दीक्षित	स्टीम मुद्रण यन्त्रालय, बम्बई ।
४९-	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	—	रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण १९६७ ई० ।

इतिहास, पुराण, स्मृतिग्रन्थ

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
५०-	अग्निपुराण	—	मनसुखराय मोर, ५ क्लाईव रो, कलकत्ता-१, प्रथम संस्करण १९५७ ई० ।
५१-	कूर्मपुराण	—	श्री वेंकटेश्वर स्टीम यन्त्रालय, मुम्बई १९६२ वि० ।
५२-	गरुड़ पुराण	—	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी-१, प्रथम संस्करण २०२१ वि० ।
५३-	गीता	भा० आर्यमुनि	पंजाबी यन्त्रालय लाहौर द्वितीय संस्करण १९०६ ई० ।
५४-	गीता	भा० शंकराचार्य	कलकत्ता सरस्वती यन्त्र १८७९ ई० ।
५५-	गीता	भा० यामुनाचार्य	सुदर्शनप्रेस कान्जीवरम्, १९०१ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
५६-	गीता	भा० मधुसूदन	चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १६ ५८ वि० ।
५७-	गीता	भा० श्रीरामानुज	गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण २००८ वि० ।
५८-	गीता	भा० सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल औंध, सितारा, तृतीय संस्करण २००७ वि० ।
५६-	गीता	भा० प्रो० सत्यव्रत	विद्या विहार ४, बल्बीर एवेन्यू देहरादून १६६५ ई० ।
६०-	नारदीय पुराण	—	हस्तलिखित प्रति श्री रणवीर सिंह अनुसन्धान पुस्तकालय जम्मू, पुस्तक नं० ३५६४ ।
६१-	पद्मपुराण	—	पूना आनन्दाश्रम मुद्रालय १८६३ ई० ।
६२-	ब्रह्मपुराण	—	हस्तलिखित प्रति, रणवीर संस्कृतानुसंधान पुस्तकालय, जम्मू ।
६३-	ब्रह्मवैवर्त पुराण	—	राधाकृष्णमोर, ५ क्लाईव रो, कलकत्ता, प्रथम संस्करण १६५५ ई० ।
६४-	भागवत् पुराण	—	गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण २०११ वि० ।
६५-	महाभारत	ले० व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण २०४५ वि० ।
६६-	मत्स्य पुराण	—	नन्दलाल मोर, ५, क्लाईव रो, कलकत्ता, प्रथम संस्करण १६५४ ई० ।
६७-	मनुस्मृति	भा० कुल्लूक भट्ट	गुजराती मुद्रणालय बम्बई, १६१३ ई० ।
६८-	मनुस्मृति	भा० तुलसीराम	जवाहर बुक डिपो, गुजरी बाजार, मेरठ, १६५४ ई० ।
६६-	मनुस्मृति	भा० हरगोविन्द शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १६६५ ई० ।
७०-	मनुस्मृति	भा० तुलसीराम	मेरठ संस्करण १६२६ ई० ।
७१-	मनुस्मृति	भा० आर्यमुनि	बाम्बे यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण, १६१३ ई० ।
७२-	मनुस्मृति	भा० स्वामी दर्शनानन्द	पुस्तक मन्दिर मथुरा, तृतीय संस्करण २०१६ वि० ।
७३-	मार्कण्डेय पुराण	—	रणवीर सिंह अनुसंधान पुस्तकालय, जम्मू में सुरक्षित १८६७ ई० ।
७४-	लिंगपुराण	—	संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली, प्रथम संस्करण १६६६ ई० ।
७५-	वायुपुराण	—	५ क्लाईव रो, कलकत्ता-१, प्रथम संस्करण १६५६ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
७६-	वामन पुराण	—	इदं पुस्तकं श्री राजीव शर्मणा स्वीये जगद्धितेच्छुनाम्निमुद्रालये मुदितम् । शकाब्दा १८०८ ।
७७-	विष्णुपुराण	—	गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण, २००६ वि० ।
७८-	स्कन्धपुराण	—	मनमुख राय मोर ५, क्लाईव रो, कलकत्ता-१, प्रथम संस्करण १६५६ ई० ।
	षड्दर्शन		
७९-	न्याय दर्शन	भा० वात्स्यायन	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना १६२२ ई० ।
८०-	न्याय दर्शन	भा० आर्यमुनि	बाम्बे यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण, १६०६ ई० ।
८१-	न्याय दर्शन	भा० स्वा० दर्शनानन्द	पुस्तक मन्दिर मथुरा ।
८२-	योग दर्शन	भा० व्यासदेव	श्रीमनलाल लक्ष्मीनिवास चण्डक, कचहरी रोड, अजमेर, द्वितीय संस्करण, १६६१ ई० ।
८३-	योगदर्शन	भा० वाचस्पति मिश्र	भारतीय प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण, १६७५ ई० ।
८४-	योग दर्शन	भा० भोजदेव	अजमेर संस्करण १६६१ ई० ।
८५-	योग दर्शन	भा० आर्यमुनि	हरियाणा साहित्य संस्थान गुरूकुल झज्जर, रोहतक, २०२६ वि० ।
८६-	योग दर्शन	तश्व वैशारदी टीका	भारतीय प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण १६७५ ई० ।
८७-	योग दर्शन	ले० पतंजलि	भारतीय विद्या प्रकाशन २२।२६ । पंचगंगाघाट, वाराणसी, १६६३ ई० ।
८८-	योग दर्शन	भा० तुलसीराम	स्वामी यन्त्रालय मेरठ, पांचवा संस्करण ।
८९-	वेदान्त दर्शन	ले० व्यास	प्रेमपुस्तक भंडार बरेली, प्रथम संस्करण १६७५ ई० ।
९०-	वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र)	भा० शंकराचार्य	गोविन्दमठ टेढ़ी नीम, वाराणसी, २०२२ वि० ।
९१-	वेदान्त दर्शन	भा० श्रीरामानुज	मेडिकल हाल मुद्रालय काशी १८८६ ई० ।
९२-	वेदान्त दर्शन	भा० उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद, प्रथम संस्करण १६६२ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
९३-	वेदान्त दर्शन	भा० तुलसीराम	मेरठ संस्करण १९२६ ई० ।
९४-	वेदान्त दर्शन	भा० आर्यमुनि	लाहौर संस्करण
९५-	वैशेषिक दर्शन	भा० नारायण मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१, प्रथम संस्करण १९६६ ई० ।
९६-	वैशेषिक दर्शन	भा० शंकर मिश्र	कलकत्ता सरस्वतीयन्त्र, १८८९ ई० ।
९७-	वैशेषिक दर्शन	भा० प्रशस्त देव	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिर वाराणसी-१, १९६६ ई० ।
९८-	वैशेषिक दर्शन	भा० जय नारायण	गुजराती प्रेस बम्बई, १९६६ वि० ।
९९-	वैशेषिक दर्शन	भा० आर्यमुनि	एंगलो संस्कृत यन्त्रालय लाहौर, प्रथम संस्करण, १९०७ ई० ।
१००-	वैशेषिक दर्शन	स्वा० दर्शनानन्द	देहाती पुस्तक भंडार दिल्ली ६ ।
१०१-	सांख्य दर्शन	भा० तुलसीराम	स्वामी यन्त्रालय मेरठ, १९२६ ई० ।
१०२-	सांख्य दर्शन	भा० आर्यमुनि	हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, रोहतक प्रथम संस्करण २०३३ वि० ।
१०३-	सांख्य दर्शन	भा० उदयवीर शास्त्री	विज्ञानानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण २०१७ वि० ।

अन्य दार्शनिक साहित्य

क्रमांक	पुस्तक नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१०४-	अद्वैतवाद	ले० गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस इलाहाबाद तृतीय संस्करण १९५७ ई० ।
१०५-	आर्य समाज क्या है ?	ले० नारायण स्वामी	आर्य पुस्तकालय, अनारकाली लाहौर, द्वितीय संस्करण १९२७ ई० ।
१०६-	आर्य समाज का संस्कृत भाषा और साहित्य को योगदान	ले० डा० भवानीलाल	श्रीराम लाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर प्रथम संस्करण, २०२५ वि० ।
१०७-	ईश्वरसिद्धि	ले० डा० श्रीराम	वैदिक साहित्य प्रकाशन कासगंज, द्वितीय संस्करण १९७१ ई०
१०८-	उपनिषद्भूमिका	ले० डा० राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्ज काश्मीरी गेट, दिल्ली द्वितीय संस्करण १९७१ ई० ।
१०९-	ऋक्सूक्त वैजयन्ती	ले० प्रो० हरिदामोदर	वैदिक संशोधन मण्डल ।
११०-	एक ईश्वर की पूजा	ले० सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल औंध सितारा द्वितीय संस्करण १९१९ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१११-	काश्मीर शैवदर्शन	ले० वलजिन्नाथ	रणवीर केन्द्रीय विद्यालय जम्मू।
११२-	कुलियात् आर्य मुसाफिर	ले० पं० लेखराम	आर्य प्रतिनिध सभा पंजाब गुरुदत्त भवन, जालन्धर, प्रथम संस्करण, १९६३ ई०।
११३-	गीता विवेचन	ले० डा० श्रीराम	वैदिक साहित्य प्रकाशन कास गंज, दितीय संस्करण, १९६९ ई०।
११४-	गीता योग प्रदीप	ले० आर्यमुनि	पंजाबी यन्त्रालय लाहौर, द्वितीय संस्करण, १९०६ ई०।
११५-	गुरुदत्त लेखावली	—	आर्यपुस्तकालय लाहौर, प्रथम संस्करण, १९१८ ई०।
११६-	गौडपाद कारिका	ले० गौडपाद	चौखम्बा वाराणसी, १९१० ई०।
११७-	जीवात्मा	ले० गंगाप्रसाद	कला प्रेस इलाहाबाद चतुर्थ संस्करण १९६४ ई०।
११८-	तन्त्रालोक	ले० अभिनवगुप्त	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर १९१८-३८ ई०।
११९-	दयानन्द दर्शन	ले० वेदप्रकाश गुप्त	सुभाष बाजार मेरठ, प्रथम संस्करण १९५७ ई०।
१२०-	दर्शन दिग्दर्शन	ले० राहुल साकृत्यायन	किताब महल इलाहाबाद, तृतीय संस्करण १९६१ ई०।
१२१-	दर्शानन्द ग्रन्थमाला	—	परोपकारिणी सभा अजमेर, प्रथम संस्करण १९२५ ई०।
१२२-	दार्शनिक आध्यात्म तत्व	ले० ब्रह्ममुनि	वेद अनुसंधान सदन ज्वालापुर सहारनपुर, प्रथम संस्करण १९५७ ई०।
१२३-	द्वैतवेदान्त का तात्विक अनुशीलन	ले० डा० कृष्णकान्त	विद्या प्रकाश मन्दिर, दिल्ली-६।
१२४-	प्रत्यभिज्ञादर्शन	ले० उत्पलदेव	निर्णयसागर बम्बई, १९२९ ई०।
१२५-	बौद्ध दर्शन	ले० राहुल सांकृत्यायन	—
१२६-	भारतीय दर्शन	ले० उमेशमिश्र	हिन्दी समिति सूचना विभाग-उत्तर प्रदेश लखनऊ, द्वितीय संस्करण १९६४ ई०।
१२७-	भारतीय दर्शन	ले० बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर रवीन्द्रपुरी दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५ नवीन संस्करण १९७१ ई०।
१२८-	भारतीय दर्शन	,, ,,	छठा संस्करण १९६०।
१२९-	भारतीय दर्शन का इतिहास	ले० डा० नरेन्द्रदेव एवं डा० हरिदत्त	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ, द्वितीम संस्करण, १९७३ ई०।
१३०-	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	ले० एम० हिरियन्ना	राजकमल प्रकाशन फैज बाजार, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, १९६५ ई०।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१३१-	भारतीय दर्शन	ले० डा० राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६ प्रथम संस्करण १९६९ ई० ।
१३२-	भारतीय दर्शन का इतिहास	ले० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ए-२६।२ । विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर-४, प्रथम संस्करण १९७४ ई० ।
१३३-	भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय	ले० डा० सुधीर कुमार	भारती मन्दिर अनुसंधान शाला जयपुर-४ प्रथम संस्करण १९६६ ई० ।
१३४-	मुक्तिसोपान	ले० स्वा० श्रद्धानन्द	आर्य कुमार सभा दिल्ली प्रथम संस्करण १९५८ ई० ।
१३५-	मेरे अन्त समय का आश्रय	ले० भाई परमानन्द	भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण १९७१ ई० ।
१३६-	यजुर्वेद का स्वाध्याय	ले० सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, औंध सतारा, द्वितीय संस्करण, १९१९ ई० ।
१३७-	वेदान्तसार	ले० सदानन्द	साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९६४ ई० ।
१३८-	वेदतत्वप्रकाश	ले० पं० शिवशंकर	आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, द्वितीय संस्करण, १९११ ई० ।
१३९-	वेदों का यथार्थ स्वरूप	ले० धर्मदेव विद्या मार्तण्ड	जनज्ञान प्रकाशन, हरख्यान सिंह मार्ग, नई दिल्ली-५ २०३० वि० ।
१४०-	वेदसन्देश (भाग-१)	ले० विश्वबन्धु शास्त्री	द्वितीय संस्करण १९८३ वि० ।
१४१-	वैदिक साहित्य का इतिहास	ले० राजकिशोर	विनोद पुस्तक मन्दिर हास्पिटल रोड, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६४ ई० ।
१४२-	वैदिक गीता	ले० स्वामी आत्मानन्द	वैदिक साधनाश्रम यमुनानगर अम्बाला,
१४३-	वैदिक वांङ्मय का इतिहास	ले० भगवद्दत	प्रणव प्रकाशन पंजाबी बाग, नई दिल्ली ११०२६ । प्रथम संस्करण १९७४ ई० ।
१४४-	वैदिक धर्म	स्वामी वेदानन्द	गोविन्द राम हासानन्द, नई सड़क दिल्ली, १९६२ ई० ।
१४५-	वैदिक सिद्धान्त	ले० चमूपति	१५ हनुमान रोड, नई सड़क दिल्ली, १९६६ ई० ।
१४६-	वैदिक सम्पत्ति	ले० रघुनन्दन शर्मा	कच्छू कंसल मुम्बई, १९८९ वि० ।
१४७-	सत्यार्थ प्रकाश	ले० म० दयानन्द	आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट २ एफ, कमलानगर, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण २०२६ वि० ।
१४८-	सत्यार्थ प्रकाश	ले० म० दयानन्द	गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क, दिल्ली ६, प्रथम संस्करण १९६३ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१४९-	सत्यार्थ प्रकाश	ले० म० दयानन्द	सार्वदेशिक प्रेस, द्वितीय संस्करण २०११ वि० ।
१५०-	सर्वदर्शन संग्रह	ले० माधवाचार्य	सारसुधानिधि यन्त्र कलकत्ता, १७९३ शक सम्वत ।
१५१-	सर्वदर्शन संग्रह	ले० प्रो० उमाशंकर	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी-१, प्रथम संस्करण २०२१ शक सम्वत ।
१५२-	स्वाध्याय सन्देह	ले० स्व० वेदानन्दतीर्थ	वैदिक संस्थान गाजियावाद, चतुर्थ संस्करण २०२५ वि० (प्रकाशक)
१५३-	सांख्य संग्रहे	चौखम्बा संस्कृत सीरिज	आफिस बनारस १९१८ ई० ।
१५४-	सांख्य सिद्धान्त	ले० उदयवीर शास्त्री	वैदिक संस्थान गाजियावाद, २०१९ वि०
१५५-	सांख्य तत्वकौमुदी	ले० आद्याप्रसाद मिश्र	सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद, १९६२ ई० ।
१५६-	सांख्यसार	ले० विज्ञान भिक्षु	कलकत्त घोष यन्त्र १९०९ ई० ।
१५७-	शांकर भाष्यालोचन	ले० गंगाप्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस प्रयाग, प्रथम संस्करण १९४७ ई० ।
१५८-	हिन्दुत्व	ले० रामदास गौड	प्रथम संस्करण १९९५ वि० ।

पत्र-पत्रिकाएँ

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकार	प्रकाशक
१५९-	आर्योदय साप्ताहिक	—	आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब (स्वाध्याय अंक) २३ अगस्त, १९७४ ई० ।
१६०-	आर्यों का त्रैतवाद	—	सत्यान्वेषिणी सभा भोपाल, सितम्बर, १९६२ ई० ।
१६१-	विश्व ज्योति	—	विश्वेसरानन्द संस्थान, साधु आश्रम होशियारपुर, उपनिषद अंक (भाग २) जून जुलाई १९७३ ई० ।
१६२-	वेदवाणी	—	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर । अंक तीस, जनवरी १९६४ ई० ।
१६३-	वेदवाणी	—	अंक ६,१९५६ ई० ।
१६४-	वेदवाणी	—	अंक १०,१९६३ ई० ।
१६५-	वैदिक धर्म	—	स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम पारडी सूरत, अंक ४,१९५० ई० ।
१६६-	सार्वदेशिक साप्ताहिक	—	सार्वदेशिक सभा नई दिल्ली, अंक दिसम्बर, १९३७ ई० ।

क्रमांक	पुस्तक-नाम	लेखक या भाष्यकर	प्रकाशक	
अंग्रेज़ी की पुस्तकें				
167.	India what com it teach us ?		By F. Max muller (1892	
168.	A history of Indian Philosophy		By S.N. Dass Gupta	Combridge University Press. London Office Bentley House N. N. I.
169.	The Vedic Philosophy		By Harnarayana	Printed the tatva-vivechak Press, Bombay 1919
170.	Beauties of Vedic Dharma		By Babu Raj	The Arya Pratinidhi Sabha Punjab. 1st adition, 1905
171.	Indian Philosophy		By Dr. Radha Krishan	Re-printed Indian Edition 1951

